जिनपूजाधिकार-मीमांसा।
लेखक—जुगलकिशोर मुख़्तार।

"प्रकाशककी ओरसे विनामूल्य वितरित।"

नमो जिनाय।

जिनपूजाधिकार-मीमांसा।

लेखक-

बाबू जुगलकिशोर मुख़्तार, देवबन्द

जिला सहारनपुरनिवासी।

प्रकाशक-

सेठ नाथारंगजी गांधी, बम्बई।

श्रीवीरनि० संवत् २४३९

अप्रैल १९१३.

जो चाहता है अपना, कल्याण मित्र, करना ।
जगदेकबन्धु जिनकी, पूजा पवित्र करना ॥
दिल खोल करके उसको, करने दो कोइ भी हो ।
फलते हैं भाव सबके, कुल जाति कोइ भी हो ॥

—जैनहितैषी ।

श्री अकलंकाय नमः ।

जिन-पूजाऽधिकार-मीमांसा ।

उत्थानिका ।

जो मनुष्य जिस मतको मानता है–जिस धर्मका श्रद्धानी और अनुयायी है, वह उसी मत वा धर्मके पूज्य और उपास्य देवताओंकी पूजा और उपासना करता है। परन्तु आजकलके कुछ जैनियोंका ख्याल इस सिद्धान्तके विरुद्ध है। उनकी समझमें प्रत्येक जैनधर्मानुयायीको (जैनीको) जिनेंद्रदेवकी पूजा करनेका अधिकार नहीं है। उनकी कल्पनाके अनुसार बहुतसे लोग जिनेन्द्रदेवके पूजकोंकी श्रेणीमें अवस्थान नहीं पाते। चाहे वे लोग अन्यमतके देवी देवताओंकी पूजा और उपासना भले ही करें, पर जिनेन्द्रदेवकी पूजा और उपासनासे अपनेको कृतार्थ नहीं कर सकते।* शायद उनका ऐसा श्रद्धान हो कि ऐसे लोगोंके पूजन करनेसे महान् पापका बन्ध होता है और वह पाप शास्त्रोक्त नियमोंका उल्लघन करके संक्रामक रोगकी तरह अड़ोसियों-पड़ोसियों, मिलने जुलनेवालों और खासकर सजातियोंको पिचलता फिरता है। परन्तु यह केवल उनका भ्रम है और आज इसी भ्रमको दूर करने अर्थात् श्रीजिनेंद्र-देवके पूजनका किस किसको अधिकार है, इस विषयकी मीमांसा और विवेचना करनेके लिये यह निबन्ध लिखा जाता है।

---

* इसी प्रकारके विचारोंसे **खातौली**के दस्सा और **बीसा** जैनियोंके मुकद्दमेका जन्म हुआ और ऐसे ही प्रौढ विचारोंसे **सर्धना** जिला मेरठके जिन-मंदिरको करीब करीब तीनसालतक ताला लगा रहा ।

पूजन-सिद्धान्त ।

जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि यह आत्मा जो अनादि कर्ममलसे मलिन हो रहा है और विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है, वही उन्नति करते करते कर्ममलको दूर करके परमात्मा बन जाता है, आत्मासे भिन्न और पृथक् कोई एक ईश्वर या परमात्मा नहीं है। आत्माकी परम-विशुद्ध अवस्थाका नाम ही परमात्मा है—अरहंत, जिनेन्द्र, जिनदेव तीर्थंकर, सिद्ध, सार्व, सर्वज्ञ, वीतराग, परमेष्ठि, परमज्योति, शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार, आप्त, ईश्वर, परब्रह्म, इत्यादि उसी परमात्मा या परमात्मपदके नामान्तर हैं—या दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि परमात्मा आत्मीय अनन्तगुणोंका समुदाय है। उसके अनन्त गुणोंकी अपेक्षा उसके अनन्त नाम हैं। वह परमात्मा परम वीतरागी और शान्तस्वरूप है, उसको किसीसे राग या द्वेष नहीं है, किसीकी स्तुति, भक्ति और पूजासे वह प्रसन्न नहीं होता और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटु शब्दोंसे अप्रसन्न होता; धनिक श्रीमानों, विद्वानों और उच्च श्रेणी या वर्णके मनुष्योंको वह प्रेमकी दृष्टिसे नहीं देखता और न निर्धन कंगालों, मूर्खों और निम्नश्रेणीके मनुष्योंको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करता, न सम्यग्दृष्टि उसके कृपापात्र हैं और न मिथ्यादृष्टि उसके कोपभाजन, वह परमानंदमय और कृतकृत्य है, सांसारिक झगडोंसे उसका कोई प्रयोजन नहीं। इसलिये जैनियोंकी उपासना, भक्ति और पूजा, हिन्दू मुसलमान और ईसाइयोंकी तरह, परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नहीं होती। उसका एक दूसरा ही उद्देश्य है जिसके कारण वे ऐसा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और वह संक्षिप्तरूपसे यह है कि—

यह जीवात्मा स्वभावसे ही अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार है। परन्तु अनादि कर्म-मलसे मलिन होनेके कारण इसकी वे समस्त शक्तियां आच्छादित हैं—कर्मोंके पटलसे वेष्टित हैं और यह आत्मा संसारमें इतना लिप्त और मोह-जालमें इतना फँसा हुआ है कि उन शक्तियोंका विकाश होना तो दूर रहा, उनका स्मरणतक भी इसको नहीं होता। कर्मके किंचित् क्षयोपशमसे जो

कुछ थोड़ा बहुत ज्ञानादि लाभ होता है, यह जीव उतनेहीमें सन्तुष्ट होकर उसीको अपना स्वरूप समझने लगता है। इन्हीं संसारी जीवोंमेंसे जो जीव, अपनी आत्मनिधिकी सुधि पाकर धातुभेदीके सदृश प्रशस्त ध्यानाऽग्निके बलसे, इस समस्त कर्ममलको दूर कर देता है, उसमें आत्माकी वे सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतोभावसे विकसित हो जाती हैं और तब वह आत्मा स्वच्छ और निर्मल होकर परमात्मदशाको प्राप्त हो जाता है तथा **परमात्मा** कहलाता है। **केवलज्ञान** (सर्वज्ञता) की प्राप्ति होनेके पश्चात जबतक देहका सम्बन्ध बाकी रहता है, तबतक उस परमात्माको **सकलपरमात्मा** (जीवन्मुक्त) या अरहंत कहते हैं और जब देहका सम्बन्ध भी छूट जाता है और मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तब वही सकल परमात्मा **निष्कलपरमात्मा** (विदेहमुक्त) या **सिद्ध** नामसे विभूषित होता है। इस प्रकार अवस्थाभेदसे परमात्माके दो भेद कहे जाते हैं। वह परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्थामें अपनी दिव्यवाणीके द्वारा संसारी जीवोंको उनकी आत्माका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाता है अर्थात् उनकी आत्मनिधि क्या है, कहाँ है, किस किस प्रकारके कर्मपटलोंसे आच्छादित है, किस किस उपायसे वे कर्मपटल इस आत्मासे जुदा हो सकते हैं, संसारके अन्य समस्त पदार्थोंसे इस आत्माका क्या सम्बन्ध है, दुःखका, सुखका और संसारका स्वरूप क्या है, कैसे दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है—इत्यादि समस्त बातोंका विस्तारके साथ सम्यक्प्रकार निरूपण करता है, जिससे अनादि अविद्याग्रसित संसारी जीवोंको अपने कल्याणका मार्ग सूझता है और अपना हित साधन करनेमें उनकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार परमात्माके द्वारा जगतका निःसीम उपकार होता है। इसी कारण परमात्माके **सार्व, परमहितोपदेशक, परमहितैषी** और **निर्निमित्तबन्धु** इत्यादि भी नाम हैं। इस महोपकारके बदलेमें हम (संसारी जीव) परमात्माके प्रति जितना आदर सत्कार प्रदर्शित करें और जो कुछ भी कृतज्ञता प्रगट करें वह सब तुच्छ है। दूसरे जब आत्माकी परम स्वच्छ और निर्मल अवस्थाका नाम ही परमात्मा है और उस अवस्थाको प्राप्त करना अर्थात् परमात्मा बनना सब आत्माओंका अभीष्ट है, तब आत्मस्वरूपकी या दूसरे

शब्दोंमें परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना हमारा परम कर्त्तव्य है। परमात्माका ध्यान, परमात्माके अलौकिकचरित्रका विचार और परमात्माकी ध्यानावस्थाका चिन्तवन ही हमको अपनी आत्माकी याद दिलाता है–अपनी भूली हुई निधिकी स्मृति कराता है। परमात्माका भजन और स्तवन ही हमारे लिये अपनी आत्माका अनुभवन है। आत्मोन्नतिमें अग्रसर होनेके लिये परमात्मा ही हमारा आदर्श है। आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिके लिये हम उसी आदर्शको अपने सन्मुख रखकर अपने चरित्रका गठन करते हैं। अपने आदर्शपुरुषके गुणोंमें भक्ति और अनुरागका होना स्वाभाविक और जरूरी है। बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो जिस गुणका आदर सत्कार करता है अथवा जिस गुणसे प्रेम रखता है; वह उस गुणके गुणीका भी अवश्य आदरसत्कार करता है और उससे प्रेम रखता है। क्योंकि गुणीके आश्रय विना कहीं भी गुण नहीं होता। **आदरसत्काररूप प्रवर्त्तनका नाम ही पूजन है।** इस लिये परमात्मा, इन्हीं समस्त कारणोंसे हमारा **परमपूज्य उपास्य देव** है और **द्रव्यदृष्टिसे समस्त आत्माओंके परस्पर समान होनेके कारण वह परमात्मा सभी संसारी जीवोंको समान भावसे पूज्य है।** यही कारण है कि परमात्माके **त्रैलोक्यपूज्य** और **जगत्पूज्य** इत्यादि नाम भी कहे जाते हैं। परमात्माका पूजन करने, परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढाने और परमात्माका भजन और चिन्तवन करनेसे इस जीवात्माको पापोंसे बचनेके साथ साथ महत्पुण्योपार्जन होता है। जो जीव परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना नहीं करता, वह अपने आत्मीय गुणोंसे पराङ्मुख और अपने

---

१ इन्हीं कारणोंसे अन्य **वीतरागी** साधु और महात्मा भी जिनमें आत्माकी कुछ शक्तियां विकसित हुई हैं और जिन्होंने अपने **उपदेश, आचरण** और **शास्त्रनिर्माण**से हमारा उपकार किया है, वे सब हमारे पूज्य हैं।

आत्मलाभसे वंचित रहता है—इतना ही नहीं, किन्तु वह **कृतघ्नताके**[1] दोषसे भी दूषित होता है।

अतः परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना सबके लिये उपादेय और ज़रूरी है।

परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्था अर्थात् अरहंत अवस्थामें सदा और सर्वत्र विद्यमान नहीं रहता, इस कारण **परमात्माके स्मरणार्थ और परमात्माके प्रति आदर सत्काररूप प्रवर्त्तनेके आलम्बनस्वरूप** उसकी अरहंत अवस्थाकी मूर्ति बनाई जाती है। वह मूर्ति परमात्माके **वीतरागता, शान्तता और ध्यानमुद्रा** आदि गुणोंका प्रतिबिम्ब होती है। उसमें स्थापनानिक्षेपसे मंत्रोंद्वारा परमात्माकी प्रतिष्ठा की जाती है। उसके पूजनेका भी समस्त वही उद्देश्य है, जो ऊपर वर्णन किया गया है, क्योंकि मूर्तिके पूजनसे धातु पाषाणका पूजना अभिप्रेत (इष्ट) नहीं है, बल्कि मूर्तिके द्वारा परमात्माहीकी पूजा, भक्ति और उपासनाकी जाती है। इसी लिये इस मूर्तिपूजनके **जिनपूजन, देवार्चन, जिनार्चा, देवपूजा** इत्यादि नाम कहे जाते हैं और इसीलिये इस पूजनको साक्षात् जिनदेवके पूजनतुल्य वर्णन किया है। यथा—

> "भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाकृत्रिमा सदा।
> यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः॥"
>
> — धर्मसंग्रहश्रावकाचार अ० ९, श्लोक ४२

परमात्माकी इस **परमशान्त** और **वीतरागमूर्त्तिके** पूजनमें एक बड़ी भारी खूबी और महत्त्वकी बात यह है कि जो संसारी जीव संसारके मायाजाल और गृहस्थीके प्रपंचमें अधिक फंसे हुए हैं, जिनके चित्त अति चंचल हैं और जिनका आत्मा इतना बलाढ्य नहीं है कि जो केवल

---

१ अहसान फरामोशी—किये हुए उपकारको भूल जाना या कृतघ्नता।
"अभिमतफलसिद्धेरभ्युपाय सुबोध, प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥"
—गोम्मटसार–टीका।

शास्त्रोंमें परमात्माका वर्णन सुनकर एकदम बिना किसी नक़शेके परमात्मस्वरूपका नकशा (चित्र) अपने हृदयमें खींच सके या परमात्मस्वरूपका ध्यान कर सके, वे ही उस मूर्तिके द्वारा परमात्मस्वरूपका कुछ ध्यान और चिन्तवन करनेमें समर्थ हो जाते हैं और उसीसे आगामी दुःखों और पापोंकी निवृत्तिपूर्वक अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें अग्रसर होते हैं।

जब कोई चित्रकार चित्र खींचनेका अभ्यास करता है तब वह *सबसे प्रथम सुगम और सादा चित्रोंपरसे, उनको देखदेखकर, अपना चित्र* खींचनेका अभ्यास बढ़ाता है, एकदम किसी कठिन, गहन और गम्भीर चित्रको नहीं खींच सकता। जब उसका अभ्यास बढ़ जाता है, तब कठिन, गहन और रंगीन चित्रोंको भी सुन्दरताके साथ बनाने लगता है और छोटे चित्रको बड़ा और बड़ेको छोटा भी करने लगता है। आगे जब *अभ्यास करते करते वह चित्रविद्यामें पूरी तौरसे निपुण और निष्णात* हो जाता है, तब वह चलती, फिरती,-दौड़ती, भागती वस्तुओंका भी चित्र बड़ी सफ़ाईके साथ बातकी बातमें खींचकर रख देता है और चित्र-नायकको न देखकर, केवल व्यवस्था और हाल ही मालूम करके, उसका साक्षात् जीता जागता चित्र भी अंकित कर देता है। इसी प्रकार यह संसारी जीव भी एकदम परमात्मस्वरूपका ध्यान नहीं कर सकता अर्थात् परमात्माका फ़ोटू अपने हृदयपर नहीं खींच सकता, वह परमात्माकी परम वीतराग और शान्त मूर्त्तिपरसे ही अपने अभ्यासको बढ़ाता है। मूर्त्तिके निरन्तर दर्शनादि अभ्याससे जब उस मूर्तिकी वीतरागछवि और ध्यानमुद्रासे वह परिचित हो जाता है, तब शनैः शनैः एकान्तमें बैठकर उस मूर्तिका फ़ोटू अपने हृदयमें खींचने लगता है और फिर कुछ देरतक उसको स्थिर रखनेके लिये भी समर्थ होने लगता है। ऐसा करनेपर उसका मनोबल और आत्मबल बढ़ जाता है और वह फिर इस योग्य हो जाता है कि उस मूर्त्तिके मूर्तिमान् श्रीअरहंतदेवका समवसरणादि विभूति सहित साक्षात् चित्र अपने हृदयमें खींचने लगता है। इस प्रकारके ध्यानका नाम रूपस्थध्यान है और यह ध्यान प्रायः मुनि अवस्थाहीमें होता है।

आत्मीय बलके इतने उन्नत हो जानेकी अवस्थामें फिर उसको धातु पाषाणकी मूर्त्तिके पूजनादिकी वा दूसरे शब्दोंमे यों कहिये कि परमात्माके ध्यानादिके लिये मूर्त्तिका अवलम्बन लेनेकी ज़रूरत बाकी नहीं रहती; बल्कि वह रूपस्थध्यानके अभ्यासमें परिपक्व होकर और अधिक उन्नति करता है और साक्षात् सिद्धोंका चित्र भी खींचने लगता है जिसको रूपातीतध्यान कहते हैं। इसप्रकार ध्यानके बलसे वह अपनी आत्मासे कर्ममलको छांटता रहता है और फिर उन्नतिके सोपानपर चढ़ता हुआ शुक्लध्यान लगाकर समस्त कर्मोंको क्षय कर देता है और इस प्रकार आत्मत्वको प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय इसका यह है कि मूर्ति-पूजन आत्मदर्शनका प्रथम सोपान है और उसकी आवश्यकता प्रथमावस्था (गृहस्थावस्था) हीमें होती है। बल्कि दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जितना जितना कोई नीचे दर्जेमें है, उतना उतना ही जियादा उसको मूर्त्तिपूजनकी या मूर्त्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत है। यही कारण है कि हमारे आचार्योंने गृहस्थोंके लिये इसकी खास ज़रूरत रक्खी है और नित्यपूजन करना गृहस्थोंका मुख्य धर्म वर्णन किया है।

सर्वसाधारणाऽधिकार।

भगवज्जिनसेनाचार्यने श्रीआदिपुराण (महापुराण)मे लिखा है कि-

> "दानं पूजा च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम्।
> धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमाम्नातो गृहमेधिनाम्॥"

—पर्व ४१, श्लोक १०४।

अर्थात्-दान, पूजन, व्रतोंका पालन (व्रतानुपालनं शीलं) और पर्वके दिन उपवास करना, यह चार प्रकारका गृहस्थोंका धर्म है।

अमितगतिश्रावकाचारमें श्रीअमितगति आचार्यने भी ऐसा ही वर्णन किया है। यथाः—

"दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः।
श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः॥"

—अ० ९, श्लो० १।

श्रीपद्मनन्दि आचार्य पद्मनन्दिपंचविंशतिकामें श्रावकधर्मका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—

"देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥"

—अ० ६, श्लो० ७।

अर्थात्–देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ये षट्कर्म गृहस्थोंको प्रतिदिन करने योग्य हैं–भावार्थ, धार्मिकदृष्टिसे गृहस्थोंके ये सर्वसाधारण नित्य कर्म हैं। श्री सोमदेवसूरि भी यशस्तिलकमें वर्णित उपासकाध्ययनमें इन्हीं षट्कर्मोंका, प्रायः इन्हीं (उपर्युल्लिखित) शब्दोंमें गृहस्थोंको उपदेश देते हैं। यथाः—

"देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥"

—कल्प ४६, श्लो० ७।

गृहस्थोंके लिये पूजनकी अत्यन्त आवश्यताको प्रगट करते हुए श्रीपद्मनन्दि आचार्य फिर लिखते हैं कि—

"ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥"

—अ० ६, श्लो० १५।

अर्थात्–जो जिनेन्द्रका दर्शन, पूजन और स्तवन नहीं करते हैं, उनका जीवन निष्फल है और उनके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है। इसी आवश्यक-

ताको अनुभव करते हुए श्रीसकलकीर्ति आचार्य सुभाषितवलीमें यहांतक लिखते हैं कि:—

"पूजां विना न कुर्वेत भोगसौख्यादिकं कदा ।"

अर्थात्—गृहस्थोंको विना पूजनके कदापि भोग और उपभोगादिक नहीं करना चाहिये । सबसे पहले पूजन करके फिर अन्य कार्य करना चाहिये । श्रीधर्मसंग्रहश्रावकाचारमें गृहस्थाश्रमका स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है कि:—

"इज्या वार्त्ता तपो दानं स्वाध्यायः संयमस्तथा ।
ये षट्कर्माणि कुर्वन्त्यन्वहं ते गृहिणो मताः ॥"

—अ० ९, श्लो० २६।

अर्थात्—इज्या (पूजन), वार्त्ता (कृषिवाणिज्यादि जीवनोपाय), तप, दान, स्वाध्याय, और संयम, इन छह कर्मोंको जो प्रतिदिन करते हैं, वे गृहस्थ कहलाते हैं। भावार्थ-धार्मिक और लौकिक, उभयदृष्टिसे ये गृहस्थोंके छह नित्यकर्म हैं । गुरूपास्ति जो ऊपर वर्णन की गई है, वह इज्याके अन्तर्गत होनेसे यहां पृथक् नहीं कही गई ।

भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराणके पर्व ३८ में निम्नलिखित श्लोकों द्वारा यह सूचित करते हैं कि ये इज्या, वार्त्ता आदि कर्म उपासक सूत्रके अनुसार गृहस्थोंके षट्कर्म हैं । आर्यषट्कर्मरूप प्रवर्त्तना ही गृहस्थोंकी कुलचर्या है और इसीको गृहस्थोंका कुलधर्म भी कहते हैं:—

"इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः ।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥ २४ ॥
विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्त्तनम् ।
गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥ १४४ ॥"

महाराजा चामुण्डरायने चारित्रसारमें और विद्वद्वर पं० आशाधरजीने सागरधर्मामृतमें भी इन्हीं षट्कर्मोंका वर्णन किया है । इन

षट्कर्मोंमें दान और पूजन, ये दो कर्म सबसे मुख्य हैं। इस विषयमें पं० आशाधरजी सागरधर्मामृतमें लिखते है कि:—

"दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्।"

—अ० १, श्लो० १५।

अर्थात्—दान और पूजन, ये दो कर्म जिसके मुख्य हैं और ज्ञानाऽमृतका पान करनेके लिये जो निरन्तर उत्सुक रहता है वह श्रावक है। भावार्थ–श्रावक वह है जो कृषिवाणिज्यादिको गौण करके दान और पूजन, इन दो कर्मोंको नित्य सम्पादन करता है और शास्त्राऽध्ययन भी करता है।

स्वामी कुंदकुंदाचार्य, रयणसार ग्रंथमें; इससे भी बढ़कर साफ़ तौरपर यहांतक लिखते है कि **बिना दान और पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता** या दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि ऐसा कोई श्रावक ही नहीं होसकता जिसको दान और पूजन न करना चाहिये। यथा:—

"दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइ धम्मो तं विणा सोवि॥ १०॥"

अर्थात्–दान देना और पूजन करना, यह श्रावकका मुख्य धर्म है **इसके विना कोई श्रावक नहीं कहला सकता** और ध्यानाऽध्ययन करना यह मुनिका मुख्य धर्म है। जो इससे रहित है, वह मुनि ही नहीं है। भावार्थ–मुनियोंके ध्यानाऽध्ययनकी तरह, दान देना और पूजन करना ये दो कर्म श्रावकोंके सर्व साधारण मुख्य धर्म और नित्यके कर्त्तव्य कर्म हैं।

ऊपरके वाक्योंसे भी जब यह स्पष्ट है कि पूजन करना गृहस्थका धर्म तथा नित्य और आवश्यक कर्म है–विना पूजनके मनुष्यजन्म निष्फल और गृहस्थाश्रम धिक्कारका पात्र है और विना पूजनके कोई गृहस्थ या श्रावक नाम ही नहीं पा सकता. तब प्रत्येक गृहस्थ जैनीको नियमपूर्वक अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये, चाहे वह अग्रवाल हो, खंडेलवाल हो, या परवार आदि अन्य किसी जातिका; चाहे स्त्री हो या पुरुष; चाहे व्रती हो या अव्रती;

चाहे बीसा हो या दस्सा और चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, सबको पूजन करना चाहिये। सभी गृहस्थ जैनी हैं, सभी श्रावक हैं, अतः-सभी पूजनके अधिकारी हैं।

श्रीतीर्थंकर भगवानके अर्थात् जिस अरहंत परमात्माकी मूर्ति बनाकर हम पूजते हैं उसके समवसरणमें भी, क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या व्रती, क्या अव्रती, क्या ऊंच और क्या नीच, सभी प्रकारके मनुष्य जाकर साक्षात् भगवानका पूजन करते हैं। और मनुष्य ही नहीं, समवसरणमें पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक भी जाते है-समवसरणकी बारह सभाओंमें उनकी भी एक सभा होती है-वे भी अपनी शक्तिके अनुसार जिनदेवका पूजन करते हैं। पूजन-फलप्राप्तिके विषयमें एक मेडककी कथा सर्वत्र जैनशास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। पुण्यास्रवकथाकोश, महावीरपुराण, धर्मसंग्रहश्रावकाचार आदि अनेक ग्रंथोंमे यह कथा विस्तारके साथ लिखी है और बहुतसे ग्रंथोंमें इसका निम्नलिखित प्रकारसे उल्लेख मात्र किया है। यथाः—

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें,

"अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे॥" १२०॥

सागरधर्मामृतमें,

"यथाशक्ति यजेतार्हद्देवं नित्यमहादिभिः।
संकल्पतोऽर्पितं यष्टा भेकवत्स्वर्महीयते॥" २-२४॥

कथाका सारांश यह है कि जिस समय राजगृह नगरमें विपुलाचल पर्वतपर हमारे अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामीका समवसरण आया और उसके सुसमाचारसे हर्षोल्लसित होकर महाराजा श्रेणिक आनंदभेरी बजवाते हुए परिजन और पुरजन सहित श्रीवीरजिनेन्द्रकी पूजा और वन्दनाको चले, उससमय एक मेंडक भी, जो नागदत्त श्रेष्ठीकी बावडीमें रहता था और जिसको अपनी पूर्वजन्मकी स्त्री भवदत्ताको देखकर जा-

तिस्मरण होगया था, श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजाके लिये मुखमें एक कमल दबाकर उछलता और कूदता हुआ नगरके लोगोंके साथ समवसरणकी ओर चल दिया। मार्गमें महाराजा श्रेणिकके हाथीके पैरतले आकर वह मेंडक मर गया और पूजनके इस संकल्प और उद्यमके प्रभावसे, मरकर **सौधर्म स्वर्गमें** महार्द्धिक देव हुआ। फिर वह देव समवसरणमें आया और **श्रीगणधरदेवके** द्वारा उसका चरित्र लोगोंको मालूम हुआ। इससे प्रगट है कि समवसरणादिमें जाकर तिर्यंच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते हैं।

समवसरणको छोड़कर और भी बहुतसे स्थानोंपर तिर्यंचोंके पूजन करनेका कथन पाया जाता है। **पुण्यास्रव** और **आराधनासार-कथाकोशमें** लिखा है कि **धाराशिव** नगरमें एक बंबी थी जिसमें **श्रीपार्श्वनाथ** स्वामीकी रत्नमयी प्रतिमा एक मंजूषेमें रक्खी हुई थी। एक **हाथी**, जिसको जातिस्मरण होगया था, प्रतिदिन तालाबसे अपनी सूंडमें पानी भरकर लाता और उस बंबीकी तीन प्रदक्षिणा देकर वह पानी उस-पर छोड़ता और फिर एक कमलका फूल चढाकर पूजन करता और मस्तक नवाता था। इस प्रकार वह हाथी श्रावकधर्मको पालता हुआ प्रतिदिन उस प्रतिमाका **पूजन** करता था। जब राजा करकंडुको यह समाचार मालूम हुआ, तब उसने उस बंबीको खुदवाया और उसमेंसे वह प्रतिमा निकली। प्रतिमाके निकलनेपर हाथीने सन्यास धारण किया और अन्तमें वह हाथी मरकर **सहस्रारस्वर्गमें** देव हुआ। इसीप्रकार तिर्यंचोंके पूजनसंबंधमें और भी अनेक कथाएँ हैं। जब तिर्यंच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते हैं, तब ऐसा कौन मनुष्य होसकता है कि जिसको पूजन न करना चाहिये और जो भावपूर्वक जिनेंद्रदेवका पूजन करके उत्तम फलको प्राप्त न हो? अभिप्राय यह कि, आत्महितचिन्तक सभी प्राणि-योंके लिये पूजन करना श्रेयस्कर है। इसलिये गृहस्थोंको अपना कर्तव्य समझकर अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये।

पूजनके भेद ।

पूजन कई प्रकारका होता है। आदिपुराण, सागरधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, चारित्रसार आदि ग्रन्थोंमें नित्य[1], अष्टान्हिक[2], ऐन्द्रध्वज[3], चतुर्मुख[4], और कल्पद्रुम[5], इस प्रकार पूजनके पांच भेद वर्णन किये हैं। वसुनन्दिश्रावकाचार और धर्मसंग्रहश्रावकाचार-

---

१ नित्यपूजनका स्वरूप आगे विस्तारके साथ वर्णन किया गया है।

२-३, "जिनार्चा क्रियते भव्यैर्या नन्दीश्वरपर्वणि ।
अष्टाह्निकोऽसौ सेन्द्राद्यैः साध्या त्वैन्द्रध्वजो महः ॥"-सागरधर्मा० ।

अर्थात्-नन्दीश्वर पर्वमें (आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुण इन तीन महीनोंके अन्तिम आठ आठ दिनोंमे)जो पूजन किया जाता है, उसको **अष्टाह्निक** पूजन कहते है और इन्द्रादिक देव मिलकर जो पूजन करते है, उसको **ऐन्द्रध्वज** पूजन कहते है।

४ "महामुकुटबद्धैस्तु क्रियमाणो महामहः ।
चतुर्मुख. स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥"—आदिपुराण ।
"भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते
तदाख्याः सर्वतोभद्रचतुर्मुखमहामहाः ॥—सागरध० ।

अर्थात्—मुकुटबद्ध (माडलिक) राजाओंके द्वारा जो पूजन किया जाता है, उसको **चतुर्मुख** पूजन कहते हैं। इसीका नाम **सर्वतोभद्र** और **महामह** भी है।

५ "दत्वा किमिच्छुकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते ।
कल्पवृक्षमहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः ॥"—आदिपुराण ।
"किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः ।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः ॥"—सागरध० ।

अर्थात्—याचकोंको उनकी इच्छानुसार दान देकर जगतकी आशाको पूर्ण करते हुए चक्रवर्त्ति सम्राट्द्वारा जो जिनेंद्रका पूजन किया जाता है, उसको **कल्पद्रुम** पूजन कहते हैं।

में प्रकारान्तरसे नाम[१], स्थापना[२], द्रव्य[३], क्षेत्र[४], काल[५] और भाव[६], ऐसे

---

१ "उच्चारिऊण णामं, अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि ।
पुप्फाईणि खिविज्जंति विण्णेया णामपूजा सा ॥"
—वसुनन्दिश्रा० ।

अर्थात्—अर्हंतादिकका नाम उच्चारण करके किसी शुद्ध स्थानमे जो पुष्पादिकक्षेपण किये जाते है, उसको **नाम**पूजन कहते है ।

२ तदाकार वा अतदाकार वस्तुमें जिनेन्द्रादिके गुणोंका आरोपण और संकल्प करके जो पूजन किया जाता है, उसको **स्थापना**पूजन कहते हैं। स्थापनाके दो भेद है—१ **सद्भावस्थापना** और २ **असद्भावस्थापना**। अरहंतोंकी **प्रतिष्ठाविधिको सद्भावस्थापना** कहते है । (स्थापनापूजनका विशेष वर्णन जाननेके लिये देखो वसुनन्दिश्रावकाचार आदि ग्रंथ ।) ।

३ "दव्वेण य दवस्स य, जा पूजा जाण दव्वपूजा सा ।
दव्वेग गंधसलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा ॥
तिविहा दव्वे पूजा सचित्ताचित्तमिस्सभेएण ।
पच्चक्खजिणाईणं सचित्तपूजा जहाजोग्गं ॥
तेसिं च सरीराणं दव्वसुदस्सवि अचित्तपूजा सा ।
जा पुण दोण्हं कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा ॥
—वसुनन्दिश्राव० ।

अर्थात्—द्रव्यसे और द्रव्यकी जो पूजाकी जाती है, उसको **द्रव्य**पूजन कहते है । जलचंदनादिकसे पूजन करनेको **द्रव्यसे** पूजन करना कहते है और **द्रव्यकी** पूजा **सचित्त, अचित्त** और **मिश्रके** भेदसे तीन प्रकार है । साक्षात् श्रीजिनेंद्रादिके पूजनको **सचित्त** द्रव्यपूजन कहते है । उन जिनेंद्रादिके शरीरो तथा द्रव्यश्रुतके पूजनको **अचित्त** द्रव्यपूजन कहते है और दोनोंके एक साथ पूजन करनेको **मिश्रद्रव्यपूजन** कहते है । द्रव्यपूजनके आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्य आदिके भेदसे और भी अनेक भेद है ।

४ "जिणजणमणिक्खवणणाणुप्पत्तिमोक्खसंपत्ति ।
णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥—वसुनंदि श्रा० ।

अर्थात्—जिन क्षेत्रोमें जिनेंद्र भगवानके जन्म-तप-ज्ञान-निर्वाण कल्याणक हुए है, उन क्षेत्रोमें जलचंदनादिकसे पूजन करनेको **क्षेत्रपूजन** कहते हैं ।

छह प्रकारका पूजन भी वर्णन किया है। परन्तु संक्षेपसे पूजनके, नित्य और नैमित्तिक, ऐसे दो भेद हैं। अन्य समस्त भेदोंका इन्हींमें अन्तर्भाव है। अष्टान्हिक आदिक चार प्रकारका पूजन नैमित्तिक पूजन कहलाता है और नामादिक छह प्रकारके पूजनोंमें कुछ नित्य नैमित्तिक और कुछ दोनों प्रकारके होते हैं। प्रतिष्ठा भी नैमित्तिक पूजनका ही एक प्रधान भेद है। तथापि नैमित्तिक पूजनोंमें बहुतसे ऐसे भी भेद हैं जिनमें पूजनकी विधि प्रायः नित्यपूजनके ही समान होती है और दोनोंके पूजकमें

---

५ "गर्भादि पंचकल्याणमर्हतां यद्दिनेऽभवत्।
तथा नन्दीश्वरे रत्नत्रयपर्वणि चाऽर्चनम्॥
स्नपनं क्रियते नाना रसैरिक्षुघृतादिभिः।
तत्र गीतादिमाङ्गल्यं कालपूजा भवेदियम्॥"

—धर्मसंग्रहश्रा०।

अर्थात्—जिन तिथियोंमे अरहंतोंके गर्भ, जन्मादिक कल्याणक हुए हैं, उनमें तथा नंदीश्वर, दशलक्षण और रत्नत्रयादिक पर्वोंमें जिनेंद्रदेवका पूजन, इक्षुरस और दुग्ध-घृतादिकसे अभिषेक तथा गीत, नृत्य और जागरणादि मांगलिक कार्य करनेको **कालपूजन** कहते हैं।

६ "यदनन्तचतुष्काद्यैर्विधाय गुणकीर्त्तनम्।
त्रिकालं क्रियते देववन्दना भावपूजनम्॥
परमेष्ठिपदैर्जापः क्रियते यत्स्वशक्तितः।
अथवाऽर्हद्गुणस्तोत्रं साप्यर्चा भावपूर्विका॥
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
ध्यायते यत्र तद्विद्धि भावार्चनमनुत्तरम्॥"

—धर्मसंग्रहश्रा०।

अर्थात्—जिनेंद्रके अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्यादि गुणोंकी भक्तिपूर्वक स्तुति करके जो त्रिकाल देववन्दना की जाती है, उसको तथा शक्तिपूर्वक पंच परमेष्ठिके जाप वा स्तवनको और पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानको भावपूजन कहते है। पिंडस्थादिक ध्यानोंका स्वरूप ज्ञानार्णवादिक ग्रंथोंमें विस्तारके साथ वर्णन किया है, वहांसे जानना चाहिये।

भी कोई भेद नहीं होता, जैसे अष्टान्हिक पूजन और काल पूजनादिक; इस लिये पूजनकी विधि आदिकी मुख्यतासे पूजनके नित्य-पूजन और प्रतिष्ठादिविधान, ऐसे भी दो भेद कहे जाते हैं और इन्हीं दोनों भेदोंकी प्रधानतासे पूजकके भी दो ही भेद वर्णन किये गये हैं- एक नित्य पूजन करनेवाला जिसको पूजक कहते हैं और दूसरा प्रतिष्ठा आदि विधान करनेवाला जिसको पूजकाचार्य कहते हैं। जैसा कि पूजासार और धर्मसंग्रहश्रावकाचारके निम्नलिखित श्लोकोंसे प्रगट है:—

"पूजकः पूजकाचार्य इति द्वेधा स पूजकः।
आद्यो नित्यार्चकोऽन्यस्तु प्रतिष्ठादिविधायकः॥ १६॥"

—पूजासार।

"नित्यपूजा-विधायी यः पूजकः स हि कथ्यते।
द्वितीयः पूजकाचार्यः प्रतिष्ठादिविधानकृत्॥ ९-१४२॥

—धर्मसंग्रहश्रा०।

चतुर्मुखादिक पूजन तथा प्रतिष्ठादि विधान सदाकाल नहीं बन सकते और न सब गृहस्थ जैनियोंसे इनका अनुष्ठान हो सकता है-क्योंकि कल्पद्रुम पूजन चक्रवर्त्ति ही कर सकता है; चतुर्मुख पूजन मुकुटबद्ध राजा ही कर सकते हैं; ऐन्द्रध्वज पूजाको इन्द्रादिक देव ही रचा सकते हैं; इसी प्रकार प्रतिष्ठादि विधान भी खास खास मनुष्य ही सम्पादन कर-सकते हैं-इस लिये सर्व साधारण जैनियोंके वास्ते नित्यपूजनहीकी मुख्यता है। ऊपर उल्लेख किये हुए आचार्यों आदिके वाक्योंमें 'दिने दिने' और 'अन्वहं' इत्यादि शब्दों द्वारा नित्यपूजनका ही उपदेश दिया गया है। इसी नित्यपूजनपर मनुष्य, तिर्यंच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊंच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती, राजा, महाराजा, चक्रवर्त्ति और देवता, सबका समानअधिकार है अर्थात् सभी नित्यपूजन कर सकते हैं।

नित्यपूजनको नित्यमह, नित्याऽर्चन और सदार्चन इत्यादि भी कहते हैं।

नित्यपूजनका मुख्य स्वरूप भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें इसप्रकार वर्णन किया है:-

"तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति ।
स्वगृहान्नीयमानार्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥"

—अ. ३८, श्लो० २७ ।

अर्थात्—प्रतिदिन अपने घरसे जिनमंदिरको गंध, पुष्प, अक्षतादिक पूजनकी सामग्री ले जाकर जो जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना है उसको नित्य-पूजन कहते हैं । धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें भी नित्यपूजनका यही स्वरूप वर्णित है । यथाः—

"जलाद्यैर्धौतपूताङ्गैर्गृहान्नीतैर्जिनालयम् ।
यदर्च्यन्ते जिना युक्त्या नित्यपूजाऽभ्यधायि सा ॥"

—९—२७ ।

प्रतिदिन क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या बालिका—सभी गृहस्थ जन अपने अपने घरोंसे जो बादाम, छुहारा, लौंग, इलायची या अक्षत (चावल) आदिक लेकर जिनमंदिरको जाते हैं और वहां उस द्रव्यको, जिनेन्द्रदेवादिकी स्तुतिपूर्वक नामादि उच्चारण करके, जिनप्रतिमाके सन्मुख चढ़ाते हैं, वह सब नित्यपूजन कहलाता है । नित्यपूजनके लिये यह कोई नियम नहीं है कि वह अष्टद्रव्यसे ही किया जावे या कोई खास द्रव्यसे या किसी खास संख्यातक पूजाएँ की जावे, बल्कि यह सब अपनी श्रद्धा, शक्ति और रुचिपर निर्भर है—कोई एक द्रव्यसे पूजन करता है, कोई दोसे और कोई आठोंसे; कोई थोड़ा पूजन करता और थोड़ा समय लगाता है, कोई अधिक पूजन करता और अधिक समय लगाता है; एक समय जो एक द्रव्यसे पूजन करता है वा थोड़ा पूजन करता है दूसरे समय वही अष्टद्रव्यसे पूजन करने लगता है और बहुतसा समय लगाकर अधिक पूजन करता है—इसी प्रकार यह भी कोई नियम नहीं है कि मंदिरजीके उपकरणोंमें और मंदिरजीमें रक्खे हुए वस्त्रोंको पहिनकर ही नित्यपूजन किया जावे । हम अपने घरसे शुद्ध वस्त्र पहिनकर और शुद्ध वर्तनोंमें सामग्री बनाकर मंदिरजीमें ला सकते-हैं और खुशीके साथ पूजन कर सकते हैं । जो लोग ऐसा करनेके लिये

असमर्थ हैं या कभी किसी कारणसे ऐसा नहीं कर सकते हैं, वे मंदिरजीके उपकरण आदिसे अपना काम निकाल सकते हैं, इसीलिये मंदिरोंमें उनका प्रबंध रहता है। बहुतसे स्थानोंपर श्रावकोंके घर विद्यमान होते हुए भी, कमसे कम दो चार पूजाओंके यथासंभव नित्य किये जानेके लिये, मंदिरोंमें पूजन सामग्रीके रक्खे जानेकी जो प्रथा जारी है, उसको भी आज कलके जैनियोंके प्रमाद, शक्तिन्यूनता और उत्साहाभाव आदिके कारण एक प्रकारका जातीय प्रबंध कह सकते हैं, अन्यथा, शास्त्रोंमे इस प्रकारके पूजन सम्बन्धमें, आमतौरपर अपने घरसे सामग्री लेजाकर पूजन करनेका ही विधान पाया जाता है-जैसा कि ब्रह्मसूरिकृत त्रिवर्णाचारके निम्नलिखित वाक्यसे भी प्रगट है:—

"ततश्चैत्यालयं गच्छेत्सर्वभव्यप्रपूजितम् ।
जिनादिपूजायोग्यानि द्रव्याण्यादाय भक्तितः ॥"

—अ. ४-१९० ।

अर्थात्—संध्यावन्दनादिके पश्चात् गृहस्थ, भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रादिके पूजन योग्य द्रव्योंको लेकर, समस्त भव्यजीवों द्वारा पूजित जो जिनमंदिर तहां जावे। भावार्थ-गृहस्थोंको जिनमंदिरमें पूजनके लिये पूजनोचित द्रव्य लेकर जाना चाहिये। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि विना द्रव्यके मंदिरजीमें जाना ही निषिद्ध है, जाना निषिद्ध नहीं है। क्योंकि यदि किसी अवस्थामें द्रव्य उपलब्ध नहीं है तो केवल **भावपूजन** भी हो सकता है। तथापि गृहस्थोंके लिये द्रव्यसे पूजन करनेकी अधिक मुख्यता है। इसीलिये **नित्यपूजन**का ऐसा मुख्य स्वरूप वर्णन किया है।

ऊपर **नित्यपूजन**का जो प्रधान स्वरूप वर्णन किया गया है, उसके अतिरिक्त, "जिनबिम्ब और जिनालय बनवाना, जिनमन्दिरके खर्चके लिये दानपत्र द्वारा ग्राम गृहादिकका मंदिरजीके नाम करदेना तथा दान देते समय मुनीश्वरोंका पूजन करना, यह सब भी नित्यपूजनमें ही दाखिल (परिगृहीत) है।" जैसा कि **आदिपुराण** पर्व ३८ के निम्नलिखित वाक्योंसे प्रगट है:—

"चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत् ।
शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदाऽर्चनम् ॥ २८ ॥
या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी ।
स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पितः ॥ २९ ॥"

श्रीसागारधर्मामृतमें भी नित्यपूजनके सम्बंधमें समग्र ऐसा ही वर्णन पाया जाता है, बल्कि इतना विशेष और मिलता है कि अपने घरपर या मंदिरजीमें त्रिकाल[3] देववन्दना—अरहंतदेवकी आराधना—करनेको भी नित्यपूजन कहते हैं। यथाः—

"प्रोक्तो नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गन्धादिना ।
पूजा चैत्यगृहेऽर्हतः स्वविभवाच्चैत्यादिनिर्मापणम् ॥
भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधादानं त्रिसंध्याश्रया ।
सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां नित्यप्रदानानुगम् ॥२-२५"

धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें, भी "त्रिसंध्यं देववन्दनम्" इस पदके द्वारा ९ वें अधिकारके श्लोक नं. २९ में, त्रिकाल देववन्दनाको नित्यपूजन वर्णन किया है। और त्रिकाल देववन्दना ही क्या, "बलि, अभिषेक (हवन), गीत, नृत्य, वादित्र, आरती और रथयात्रादिक जो कुछ भी नित्य और नैमित्तिकपूजनके विशेष हैं और जिनको भक्तपुरुष सम्पादन करते हैं, उन सबका नित्यादि पंच प्रकारके पूजनमें अन्तर्भाव निर्दिष्ट होनेसे, उनमेंसे, जो नित्य किये जाते है या नित्य किये जानेको हैं, वे

---

१ इन दोनों श्लोकोका आशय वही है जो ऊपर **अतिरिक्त** शब्दके अनन्तर " " दिया गया है।

२ आदिपुराणके श्लोक नं. २७,२८,२९ के अनुसार।

३ आदिपुराणमें पूजनके अन्य चार भेदोका वर्णन करनेके अनन्तर श्लोक नं. ३३ मे त्रिकाल देववन्दनाका वर्णन "त्रिसंध्यासेवया समम्" इस पदके द्वारा किया है।

भी नित्यपूजनमें समाविष्ट हैं ।" जैसा कि निम्नलिखित प्रमाणोंसे प्रगट है:—

"बलिस्नपननाट्यादि नित्यं नैमित्तिकं च यत् ।
भक्ताः कुर्वन्ति तेष्वेव तद्यथास्वं विकल्पयेत् ॥"

—सागारधर्मा० अ० २, श्लो० २९ ।

"बलिस्नपनमित्यन्यत्रिसंध्यासेवया समम् ।
उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ॥"

—आदिपुराण० अ० ३८, श्लो० ३३ ।

ऊपरके इस कथनसे यह भी स्पष्टरूपसे प्रमाणित होता है कि अपने पूज्यके प्रति आदर सत्काररूप प्रवर्त्तनेका नाम ही पूजन है। पूजा, भक्ति, उपासना और सेवा इत्यादि शब्द भी प्रायः एकार्थवाची हैं और उसी एक आशय और भावके द्योतक हैं। इसप्रकार पूजनका स्वरूप समझकर किसी भी गृहस्थको नित्यपूजन करनेसे नहीं चूकना चाहिये। सबको आनंद और भक्तिके साथ नित्यपूजन अवश्य करना चाहिये।

शूद्राऽधिकार ।

यहांपर, जिनके हृदयमें यह आशंका हो कि, शूद्र भी पूजन कर सकते हैं या नहीं? उनको समझना चाहिये कि जब तिर्यंच भी पूजनके अधिकारी वर्णन किये गये हैं तब शूद्र, जो कि मनुष्य हैं और तिर्यंचोंसे ऊंचा दर्जा रखते हैं, कैसे पूजनके अधिकारी नहीं हैं? क्या शूद्र जैनी नहीं हो सकते? या श्रावकके व्रत धारण नहीं कर सकते? जब शूद्रोंको यह सब कुछ अधिकार प्राप्त है और वे श्रावकके बारह व्रतोंको धारणकर ऊंचे दर्जेके श्रावक बन सकते हैं और हमेशासे शूद्र लोग जैनी ही नहीं; किन्तु ऊंचे दर्जेके श्रावक (क्षुल्लकतक) होते आये हैं, तब उनके लिये पूजनका निषेध कैसे हो सकता है? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजके वचनानुसार, जब विना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता, और

शूद्र लोग भी श्रावक जरूर होते हैं, तब उनको पूजनका अधिकार स्वतः सिद्ध है।

भगवानके समवसरणमें, जहां तिर्यंच भी जाकर पूजन करते हैं, वहां जिसप्रकार अन्य मनुष्य जाते हैं, उसीप्रकार शूद्रलोग भी जाते हैं और अपनी शक्तिके अनुसार भगवानका पूजन करते हैं। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें, महावीरस्वामीके समवसरणका वर्णन करते हुए, लिखा है—समवसरणमें जब श्रीमहावीरस्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया, तो उसको सुनकर बहुतसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग मुनि होगये और चारों वर्णोंके स्त्रीपुरुषोंने अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रोंने, श्रावकके बारह व्रत धारण किये। इतना ही नहीं, किन्तु उनकी पवित्रवाणीका यहांतक प्रभाव पड़ा कि कुछ तिर्यंचोंने भी श्रावकके व्रत धारण किये। इससे, पूजा-वन्दना और धर्मश्रवणके लिये शूद्रोंका समवसरणमें जाना प्रगट है। शूद्रोंके पूजन सम्बंधमें बहुतसी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। पुण्यास्रवकथाकोशमे लिखा है कि एक माली (शूद्र) की दो कन्याएं, जिनका नाम कुसुमावती और पुष्पवती था, प्रतिदिन एक एक पुष्प जिनमंदिरकी देहलीपर चढ़ाया करती थीं। एक दिन वनसे पुष्प लाते समय उनको सर्पने काट खाया और वे दोनों कन्याएँ मरकर, इस पूजनके फलसे सौधर्मस्वर्गमें देवी हुईं।" इसी शास्त्रमें एक—पशुचरानेवाले नीच कुली ग्वालेकी भी कथा लिखी है, जिसने सहस्रकूट चैत्यालयमें जाकर, चुपकेसे नहीं किन्तु राजा, सेठ और सुगुप्ति नामा मुनिराजकी उपस्थिति (मौजूदगी) में एक बृहत् कमल श्रीजिनदेवके चरणोंमें चढ़ाया और इस पूजनके प्रभावसे अगले ही जन्ममें महाप्रतापी राजा करकुंडु हुआ। यह कथा श्रीआराधनासारकथाकोशमे भी लिखी है। इस ग्रंथमें ग्वालेकी पूजन-विधिका वर्णन इसप्रकार किया है:—

"तदा गोपालकः सोऽपि स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रतः।
'भोः सर्वोत्कृष्ट! मे पद्मं ग्रहाणेदमिति' स्फुटम् ॥१५॥

उक्त्वा जिनेंद्रपादाब्जोपरि क्षिप्त्वाशु पंकजम्।
गतो, मुग्धजनानां च भवेत्सत्कर्म शर्मदम् ॥ १६ ॥”

करकुडुकथा

अर्थात्—जब सुगुप्तिमुनिके द्वारा ग्वालेको यह मालूम होगया कि, सबसे उत्कृष्ट जिनदेव ही हैं—तब उस ग्वालेने, श्रीजिनेंद्रदेवके सन्मुख खड़े होकर और यह कहकर कि 'हे सर्वोत्कृष्ट मेरे इस कमलको स्वीकार करो' वह कमल श्रीजिनदेवके चरणोंपर चढा दिया और इसके पश्चात् वह ग्वाला मंदिरसे चला गया। ग्रन्थकार कहते हैं कि, भला काम (सत्कर्म) मूर्ख मनुष्योंको भी सुखका देनेवाला होता है। इसीप्रकार शूद्रोंके पूजन सम्बंधमें और भी बहुतसी कथाएँ हैं।

कथाओंको छोड़कर जब वर्त्तमान समयकी ओर देखा जाता है, तब भी यही मालूम होता है कि, आज कल भी बहुतसे स्थानोंपर शूद्रलोग पूजन करते हैं। जो जैनी शूद्र हैं वा शूद्रोंका कर्म करते हुए जिनको पीढ़ियाँ बीत गईं, वे तो पूजन करते ही हैं; परन्तु बहुतसे ऐसे भी शूद्र हैं जो प्रगटपने वा व्यवहारमें जैनी न होने वा न कहलाते हुए भी, किसी प्रतिमा वा तीर्थस्थानके अतिशय (चमत्कार) पर मोहित होनेके कारण, उन स्थानोंपर बराबर पूजन करते हैं—चांदनपुर (महावीरजी), केस-रियानाथ आदिक अतिशय क्षेत्रों और श्रीसम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थस्थानोंपर ऐसे शूद्रपूजकोंकी कमी नहीं है। ऐसे स्थानोंपर नीच ऊंच सभी जातियाँ पूजनको आती और पूजन करती हुई देखी जाती हैं। जिन लोगोंको चैतके मेलेपर चांदनपुर जानेका सुअवसर प्राप्त हुआ है, उन्होंने प्रत्यक्ष देखा होगा अथवा जिनको ऐसा अवसर नहीं मिला वे जाकर देख सकते हैं कि चैत्रशुक्ला चतुर्दशीसे लेकर तीन चार दिनतक कैसी कैसी नीच जातियोंके मनुष्य और कितने शूद्र, अपनी अपनी भाषाओंमें अनेक प्रकारकी जय बोलते, आनंदमें उछलते और कूदते, मंदिरके श्रीमंडपमें घुस जाते हैं और वहांपर अपने घरसे लाये हुए द्रव्यको चढ़ाकर तथा प्रदक्षिणा देकर मंदिरसे बाहर निकलते हैं। बल्कि वहां तो रथोत्सवके समय यहांतक होता है कि मंदिरका व्यासमाली,

जो चढ़ी हुई सामग्री लेनेवाला और निर्माल्य भक्षण करनेवाला है, स्वयं वीरभगवानकी प्रतिमाको उठाकर रथमें विराजमान करता है।

यदि शूद्रोंका पूजन करना असत्कर्म (बुरा काम) होता और उससे उनको पाप बन्ध हुआ करता, तो पशुचरानेवाले नीचकुली ग्वालेको कमलके फूलसे भगवानकी पूजा करनेपर उत्तम फलकी प्राप्ति न होती और मालीकी लड़कियोंको पूजन करनेसे स्वर्ग न मिलता। इसीप्रका शूद्रोंसे भी नीचापद धारण करनेवाले मेंडक जैसे तिर्यंच (जानवर) को पूजनके संकल्प और उद्यम मात्रसे देवगतिकी प्राप्ति न होती [क्योंकि जो काम बुरा है उसका संकल्प और उद्यम भी बुरा ही होता है अच्छा नहीं हो सकता] और हाथीको, अपनी सूंडमें पानी भरकर अभिषेक करने और कमलका फूल चढाकर बाँबीमें स्थित प्रतिमाका नित्यपूजन करनेसे, अगले ही जन्ममे मनुष्यभवके साथ साथ राज्यपद और राज्य न मिलता। इससे प्रगट है कि शूद्रोंका पूजन करना असत्कर्म नहीं हो सकता, बल्कि वह सत्कर्म है। आराधनासारकथाकोशमें भी ग्वालेके इस पूजन कर्मको सत्कर्म ही लिखा है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए श्लोक नं. १६ के चतुर्थ पदसे प्रगट है।

इन सब बातोंके अतिरिक्त जैनशास्त्रोंमें शूद्रोंके पूजनके लिये स्पष्ट आज्ञा भी पाई जाती है। श्रीधर्मसंग्रहश्रावकाचारके ९ वें अधिकारमें लिखा है कि—

"यजनं याजनं कर्माऽध्ययनाऽध्यापने तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चेति षट्कर्माणि द्विजन्मनाम्॥ २२५॥
यजनाऽध्ययने दानं परेषां त्रीणि ते पुनः।
जातितीर्थप्रभेदेन द्विधा ते ब्राह्मणादयः॥ २२६॥"

अर्थात्—ब्राह्मणोंके–पूजन करना, पूजन कराना, पढ़ना, पढ़ाना, दान देना, और दान लेना–ये छह कर्म हैं। शेष क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीन वर्णोंके पूजन करना, पढ़ना और दान देना-ये तीन कर्म हैं। और वे ब्राह्मणादिक जाति और तीर्थके भेदसे दो प्रकार हैं। इससे साफ प्रगट है

कि पूजन करना जिसप्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका धार्मिक कर्म है उसीप्रकार वह शूद्रोंका भी धार्मिक कर्म है।

इसी **धर्मसंग्रहश्रावकाचार**के ९ वें अधिकारके श्लोक नं. १४२ में, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवाले-के दो भेद वर्णन किये हैं–एक नित्यपूजन करनेवाला, जिसको **पूजक** कहते हैं। और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करनेवाला, जिसको **पूजकाचार्य** कहते हैं। इसके पश्चात् दो श्लोकोंमें, ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकको लक्ष्य करके, प्रथम भेद अर्थात् पूजकका स्वरूप इसप्रकार वर्णन किया है:—

"ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः॥ १४३॥
जात्या कुलेन पूतात्मा शुचिर्बन्धुसुहृज्जनैः।
गुरूपदिष्टमंत्रेण युक्तः स्यादेष पूजकः॥ १४४॥"

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंमेंसे किसी भी वर्णका धारक, जो—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंडविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, इसप्रकार सप्तशील व्रतकर सहित हो, सत्य और शौचका दृढ़तापूर्वक (निरतिचार) आचरण करनेवाला हो, सत्यवान् शौचवान् और दृढाचारी हो, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पांच अव्रतों (पापों) से रहित हो, जाति और कुलसे पवित्र हो, बन्धु मित्रादिकसे शुद्ध हो और गुरु उपदेशित मंत्रसे युक्त हो वा ऐसे मंत्रसे जिसका संस्कार हुआ हो; वह **उत्तम पूजक** कहलाता है। इसीप्रकार **पूजासार** ग्रंथमें भी पूजकके उपर्युक्त दोनों भेदोंका कथन करके, निम्न लिखित दो श्लोकोंमें नित्य-पूजकका, उत्कृष्टापेक्षा, प्रायः समस्त यही स्वरूप वर्णन किया है। यथा:—

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽऽद्यः सुशीलवान्।
दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः॥ १७॥

कुलेन जात्या संशुद्धो मित्रबन्ध्वादिभिः शुचिः।
गुरूपदिष्टमंत्राढ्यः प्राणिबाधादिदूरगः ॥ १८ ॥"

ऊपरके इन दोनों ग्रंथोंके प्रमाणोंसे भली भांति स्पष्ट है कि, शूद्रोंको भी श्रीजिनेंद्रदेवके पूजनका अधिकार प्राप्त है और वे भी नित्यपूजक होते हैं। साथ ही इसके यह भी प्रगट है कि शूद्र लोग साधारण पूजक ही नहीं, बल्कि ऊंचे दर्जेके नित्यपूजक भी होते हैं।

यहांपर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ऊपर जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया गया है वह पूजक मात्रका स्वरूप न होकर, ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका ही स्वरूप है वा उत्कृष्टकी अपेक्षा कथन किया गया है, यह सब, किस आधारपर माना जावे? इसका उत्तर यह है कि धर्मसंग्रहश्रावकाचारके श्लोक नं. १४४ में जो "एष" शब्द आया है वह उत्तमताका वाचक है। यह शब्द "एतद्" शब्दका रूप न होकर एक पृथक् ही शब्द है। वामन शिवराम आपटे कृत कोशमें इस शब्दका अर्थ अंग्रेजीमें desirable और to be desired किया है। संस्कृतमें इसका अर्थ प्रशस्त, प्रशंसनीय और उत्तम होता है। इसीप्रकार पूजासार ग्रंथके श्लोक नं. २८ में जहांपर पूजक और पूजकाचार्यका स्वरूप समाप्त किया है वहांपर, अन्तिम वाक्य यह लिखा है कि, "एवं लक्षणवानार्यो जिनपूजासु शस्यते।" (अर्थात् ऐसे लक्षणोंसे लक्षित आर्यपुरुष जिनेन्द्रदेवकी पूजामें प्रशंसनीय कहा जाता है।) इस वाक्यका अन्तिम शब्द "शस्यते" साफ़ बतला रहा है कि ऊपर जो स्वरूप वर्णन किया है वह प्रशस्त और उत्तम पूजकका ही स्वरूप है। दोनों ग्रंथोंमें इन दोनों शब्दोंसे साफ़ प्रकट है कि यह स्वरूप उत्तम पूजकका ही वर्णन किया गया है। परन्तु यदि ये दोनों शब्द (एष और शस्यते) दोनों ग्रंथोंमें न भी होते, या थोड़ी देरके लिये इनको गौण किया जाय तब भी, ऊपर कथन किये हुए पूजनसिद्धान्त, आचार्योंके वाक्य और नित्यपूजनके स्वरूपपर विचार करनेसे, यही नतीजा निकलता है कि, यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकको लक्ष्य करके ही लिखा गया है। लक्षणसे इसका कुछ सम्बंध नहीं है। क्योंकि लक्षण लक्ष्यके सर्व देशमें व्यापक होता है। ऊपरका स्वरूप ऐसा नहीं है जो साधारणसे

साधारण पूजकमें भी पाया जावे, इसलिये वह कदापि पूजकका लक्षण नहीं हो सकता। यदि ऐसा न माना जावे अर्थात्–इसको ऊंचे दर्जेके नित्य-पूजकका स्वरूप स्वीकार न किया जावे बल्कि, नित्य पूजक मात्रका स्वरूप वा दूसरे शब्दोंमें पूजकका लक्षण माना जावे तो इससे आज कलके प्रायः किसी भी जैनीको पूजनका अधिकार नहीं रहता। क्योंकि सप्त शीलव्रत और हिंसादिक पंच पापोंके त्याग रूप पंच अणुव्रत, इसप्रकार श्रावकके बारह व्रतोंका पूर्णतया पालन दूसरी (व्रत) प्रतिमामें ही होता है और वर्त्तमान जैनियोंमें इस प्रतिमाके धारक, दो चार त्यागियोंको छोड़कर, शायद कोई विरले ही निकलें! इसके सिवाय जैनसिद्धान्तोंसे बड़ा भारी विरोध आता है। क्योंकि जैनशास्त्रोंमें मुख्यरूपसे श्रावकके तीन भेद वर्णन किये हैं—

१ पाक्षिक, २ नैष्ठिक और ३ साधक। श्रावकधर्म, जिसका पक्ष और प्रतिज्ञाका विषय है अर्थात्–श्रावकधर्मको जिसने स्वीकार कर रक्खा है और उसपर आचरण करना भी प्रारंभ कर दिया है, परन्तु उस धर्मका निर्वाह जिससे यथेष्ट नहीं होता, उस प्रारब्ध देश संयमीको पाक्षिक कहते हैं। जो निरतिचार श्रावकधर्मका निर्वाह करनेमें तत्पर है उसको नैष्ठिक कहते हैं और जो आत्मध्यानमें तत्पर हुआ समाधिपूर्वक मरण साधन करता है उसको साधक कहते हैं *। नैष्ठिकश्रावकके दर्शनिक, व्रतिक आदि ११ भेद हैं जिनको ११ प्रतिमा भी कहते हैं। व्रतिक श्रावक अर्थात्–दूसरी प्रतिमावालेसे पहली प्रतिमावाला, और पहली प्रतिमावालेसे पाक्षिक श्रावक, नीचे दर्जेपर होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि पाक्षिकश्रावक, मूल भेदोंकी अपेक्षा, दर्शनिकसे एक और व्रतिकसे दो दर्जे नीचे होता है अथवा उसको सबसे घटिया दर्जेका श्रावक कहते हैं। परन्तु शास्त्रोंमें व्रतिकके समान, दर्शनिकहीको नहीं किन्तु, पाक्षिकको भी पूजनका अधिकारी वर्णन किया है, जैसा कि धर्मसंग्रहश्रावका-

---

* "पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक ॥ २० ॥

—सागारधर्मामृते।

चार (अ० ५) में निम्नलिखित श्लोकों द्वारा उनके स्वरूप कथनसे प्रगट है:—

"सम्यग्दृष्टिः सातिचारमूलाणुव्रतिपालकः ।
अर्चादिनिरतस्त्वग्रपदं कांक्षी हि पाक्षिकः ॥ ४ ॥"
"पाक्षिकाचारसम्पत्या निर्मलीकृतदर्शनः ।
विरक्तो भवभोगाभ्यामर्हदादिपदार्चकः ॥ १४ ॥
मलान्मूलगुणानां निर्मूलयन्नग्रिमोत्सुकः ।
न्याय्यां वार्त्तां वपुःस्थित्यै दधद्दर्शनिको मतः ॥ १५ ॥

ऊपरके श्लोकोंमें, "अर्चादिनिरतः" (पूजनादिमें तत्पर) इस पदसे, पाक्षिकश्रावकके लिये पूजन करना जरूरी रक्खा है। और "अर्हदादिपदाऽर्चकः" (अर्हन्तादिकके चरणोंका पूजनेवाला) इस पदसे, दर्शनिक श्रावकके लिये पूजन करना आवश्यक कर्म बतलाया है। सागारधर्मामृतके दूसरे अध्यायमें, जिसका अन्तिम काव्य, "सैषः प्राथमकल्पिकः..." इत्यादि है, पाक्षिकश्रावकका सदाचारवर्णन किया है। उसमें भी, "यजेत देवं सेवेत गुरून्..." इत्यादि श्लोकों द्वारा, पाक्षिकश्रावकके लिये नित्यपूजन करनेका विधान किया है। भगवज्जिनसेनाचार्य भी आदिपुराणमें निम्न लिखित श्लोक द्वारा सूचित करते हैं कि, पूजन करना प्राथमकल्पिकी (पाक्षिकी) वृत्ति अर्थात् पाक्षिकश्रावकका कर्म वा श्रावक मात्रका प्रथम कर्म है। यथा:—

"एवं विधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम् ।
विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम् ॥"
प. ३८-३४

यह तो हुई पाक्षिकश्रावककी बात, अब अविरतसम्यग्दृष्टिको लीजिये अर्थात्–ऐसे सम्यग्दृष्टिको लीजिये, जिसके किसी प्रकारका कोई व्रत होना तो दूर रहा, व्रत वा संयमका आचरण भी अभीतक जिसने प्रारंभ नहीं किया। जैनशास्त्रोंमें ऐसे अव्रतीको भी पूजनका अधिकारी

वर्णन किया है। प्रथमानुयोगके ग्रंथोंसे प्रगट है कि, स्वर्गादिकके प्रायः सभी देव, देवांगना सहित, समवसरणादिमें जाकर साक्षात् श्रीजिनेंद्र-देवका पूजन करते हैं, नंदीश्वर द्वीपादिकमें जाकर जिनबिम्बोंका अर्चन करते हैं और अपने विमानोंके चैत्यालयोंमें नित्यपूजन करते हैं। जगह जगह शास्त्रोंमें नियमपूर्वक उनके पूजनका विधान पाया जाता है। परन्तु वे सब अव्रती ही होते हैं-उनके किसी प्रकारका कोई व्रत नहीं होता। देवोंको छोड़कर अव्रती मनुष्योंके पूजनका भी कथन शास्त्रोंमें स्थान स्थान-पर पाया जाता है। समवसरणमें अव्रती मनुष्य भी जाते हैं और जिन-वाणीको सुनकर उनमेंसे बहुतसे व्रत ग्रहण करते हैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए हरिवंशपुराणके कथनसे प्रगट है। महाराजा श्रेणिक भी अव्रती ही थे, जो निरन्तर श्रीवीरजिनेंद्रके समवसरणमें जाकर भगवानका साक्षात् पूजन किया करते थे। और जिन्होंने अपनी राजधानीमें, स्थान स्थानपर अनेक जिनमंदिर बनवाये थे, जिसका कथन हरिवंशपुराणा-दिकमें मौजूद है। सागारधर्मामृतमें पूजनके फलका वर्णन करते हुए साफ़ लिखा है कि:—

"दृक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः।
श्रयन्त्यहंपूर्विकया किं पुनर्व्रतभूषितम्॥ ३२॥"

अर्थात्—अर्हंतका पूजन करनेवाले अविरतसम्यग्दृष्टिको भी, पूजा, धन, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल और परिजनादिक सम्पदाएं-मैं पहले, ऐसी शी-घ्रता करती हुई प्राप्त होती हैं। और जो व्रतसे भूषित है उसका कहना ही क्या? उसको वे सम्पदाएं और भी विशेषताके साथ प्राप्त होती हैं।

इससे यही सिद्ध हुआ कि-धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासारमें वर्णित पूजकके उपर्युक्त स्वरूपको पूजकका लक्षण माननेसे, जो व्रतीश्रावक दूसरी प्रतिमाके धारक ही पूजनके अधिकारी ठहरते थे, उसका आगमसे विरोध आता है। इसलिये वह स्वरूप पूजक मात्रका स्वरूप नहीं है किन्तु ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकका ही स्वरूप है। और इसलिये शूद्र भी ऊंचे दर्जेका नित्यपूजक हो सकता है।

यहांपर इतना और भी प्रगट कर देना जरूरी है कि, जैन शास्त्रोंमें आच-

रण सम्बंधी कथनशैलीका लक्ष्य प्रायः उत्कृष्ट ही रक्खा गया मालूम होता है। प्रत्येक ग्रंथमें उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यरूप समस्त भेदोंका वर्णन नहीं किया गया है। किसी किसी ग्रंथमें ही यह विशेष मिलता है। अन्यथा जहां तहां सामान्यरूपसे उत्कृष्टका ही कथन पाया जाता है। इसके कारणोंपर जहांतक विचार किया जाता है तो यही मालूम होता है कि, प्रथम तो उत्कृष्ट आचरणकी प्रधानता है। दूसरे समस्त भेद-प्रभेदोंका वर्णन करनेसे ग्रंथका विस्तार बहुत ज्यादह बढ़ता है और इस ग्रंथ-विस्तारका भय हमेशा ग्रंथकर्त्ताओंको रहता है। क्योंकि विस्तृत ग्रंथके सम्बंधमें पाठकोंमें एक प्रकारकी अरुचिका प्रादुर्भाव हो जाता है और सर्व साधारणकी प्रवृत्ति उसके पठन-पाठनमें नहीं होती। तथा ऐसे ग्रंथका रचना भी कोई आसान काम नहीं है—समस्तविषयोंका एक ग्रंथमें समावेश करना बढा ही दुःसाध्य कार्य है। इसके लिये अधिक काल, अधिक अनुभव और अधिक परिश्रमकी सविशेषरूपसे आवश्यक्ता है। तीसरे ग्रंथोंकी रचना प्रायः ग्रंथकारोंकी रुचिपर ही निर्भर होती है—कोई ग्रंथकार संक्षेपप्रिय होते हैं और कोई विस्तारप्रिय-उनकी इच्छा है कि वे चाहे, अपने ग्रंथमें, जिस विषयको मुख्य रक्खें और चाहे, जिस विषयको गौण। जिस विषयको ग्रंथकार अपने ग्रंथमें मुख्य रखता है उसका प्रायः विस्तारके साथ वर्णन करता है। और जिस विषयको गौण रखता है उसका सामान्यरूपसे उत्कृष्टकी अपेक्षा कथन कर देता है। यही कारण है कि कोई विषय एक ग्रंथमें विस्तारके साथ मिलता है और कोई दूसरे ग्रंथमे। बल्कि एक विषयकी भी कोई बात किसी ग्रंथमें मिलती है और कोई किसी ग्रंथमें। दृष्टान्तके तौरपर पूजनके विषयहीको लीजिये—स्वामी समन्तभद्राचार्यने, रत्नकरंडश्रावकाचारमें, देवाधिदेव चरणे..."तथा"अर्हच्चरणसपर्या..." इन, पूजनके प्रेरक और पूजन-फल प्रतिपादक, दो श्लोकोंके सिवाय इस विषयका कुछ भी वर्णन नहीं किया। श्रीपद्मनन्दिआचार्यने, पद्मनंदिपंचविंशतिकामें, गृहस्थियोंके लिये पूजनकी खास जरूरत वर्णन की है और उसपर जोर दिया है। परन्तु पूजन और पूजकके भेदोंका कुछ वर्णन नहीं किया। वसुनन्दिआचार्यने, वसुनन्दिश्रावकाचारमें, भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें, इसका कुछ कुछ विशेष वर्णन

किया है। इसीप्रकार सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार वगैरह ग्रंथोमें भी इसका कुछ कुछ विशेष वर्णन पाया जाता है; परन्तु पूरा कथन किसी भी एक ग्रंथमें नहीं मिलता। कोई बात किसीमें अधिक है और कोई किसीमें। इसीप्रकार ग्यारह प्रतिमाओंके कथनको लीजिये—बहुतसे ग्रंथोंमें इनका कुछ भी वर्णन नहीं किया, केवल नाम मात्र कथन कर दिया वा प्रतिमाका भेद न कहकर सामान्य रूपसे श्रावकके १२ व्रतोंका वर्णन कर दिया है। रत्नकरंडश्रावकाचारमें इनका बहुत सामान्यरूपसे कथन किया गया है। वसुनन्दिश्रावकाचारमें उससे कुछ अधिक वर्णन किया गया है। परन्तु सागारधर्मामृतमें, अपेक्षाकृत, प्रायः अच्छां खुलासा मिलता है। ऐसी ही अवस्था अन्य और भी विषयोंकी समझ लेनी चाहिए। अब यहांपर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ग्रंथकार जिस विषयको गौण करके उसका सामान्य कथन करता है वह उसका उत्कृष्टकी अपेक्षासे क्यों कथन करता है, जघन्यकी अपेक्षासे क्यों नहीं करता? इसका उत्तर यह है कि, प्रथमतो उत्कृष्ट आचरणकी प्रधानता है। जबतक उत्कृष्ट दर्जेके आचरणमें अनुराग नहीं होता तबतक नीचे दर्जेके आचरणको आचरण ही नहीं कहते, + इससे उसके लिये साधन अवश्य चाहिये। दूसरे ऊंचे दर्जेके आचरणमें किंचित् भी स्खलित होनेसे स्वतः ही नीचे दर्जेका आचरण हो जाता है। संसारीजीवोंकी प्रवृत्ति और उनके संस्कार ही प्रायः उनको नीचेकी ओर ले जाते हैं, उसके लिये नियमित रूपसे किसी विशेष उपदेशकी जरूरत नहीं। तीसरे ऊंचे दर्जेको

+ सागारधर्मामृतके प्रथम श्लोककी टीकामे लिखा है, "यतिधर्मानुरागरहितानामागारिणां देशविरतेरप्यसम्यक्रूपत्वात्। सर्वविरतिलालसः खलु देशविरतिपरिणामः।" अर्थात् यतिधर्ममें अनुराग रहित गृहस्थियोंका 'देशव्रत' भी मिथ्या है। सकलविरतिमें जिसकी लालसा है वही देशविरतिके परिणामका धारक हो सकता है। इससे भी यही नतीजा निकलता है कि, जघन्य चारित्रका धारक भी कोई तब ही कहलाया जा सकता है जब वह ऊंचे दर्जेके आचरणका अनुरागी हो और शक्ति आदिकी न्यूनतासे उसको धारण न कर सकता हो।

छोड़कर अक्रमरूपसे नीचे दर्जेका ही उपदेश देनेवालेको जैनशासनमें दुर्बुद्ध और दण्डनीय कहा है, जैसा कि स्वामी अमृतचंद्रआचार्यके निम्न लिखित वाक्योंसे ध्वनित है:—

"यो मुनिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥ १८ ॥
अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि संप्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥"

—पुरुषार्थसिद्ध्युपायः।

यह शासन दंड भी संक्षेप और सामान्य लिखनेवालोंको उत्कृष्टकी अपेक्षासे कथन करनेमें कुछ कम प्रेरक नहीं है। इन्हीं समस्त कारणोंसे आचरण सम्बंधी कथनशैलीका प्रायः उत्कृष्टाऽपेक्षासे होना पाया जाता है। किसी किसी ग्रंथमें तो यह उत्कृष्टता यहांतक बढ़ी हुई है कि साधारण पूजकका स्वरूप वर्णन करना तो दूर रहा, ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका भी स्वरूप वर्णन नहीं किया है। बल्कि पूजकाचार्यका ही स्वरूप लिखा है। जैसा कि वसुनन्दिश्रावकाचारमें, नित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर, पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य) का ही स्वरूप लिखा है। इसीप्रकार एकसंधिभट्टारककृत जिनसंहितामें पूजकाचार्यका ही स्वरूप वर्णन किया है। परन्तु इस संहितामें इतनी विशिष्टता और है कि, पूजक शब्दकर ही पूजकाचार्यका कथन किया है। यद्यपि 'पूजक' शब्दकर पूजक (नित्यपूजक) और पूजकाचार्य (प्रतिष्ठादिविधान करनेवाला पूजक) दोनोंका ग्रहण होता है—जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए पूजासार ग्रंथके, "पूजकः पूजकाचार्यः इति द्वेधा स पूजकः," इस वाक्यसे प्रगट है—तथापि साधारण ज्ञानवाले मनुष्योंको इससे भ्रम होना संभव है। अतः यहांपर यह बतला देना ज़रूरी है कि उक्त जिनसंहितामें जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमें पूजकाचार्यका ही स्वरूप है। वह स्वरूप इस संहिताके तीसरे परिच्छेदमें इसप्रकार लिखा है!—

"अथ वक्ष्यामि भूपाल! शृणु पूजकलक्षणम्।
लक्षितं भगवद्दिव्यवचस्यखिलगोचरे ॥ १ ॥

त्रैवर्णिकोऽभिरूपाङ्गः सम्यग्दृष्टिरणुव्रती ।
चतुरः शौचवान्विद्वान् योग्यः स्याज्जिनपूजने ॥ २ ॥
न शूद्रः स्यान्नदुर्दृष्टिर्न पापाचारपण्डितः ।
न निकृष्टक्रियावृत्तिर्नातंकपरिदूषितः ॥ ३ ॥
नाऽधिकाङ्गो न हीनाङ्गो नाऽतिदीर्घो न वामनः ।
नाऽविदग्धो न तन्द्रालुर्नाऽतिवृद्धो न बालकः ॥ ४ ॥
नाऽतिलुब्धो न दुष्टात्मा नाऽतिमानी न मायिकः ।
नाऽशुचिर्न विरूपाङ्गो नाऽजानन् जिनसंहिताम् ॥५॥
निषिद्धः पुरुषो देवं यद्यर्चेत् त्रिजगत्प्रभुम् ।
राजराष्ट्रविनाशः स्यात्कर्तृकारकयोरपि ॥ ६ ॥
तस्माद्यत्नेन गृह्णीयात्पूजकं त्रिजगद्गुरोः ।
उक्तलक्षणनेवाऽऽर्यः कदाचिदपि नाऽपरम् ॥ ७ ॥

"यदीन्द्रवृन्दाऽर्चितपादपंकजं
जिनेश्वरं प्रोक्तगुणः समर्चयेत् ।
नृपश्च राष्ट्रं च सुखास्पदं भवेत्
तथैव कर्त्ता च जनश्च कारकः ॥ ८ ॥

भावार्थ इसका यह है कि, "हे राजन्, मैं अब श्रीजिनभगवानके वचनानुसार पूजकका लक्षण कहता हूं, उसको तुम सुनो । "जो तीनों वर्णोंमेंसे किसी वर्णका धारक हो, रूपवान हो, सम्यग्दृष्टि हो, पंच अणुव्रतका पालन करनेवाला हो, चतुर हो, शौचवान् हो और विद्वान् हो वह जिनदेवकी पूजा करनेके योग्य होता है । (परन्तु) शूद्र, मिथ्यादृष्टि, पापाचारमें प्रवीण, नीचक्रिया तथा नीचकर्म करके आजीविका करनेवाला, रोगी, अधिक अंगवाला, अंगहीन, अधिक लम्बेक़दका, बहुत छोटेक़दका (वामना), भोला वा मूर्ख, निद्रालु वा आलसी, अतिवृद्ध, बालक,

अतिलोभी, दुष्टात्मा, अतिमानी, मायाचारी, अपवित्र, कुरूप और जिन-संहिताको न जाननेवाला पूजन करनेके योग्य नहीं होता है। यदि निषिद्ध पुरुष भगवानका पूजन करे तो राजा और देशका तथा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोंका नाश होता है। इसलिये पूजन करानेवालेको-यत्नके साथ जिनेंद्रदेवका पूजक ऊपर कहे हुए लक्षणोंवाला ही ग्रहण करना चाहिये–दूसरा नहीं। यदि ऊपर कहे हुए गुणोंवाला पूजक, इन्द्र समूहकर वंदित श्रीजिनदेवके चरणकमलकी पूजा करे, तो राजा और देश तथा पूजन करनेवाला और करानेवाला सब सुखके भागी होते हैं।"

अब यहांपर विचारणीय यह है कि, यह उपर्युक्त स्वरूप साधारण-नित्यपूजकका है या ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका अथवा यह स्वरूप पूजकाचार्यका है। साधारण नित्यपूजकका स्वरूप हो नहीं सकता। क्योंकि ऐसा माननेपर आगमसे विरोधादिक समस्त वही दोष यहां भी पूर्ण रूपसे घटित होते हैं, जो कि धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासारमें वर्णन किये हुए ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकके स्वरूपको नित्यपूजक मात्रका स्वरूप स्वीकार करनेपर विस्तारके साथ ऊपर दिखलाये गये हैं। बल्कि इस स्वरूपमें कुछ बातें उससे भी अधिक हैं, जिनसे और भी अनेक प्रकारकी बाधाएं उपस्थित होती हैं और जो विस्तार भयसे यहां नहीं लिखीं जाती। इस स्वरूपके अनुसार जो जैनी रूपवान् नहीं है, विद्वान् नहीं है, चतुर नहीं है अर्थात् भोला वा मूर्ख है, जो जिनसंहिताको नहीं जानता, जिसका कद अधिक लम्बा या छोटा है, जो बालक है या अतिवृद्ध है, जो पापके काम करना जानता है और जो अति-मानी, मायाचारी और लोभी है, वह भी पूजनका अधिकारी नहीं ठहरता। इसको साधारण नित्यपूजकका स्वरूप माननेसे पूजनका मार्ग और भी अधिक इतना तंग (संकीर्ण) हो जाता है कि वर्तमान १३ लाख जैनियोंमें शायद कोई बिरला ही जैनी ऐसा निकले जो इन समस्त लक्षणोंसे सुसम्पन्न हो और जो जिनदेवका पूजन करनेके योग्य समझा जावे। वास्तवमे भक्तिपूर्वक जो नित्यपूजन किया जाता है उसके लिये इन बहुतसे विशेषणोंकी आवश्यकता नहीं है, यह ऊपर कहे हुए नित्यपूजन-के स्वरूपसे ही प्रगट है। अतः आगमसे विरोध आने तथा पूजन

सिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपसे विरुद्ध पड़नेके कारण यह स्वरूप साधारण नित्य पूजकका नहीं हो सकता । इसी प्रकार यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकका भी नहीं हो सकता। क्योंकि ऊंचे दर्जेके नित्य-पूजकका जो स्वरूप धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रंथोंमें वर्णन किया है और जिसका कथन ऊपर आचुका है, उससे इस स्वरूपमें बहुत कुछ विलक्षणता पाई जाती है। यहांपर अन्य बातोंके सिवा त्रैवर्णिक-को ही पूजनका अधिकारी वर्णन किया है; परन्तु ऊपर अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया जाचुका है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों ही वर्णके मनुष्य पूजन कर सकते हैं और ऊंचे दर्जेके नित्यपूजक होसकते हैं। इसलिये यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकतक ही पर्याप्त नहीं होता, बल्कि उसकी सीमासे बहुत आगे बढ़ जाता है।

दूसरे यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि ऊंचा दर्जा हमेशा नीचे दर्जेकी और नीचा दर्जा ऊंचे दर्जेकी अपेक्षासे ही कहा जाता है। जब एक दर्जेका मुख्य रूपसे कथन किया जाता है तब दूसरा दर्जा गौण होता है, परन्तु उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जाता। जैसा कि सकलचारित्र (महाव्रत) का वर्णन करते हुए देशचारित्र (अणुव्रत) और देशचा-रित्रका कथन करते समय सकलचारित्र गौण होता है; परन्तु उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जाता अर्थात् यह नहीं कहा जाता कि जिसमें महाव्रतीके लक्षण नहीं वह व्रती ही नहीं हो सकता । व्रती वह जरूर हो सकता है; परन्तु महाव्रती नहीं कहला सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि ग्रंथकार महोदयके लक्ष्यमें यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकका ही होता, तो वे कदापि साधारण (नीचे दर्जेके) नित्य पूजकका सर्वथा निषेध न करते–अर्थात्, यह न कहते कि इन लक्षणोंसे रहित दूसरा कोई पूजक होनेके योग्य ही नहीं या पूजन करनेका अधिकारी नहीं । क्योंकि दूसरा नीचे दर्जेवाला भी पूजक होता है और वह नित्यपूजन कर सकता है। यह दूसरी बात है कि वह कोई विशेष नैमित्तिक पूजन न कर सकता हो । परन्तु ग्रंथकार महोदय, "उक्तलक्षणामेवार्यः कदाचिदपि नाऽपरम्" इस सप्तम श्लोकके उत्तरार्धद्वारा स्पष्टरूपसे उक्त लक्षण रहित दूसरे मनु-ष्यके पूजकपनेका निषेध करते हैं, बल्कि छट्ठे श्लोकमें यहांतक लिखते हैं

कि यदि निषिद्ध (उक्तलक्षण रहित) पुरुष पूजन कर ले, तो राजा, देश, पूजन करनेवाला, और करानेवाला सब नाशको प्राप्त हो जावेंगे । इससे प्रगट है कि उन्होंने यह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकको भी लक्ष्य करके नहीं लिखा है। भावार्थ, इस स्वरूपका किसी भी प्रकारके नित्यपूजकके साथ नियमित सम्बन्ध (लज़ूम) न होनेसे, यह किसी भी प्रकारके नित्य पूजकका स्वरूप या लक्षण नहीं है। बल्कि उस नैमित्तिक पूजनविधानके कर्तासे सम्बन्ध रखता है जिस पूजनविधानमें पूजन करनेवाला और होता है और उसका करानेवाला अर्थात् उस पूजनविधानके लिये द्रव्यादि खर्च करानेवाला दूसरा होता है। क्योंकि स्वयं उपर्युक्त श्लोकोंमें आये हुए, "कर्तृकार-कयोः" "गृह्णीयात्" और "तथैव कर्त्ता च जनश्च कारकः" इन प-दोंसे भी यह बात पाई जाती है। "यत्नेन गृह्णीयात् पूजकं," "उक्त-लक्षणमेवार्यः," ये पद साफ बतला रहे हैं कि यदि यह वर्णन नित्य पूजकका होता तो यह कहने वा प्रेरणा करनेकी ज़रूरत नहीं थी कि पूज-नविधान करानेवालेको तलाश करके उक्त लक्षणोंवाला ही पूजक (पूजन-विधान करनेवाला) ग्रहण करना चाहिये, दूसरा नहीं । इसीप्रकार पूजन-फलवर्णनमें, "कर्तृकारकयोः" इत्यादि पदोंद्वारा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोंका भिन्न भिन्न निर्देश करनेकी भी कोई ज़रूरत नहीं थी; परन्तु चूंकि ऐसा किया गया है, इससे स्वयं ग्रंथकारके वाक्योंसे भी प्रगट है कि यह नित्यपूजकका स्वरूप या लक्षण नहीं है । तब यह स्व-रूप किसका है? इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहना पड़ता है कि पूजकके जो मुख्य दो भेद वर्णन किये गये हैं—१ एक नित्यपूजन करनेवाला और २ दूसरा प्रतिष्ठादिविधान करनेवाला–उनमेंसे यह स्वरूप प्रतिष्ठादिवि-धान करनेवाले पूजकका ही होसकता है, जिसको प्रतिष्ठाचार्य, पूजका-चार्य और इन्द्र भी कहते हैं। प्रतिष्ठादि विधानमें ही प्रायः ऐसा होता है कि विधानका करनेवाला तो और होता है और उसका करानेवाला दूसरा। तथा ऐसे ही विधानोंका शुभाशुभ असर कथंचित् राजा, देश, नगर और करानेवाले आदिपर पड़ता है। प्रतिष्ठाविधानमें प्रतिमाओंमें मंत्रद्वारा अ-र्हंतादिककी प्रतिष्ठा की जाती है। अतः जिस मनुष्यके मंत्रसामर्थ्यसे प्रति-माएँ प्रतिष्ठित होकर पूजने योग्य होती हैं वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं

होसकता। वह कोई ऐसा ही प्रभावशाली, माननीय, सर्वगुणसम्पन्न असाधारण व्यक्ति होना चाहिये।

इन सबके अतिरिक्त, पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका जो स्वरूप, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, पूजासार और प्रतिष्ठासारोद्धार आदिक जैनशास्त्रोंमें स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है उससे इस स्वरूपकी प्रायः सब बातें मिलती हैं। जिससे भलेप्रकार निश्चित होता है कि यह स्वरूप प्रतिष्ठादि-विधान करनेवाले पूजक अर्थात् प्रतिष्ठाचार्य या पूजकाचार्यसे ही सम्बन्ध रखता है। यद्यपि इस निबन्धमें पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप विवेचनीय नहीं है, तथापि प्रसंगवश यहांपर उसका किंचित् दिग्दर्शन करादेना ज़रूरी है ताकि यह मालूम करके कि दूसरे शास्त्रोंमे भी प्रायः यही स्वरूप प्रतिष्ठाचार्य या पूजकाचार्यका वर्णन किया है, इस विषयमें फिर कोई संदेह बाकी न रहे। सबसे प्रथम धर्मसंग्रहश्रावकाचारहीको लीजिये। इस ग्रंथके ९ वें अधिकारमें, नित्यपूजकका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर, श्लोक नं. १४५ से १५२ तक आठ श्लोकोंमें पूजकाचार्यका स्वरूप वर्णन किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं:—

"इदानीं पूजकाचार्यलक्षणं प्रतिपाद्यते।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो नानालक्षणलक्षितः॥ १४५॥
कुलजात्यादिसंशुद्धः सदृष्टिर्देशसंयमी।
वेत्ता जिनागमस्याऽनालस्यः श्रुतबहुश्रुतः॥ १४६॥
ऋजुर्वाग्मी प्रसन्नोऽपि गंभीरो विनयान्वितः।
शौचाचमनसोत्साहो दानवान्कर्मकर्मठः॥ १४७॥
साङ्गोपाङ्गयुतः शुद्धो लक्ष्यलक्षणवित्सुधीः।
स्वदारी ब्रह्मचारी वा नीरोगः सत्क्रियारतः॥ १४८॥
वारिमंत्रव्रतस्नातः प्रोषधव्रतधारकः।
निरभिमानी मौनी च त्रिसंध्यं देववन्दकः॥ १४९॥
श्रावकाचारपूतात्मा दीक्षाशिक्षागुणान्वितः।
क्रियाषोडशभिः पूतो ब्रह्मसूत्रादिसंस्कृतः॥ १५०॥

न हीनाङ्गो नाऽधिकाङ्गो न प्रलम्बो न वामनः ।
न कुरूपी न मूढात्मा न वृद्धो नातिबालकः ॥ १५१ ॥
न क्रोधादिकषायाढ्यो नार्थार्थी व्यसनी न च ।
नान्त्याख्रयो न तावाद्यौ श्रावकेषु न संयमी ॥ १५२॥"

इन उपर्युक्त पूजकाचार्यस्वरूपप्रतिपादक श्लोकोंमें जो—"ब्राह्मण- (ब्राह्मण हो), क्षत्रियः (क्षत्रिय हो), वैश्यः (वैश्य हो), नानालक्षणलक्षितः (शरीरसे सुन्दर हो), सदृष्टिः (सम्यग्दृष्टि हो), देशसंयमी (अणुव्रती हो), जिनागमस्य वेत्ता (जिनसंहिता आदि जैनशास्त्रोंका जाननेवाला हो). अनालस्यः (आलस्य वा तन्द्रारहित हो), वाग्मी (चतुर हो), विनयान्वितः (मानकषायके अभावरूप विनयसहित हो), शौचाचमनसोत्साहः (शौच और आचमन करनेमें उत्साहवान् हो), साङ्गोपाङ्गयुतः (ठीक अङ्गोपाङ्गका धारक हो), शुद्धः (पवित्र हो), लक्ष्यलक्षणवित्सुधीः (लक्ष्य और लक्षणका जाननेवाला बुद्धिमान् हो). स्वदारी ब्रह्मचारी वा (स्वदारसंतोषी हो या अपनी स्त्रीका भी त्यागी हो अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रतके जो दो भेद हैं उसमेंसे किसी भेदका धारक- हो), नीरोगः (रोगरहित हो), सत्क्रियारतः (नीची क्रियाके प्रतिकूल ऊंची और श्रेष्ठ क्रिया करनेवाला हो), वारिमंत्रव्रतस्नातः (जलस्नान, मंत्रस्नान और व्रतस्नानकर पवित्र हो), निरभिमानी (अभिमानरहित हो), न हीनाङ्गः (अंगहीन न हो), नाऽधिकाङ्गः (अधिक अंगका धारक न हो), न प्रलम्बः (लम्बे क़दका न हो), न वामनः (छोटेक़दका न हो), न कुरूपी (बदसूरत न हो), न मूढात्मा (मूर्ख न हो), न वृद्धः (बूढ़ा न हो), नाऽतिबालकः (अति बालक न हो), न क्रोधादिकषायाढ्यः (क्रोध, मान, माया, लोभ, इन कषायोंमेंसे किसी कषायका धारक न हो), नार्थार्थी (धनका लोभी तथा धन लेकर पूजन करनेवाला न हो), न च व्यसनी (और पापाचारी न हो),"— इत्यादि विशेषणपद आये हैं, उनसे प्रगट है कि उपर्युक्त जिनसंहितामें जो विशेषण पूजकके दिये है वे सब यहांपर साफ़ तौरसे पूजकाचार्यके वर्णन किये हैं। बल्कि श्लो० नं. १५१ तो जिनसंहिताके श्लोक नं ४

से प्रायः यहांतक मिलता जुलता है कि एकको दूसरेका रूपान्तर कहना चाहिये। इसीप्रकार निम्नलिखित तीन श्लोकोंमें जो ऐसे पूजकके द्वारा कियेहुए पूजनका फल वर्णन किया है वह भी जिनसंहिताके श्लोक नं. ६ और ८ से बिलकुल मिलता जुलता है। यथाः—

"ईदृग्दोषभृदाचार्यः प्रतिष्ठां कुरुतेऽत्र चेत्।
तदा राष्ट्रं पुरं राज्यं राजादिः प्रलयं व्रजेत्॥ १५३॥
कर्ता फलं न चाप्नोति नैव कारयिता ध्रुवम्।
ततस्तल्लक्षणश्रेष्ठः पूजकाचार्य इष्यते॥ १५४॥
पूर्वोक्तलक्षणैः पूर्णः पूजयेत्परमेश्वरम्।
तदा दाता पुरं देशं स्वयं राजा च वर्द्धते॥ १५५॥

अर्थात्—यदि इन दोषोंका धारक पूजकाचार्य कहींपर प्रतिष्ठा करावे, तो समझो कि देश, पुर, राज्य तथा राजादिक नाशको प्राप्त होते हैं और प्रतिष्ठा करनेवाला तथा करानेवाला ही अच्छे फलको प्राप्त दोनों नहीं होते इस लिये उपर्युक्त उत्तम उत्तम लक्षणोंसे विभूषित ही पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य) कहा जाता है। ऊपर जो जो पूजकाचार्यके लक्षण कह आये हैं, यदि उन लक्षणोंसे युक्त पूजक परमेश्वरका पूजन (प्रतिष्ठादि विधान) करे, तो उस समय धनका खर्च करनेवाला दाता, पुर, देश तथा राजा ये सब दिनोंदिन वृद्धिको प्राप्त होते हैं।

पूजासार ग्रंथमें भी, नित्य पूजकका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर, श्लोक नं० १९ से २८ तक पूजकाचार्यका स्वरूप वर्णन किया गया है। इस स्वरूपमें भी पूजकाचार्यके प्रायः वेही सब विशेषण दिये गये हैं जो कि **धर्मसंग्रहश्रावकाचार**में वर्णित हैं और जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। यथाः—

"लक्षणोद्भासी[1], जिनागमविशारदः, सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, देशसंयमभूषितः, वाग्मी, श्रुतबहुग्रन्थः, अनालस्यः, ऋजुः, विनयसंयुतः, पूतात्मा[2], पूतवाग्वृत्तिः[3],

---

१ शरीरसे सुन्दर हो. २ पापाचारी न हो. ३ सच बोलनेवाला हो तथा नीच क्रिया करके आजीविका करनेवाला न हो.

शौचाचमनतत्परः, साङ्गोपाङ्गेन संशुद्धः, लक्षणलक्ष्यवित्, नीरोगी, ब्रह्मचारी च स्वदाराऽरतिकोऽपि वा, जलमंत्रव्रतस्नातः, निरभिमानी, विचक्षणः, सुरूपी, सत्क्रियः, वैश्यादिषु समुद्भवः, इत्यादि।"

इसी प्रकार **प्रतिष्ठासारोद्धार** ग्रंथके प्रथम परिच्छेदमें, श्लोक नं० १० से १६ तक, जो प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप दिया गया है, उसमें भी—"कल्याणाङ्गः, रुजा हीनः, सकलेन्द्रियः, शुभलक्षणसम्पन्नः, सौम्यरूपः, सुदर्शनः, विप्रो वा क्षत्रियो वैश्यः, विकर्मकरणोऽज्झितः, ब्रह्मचारी गृहस्थो वा, सम्यग्दृष्टिः, निःकषायः, प्रशान्तात्मा, वेश्यादिव्यसनोज्झितः, दृष्टसृष्टक्रियः, विनयान्वितः, शुचिः, प्रतिष्ठाविधिवित्सुधीः, महापुराणशास्त्रज्ञः, न चार्थार्थी, न च द्वेष्टि—"

इत्यादि विशेषण पदोंसे प्रतिष्ठाचार्यके प्रायः वे ही समस्त विशेषण वर्णन किये गये हैं, जो कि **जिनसंहितामें** पूजकके और **धर्मसंग्रहश्रावकाचार** तथा **पूजासार** ग्रंथोंमें पूजकाचार्यके वर्णन किये हैं।

यह दूसरी बात है कि किसीने किसी विशेषणको संक्षेपसे वर्णन किया और किसीने विस्तारसे; किसीने एकशब्दमें वर्णन किया और किसीने अनेक शब्दोंमें; अथवा किसीने सामान्यतया एकरूपमें वर्णन किया और किसीने उसी विशेषणको शिष्योंको अच्छीतरह समझानेके लिये अनेक विशेषणोंमें वर्णन कर दिया परन्तु आशय सबका एक है, अतः सिद्ध है कि जिनसंहितामें जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमें प्रतिष्ठादिविधान करनेवाले पूजक अर्थात् पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका ही है।

इस प्रकार यह संक्षिप्त रूपसे, आचरण सम्बधी कथनशैलीका रहस्य है। **धर्मसंग्रहश्रावकाचार** और **पूजासार** ग्रन्थमें जो साधारणनित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका ही स्वरूप लिखा गया है, उसका भी यही कारण है।

यद्यपि ऊपर यह दिखलाया गया है कि उक्त दोनों ग्रंथोंमें जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया गया है वह ऊंचे दर्जेके नित्य पूजकका स्वरूप होनेसे और उसमें शूद्रको भी स्थान दिये जानेसे, शूद्र भी ऊंचे दर्जेका नित्य पूजक हो सकता है। तथापि इतना और समझ

लेना चाहिये कि शूद्र भी उन समस्त गुणोंका पात्र है जो कि, नित्य पूजकके स्वरूपमें वर्णन किये गये हैं और वह ११ वीं प्रतिमाको धारण करके ऊंचे दर्जेका श्रावक भी होसकता है, अतः उसके ऊंचे दर्जेके नित्य पूजक हो सकनेमें कोई बाधक भी प्रतीत नहीं होता। वह पूर्ण रूपसे नित्य पूजनका अधिकारी है। अब जिन लोगोंका ऐसा ख़याल है कि शूद्रोंका उपनीति (यज्ञोपवीत धारण) संस्कार नहीं होता और इस लिये वे पूजनके अधिकारी नहीं हो सकते; उनको समझना चाहिये कि पूजनके किसी ख़ास भेदको छोड़कर आमतौरपर पूजनके लिये यज्ञोपवीत (ब्रह्म-सूत्र जनेऊ)का होना ज़रूरी नहीं है। स्वर्गादिकके देव और देवांगनायें प्रायः सभी जिनेन्द्रदेवका नित्यपूजन करते हैं और ख़ास तौरसे पूजन करनेके अधिकारी वर्णन किये गये हैं; परन्तु उनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता। ऐसी ही अवस्था मनुष्यस्त्रियोंकी है। वे भी जगह जगह शास्त्रोंमें पूजनकी अधिकारिणी वर्णन की गई हैं। स्त्रियोंकी पूजनसम्बंधिनी असंख्य कथाओंसे जैनसाहित्य भरपूर है। उनका भी यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता। ऊपर उल्लेख की हुई कथाओंमें जिन गज-ग्वाल आदिने जिनेन्द्र-देवका पूजन किया है, वे भी यज्ञोपवीत संस्कारसे संस्कृत (जनेऊके धारक) नहीं थे। इससे प्रगट है कि नित्य पूजकके लिये यज्ञोपवीत संस्कारसे संस्कृत होना लाज़मी और ज़रूरी नहीं है और न यज्ञोपवीत पूजनका चिन्ह है। बल्कि वह द्विजोंके व्रतका चिन्ह है। जैसा कि आदिपुराण पर्व ३८-३९-४१ में, भगवज्जिन-सेनाचार्यके निम्नलिखित वाक्योंसे प्रगट है:—

"व्रतचिह्नं दधत्सूत्रम्.........."
" व्रतसिद्ध्यर्थमेवाऽहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम्..."
" व्रतचिह्नं भवेदस्य सूत्रं मंत्रपुरःसरम्...."
" व्रतचिह्नं च नः सूत्रं पवित्रं सूत्रदर्शितम्।"
" व्रतचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः।"

वर्तमान प्रवृत्ति (रिवाज़) की ओर देखनेसे भी यही मालूम होता है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना ज़रूरी नहीं समझा जाता। क्योंकि स्थान स्थानपर नित्यपूजन करनेवाले तो बहुत हैं परंतु यज्ञोपवीतसंस्कारसे

संस्कृत (जनेऊधारक) बिरले ही जैनी देखनेमें आते हैं। और उनमें भी बहुतसे ऐसे पाये जाते हैं जिन्होंने नाममात्र कन्धेपर सूत्र (तागा) डाल लिया है, वैसे यज्ञोपवीतसंबधी क्रियाकर्मसे वे कोसों दूर हैं। दक्षिण देशको छोड़कर अन्य देशोंमें तथा खासकर पश्चिमोत्तर प्रदेश अर्थात् युक्त-प्रांत और पंजाबदेशमें तो यज्ञोपवीतसंस्कारकी प्रथा ही, एक प्रकारसे, जैनियोंसे उठ गई है; परन्तु नित्यपूजन सर्वत्र बराबर होता है । इससे भी प्रगट है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना आवश्यक कर्म नहीं है और इस लिये **जनेऊका न होना शूद्रोंको नित्यपूजन करनेमें किसी प्रकार भी बाधक नहीं हो सकता**। उनको नित्यपूजनका पूरा पूरा अधिकार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि कोई अस्पृश्य शूद्र, अपनी अस्पृश्यताके कारण, किसी मंदिरमें प्रवेश न कर सके और मूर्तिको न छू सके; परन्तु इससे उसका पूजनाधिकार खंडित नहीं होजाता। वह अपने घरपर त्रिकाल देववन्दना कर सकता है, जो नित्यपूजनमें दाखिल है । तथा तीर्थस्थानों, अतिशय क्षेत्रों और अन्य ऐसे पर्वतोपर–जहां खुले मैदानमें जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं और जहां भील, चाण्डाल और म्लेच्छतक भी विना रो-कटोक जाते है–जाकर दर्शन और पूजन कर सकता है। इसी प्रकार वह बा-हरसे ही मंदिरके शिखरादिकमें स्थित प्रतिमाओंका दर्शन और पूजन कर सकता है। प्राचीन समयमें प्रायः जो जिनमन्दिर बनवाये जाते थे, उनके शिखर या द्वार आदिक अन्य किसी ऐसे उच्च स्थानपर, जहां सर्व साधार-णकी दृष्टि पड़ सके, कमसेकम एक जिनप्रतिमा ज़रूर विराजमान की जाती थी, ताकि (जिससे) वे जातियां भी जो अस्पृश्य होनेके कारण, मंदि-रमें प्रवेश नहीं कर सकतीं, बाहरसे ही दर्शनादिक कर सकें। यद्यपि आज-कल ऐसे मंदिरोंके बनवानेकी वह प्रशंसनीय प्रथा जाती रही है–जिसका प्रधान कारण जैनियोंका क्रमसे ह्रास और इनमेसें राजसत्ताका सर्वथा लोप हो जाना ही कहा जा सकता है–तथापि दक्षिण देशमें, जहांपर अन्तमें जैनि-योंका बहुत कुछ चमत्कार रह चुका है और जहांसे जैनियोंका राज्य उठे-हुए बहुत अधिक समय भी नहीं हुआ है, इस समय भी ऐसे जिनमंदिर विद्यमान हैं जिनके शिखरादिकमें जिनप्रतिमाएँ अंकित हैं।

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों ही वर्णके सब मनुष्य नित्यपूजनके अधिकारी हैं और खुशीसे नित्यपूजन कर सकते हैं। नित्यपूजनमें उनके लिये यह नियम नहीं है कि वे पूजकके उन समस्त गुणोंको प्राप्त करके ही पूजन कर सकते हो, जो कि धर्मसंग्रहश्रावकाचार और पूजासार ग्रंथोंमें वर्णन किये हैं। बल्कि उनके विना भी वे पूजन कर-सकते हैं और करते हैं। क्योंकि पूजकका जो स्वरूप उक्त ग्रंथोंमें वर्णन किया है वह ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका स्वरूप है और जब वह स्वरूप ऊंचे दर्जेके नित्यपूजकका है तब यह स्वतःसिद्ध है कि उस स्वरूपमें वर्णन किये हुए गुणोंमेंसे यदि कोई गुण किसीमें न भी होवे तो भी वह पूजनका अधिकारी और नित्यपूजक हो सकता है–दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि जिनके हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (परस्त्रीसेवन)–परिग्रह–इन पंच पापों या इनमेंसे किसी पापका त्याग नहीं है, जो दिग्विरतिआदि सप्त-शीलव्रत या उनमेंसे किसी शीलव्रतके धारक नहीं हैं अथवा जिनका कुल और जाति शुद्ध नहीं है या इसी प्रकार और भी किसी गुणसे जो रहित हैं, वे भी नित्यपूजन कर सकते हैं और उनको नित्यपूजनका अधि-कार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि गुणोंकी अपेक्षा उनका दर्जा क्या होगा? अथवा फलप्राप्तिमें अपने अपने भावोंकी अपेक्षा उनके क्या कुछ न्यूना-धिक्यता (कमीबेशी) होगी? और वह यहांपर विवेचनीय नहीं है।

यद्यपि आजकल अधिकांश ऐसे ही गृहस्थ जैनी पूजन करते हुए देखे जाते हैं जो हिंसादिक पांच पापोंके त्यागरूप पंचअणुव्रत या दिग्विरति आदि सप्तशीलव्रतके धारक नहीं हैं; तथापि प्रथमानुयोगके ग्रंथोंको देखनेसे मालूम होता है कि, ऐसे लोगोंका यह (पूजनका) अधिकार अर्वाचीन नहीं बल्कि प्राचीन समयसे ही उनको प्राप्त है। जहां तहां जैन-शास्त्रोंमे दियेहुए अनेक उदाहरणोंसे इसकी भले प्रकार पुष्टि होती है:—

लंकाधीश महाराज रावण परस्त्रीसेवनका त्यागी नहीं था, प्रत्युत वह परस्त्रीलम्पट विख्यात है। इसी दुर्वासनासे प्रेरित होकर ही उसने प्रसिद्ध सती सीताका हरण किया था। इसविषयमें उसकी जो कुछ भी

प्रतिज्ञा थी वह एतावन्मात्र (केवल इतनी) थी कि, "जो कोई भी परस्त्री मुझको नहीं इच्छेगी, मैं उससे बलात्कार नहीं करूंगा।" नहीं कह सकते कि उसने कितनी परस्त्रियोंका जो किसी भी कारणसे उससे रज़ामन्द (सहमत) होगई हों—सतीत्वभंग किया होगा अथवा उक्त प्रतिज्ञासे पूर्व कितनी परदाराओंसे बलात्कार भी किया होगा। इस परस्त्रीसेवनके अतिरिक्त वह हिंसादिक अन्य पापोंका भी त्यागी नहीं था। दिग्विरति आदि सप्तशील व्रतोंके पालनकी तो वहां बात ही कहां? परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराणमें अनेक स्थानोंपर ऐसा वर्णन मिलता है कि "महाराजा रावणने बड़ी भक्तिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन किया। रावणने अनेक जिनमंदिर बनवाये। वह राजधानीमें रहतेहुए अपने राजमन्दिरोंके मध्यमें स्थित श्रीशांतिनाथके सुविशाल चैत्यालयमें पूजन किया करता था। बहुरूपिणी विद्याको सिद्ध करनेके लिये बैठनेसे पूर्व तो उसने इस चैत्यालयमें बड़े ही उत्सवके साथ पूजन किया था और अपनी समस्त प्रजाको पूजन करनेकी आज्ञा दी थी। सुदर्शन मेरु और कैलाश पर्वत आदिके जिनमंदिरोंका उसने पूजन किया और साक्षात् केवली भगवानका भी पूजन किया।

कौशांबी नगरीका राजा सुमुख भी परस्त्रीसेवनका त्यागी नहीं था। उसने वीरक सेठकी स्त्री वनमालाको अपने घरमें डाल लिया था। फिर भी उसने महातपस्वी वरधर्म नामके मुनिराजको वनमालासहित आहार दिया और पूजन किया। यह कथा जिनसेनाचार्यकृत तथा जिनदास ब्रह्मचारीकृत दोनों हरिवंश पुराणोंमें लिखी है।

इसी प्रकार और भी सैकड़ों प्राचीन कथाएँ विद्यमान हैं, जिनमें पापियों तथा अव्रतियोंका पापाचरण कहीं भी उनके पूजनका प्रतिबन्धक नहीं हुआ और न किसी स्थानपर ऐसे लोगोंके इस पूजन कर्मको असत्कर्म बतलाया गया। वास्तवमें, यदि विचार किया जाय तो मालूम होगा कि जिनेंद्रदेवका भावपूर्वक पूजन स्वयं पापोंका नाश करनेवाला है, शास्त्रोंमें उसे अनेक जन्मोंके संचित पापोंको भी क्षणमात्रमें भस्मकर देनेवाला वर्णन

किया है* । इसीसे पापोंकी निवृत्तिपूर्वक इष्ट सिद्धिके लिये लोग जिन-देवका पूजन करते हैं । फिर पापाचरणीयोंके लिये उसका निषेध कैसे हो सकता है ? उनके लिये तो ऐसी अवस्थामें, पूजनकी और भी अधिक आ-वश्यकता प्रतीत होती है। पूजासार ग्रंथमें साफ ही लिखा है कि:—

"ब्रह्मघ्नोऽथवा गोघ्नो वा तस्करः सर्वपापकृत् ।
जिनाङ्घ्रिगंधसम्पर्कान्मुक्तो भवति तत्क्षणम् ॥"

अर्थात्—जो ब्रह्महत्या या गोहत्या कियेहुए हो, दूसरोंका माल चुरा-नेवाला चोर हो अथवा इससे भी अधिक सम्पूर्ण पापोंका करनेवाला भी क्यों न हो, वह भी जिनेंद्र भगवानके चरणोंका, भक्तिभावपूर्वक, चंदनादि सुगंध द्रव्योंसे पूजन करनेपर तत्क्षण उन पापोंसे छुटकारा पानेमें समर्थ होजाता है। इससे साफ़ तौर पर प्रगट है कि पापीसे पापी और कलंकीसे कलंकी मनुष्य भी श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन कर सकता है और भक्ति भावसे जिनदेवका पूजन करके अपने आत्माके कल्याणकी ओर अग्रसर हो सकता है। इस लिये जिस प्रकार भी बन सके सबको नित्य-पूजन करना चाहिये। सभी नित्यपूजनके अधिकारी हैं और इसी लिये ऊपर यह कहा गया था कि इस नित्यपूजनपर मनुष्य, तिर्यंच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊंच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती और देवता सबका समानाऽधिकार है। समानाधिकारसे, यहां, कोई यह अर्थ न समझ लेवे कि सब एकसाथ मिलकर, एक थालीमें, एक संदली या चौकीपर अथवा एक ही स्थानपर पूजनकरनेके अधिकारी हैं किन्तु इसका अर्थ केवल यह है कि सभी पूजनके अधिकारी हैं। वे, एक रसोई या भि-न्नभिन्न रसोईयोंसे भोजन करनेके समान, आगे पीछे, बाहर भीतर, अलग और शामिल, जैसा अवसर हो और जैसी उनकी योग्यता उनको इजाज़त (आज्ञा) दे, पूजन कर सकते हैं।

---

* जिनपूजा कृता हन्ति पापं नानाभवोद्भवम् ।
बहुकालचितं काष्ठराशिं वह्निमिवाखिलम् ॥ ९–१०३ ॥
—धर्मसंग्रहश्रावकाचार।

दस्साधिकार।

यद्यपि अब कोई ऐसा मनुष्य या जातिविशेष नहीं रहा जिसके पूजनाऽधिकारकी मीमांसा की जाय—जैनधर्ममें श्रद्धा और भक्ति रखनेवाले, ऊंच नीच सभी प्रकारके, मनुष्योंको नित्यपूजनका अधिकार प्राप्त है—तथापि इतनेपर भी जिनके हृदयमे इस प्रकारकी कुछ शंका अवशेष हो कि दस्से (गाटे) जैनी भी पूजन कर सकते हैं या कि नहीं, उनको इतना और समझ लेना चाहिये कि जैनधर्ममें 'दस्से' और 'बीसे' का कोई भेद नहीं है; न कहींपर जैनशास्त्रोंमें 'दस्से' और 'बीसे' शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंसे बाह्य (बाहर) बीसोंका कोई पांचवा वर्ण नहीं है, उसी प्रकार दस्सोंका भी कोई भिन्न वर्ण नहीं है। चारों वर्णोंमे ही उनका भी अन्तर्भाव है। चारो ही वर्णके सभी मनुष्योंको पूजनका अधिकार प्राप्त होनेसे उनको भी वह अधिकार प्राप्त है। वैश्य जातिके दस्सोंका वर्ण वैश्य ही होता है। वे वैश्य होनेके कारण शूद्रोसे ऊचा दर्जा रखते है और शूद्र लोग मनुष्य होनेके कारण तिर्यंचोंसे ऊंचा दर्जा रखते है। जब शूद्र तो शूद्र, तिर्यंच भी पूजनके अधिकारी वर्णन किये गये है—और तिर्यंच भी कैसे? मेंडक जैसे! तब वैश्य जातिके दस्से पूजनके अधिकारी कैसे नहीं? क्या वे जैनगृहस्थ या श्रावक नहीं होते? अथवा श्रावकके बारह व्रतोंको धारण नहीं करसकते? जब दस्से लोग यह सब कुछ होते है और यह सब कुछ अधिकार उनको प्राप्त है, तब वे पूजनके अधिकारसे कैसे वंचित रक्खे जा सकते हैं? पूजन करना गृहस्थ जैनियोंका परमावश्यक कर्म है। उसके साथ अग्रवाल, खंडेलवाल या परवार आदि जातियोंका कोई बन्धन नहीं है—सबके लिये समान उपदेश है—जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए आचार्योंके वाक्योंसे प्रगट है। परमोपकारी आचार्योंने तो ऐसे मनुष्योंको भी पूजनाऽधिकारसे वंचित नहीं रक्खा, जो आकण्ठ पापमें मग्न हैं और पापीसे पापी कहलाते हैं। फिर

१ वैश्यजातिके दस्सोको **छोटीसरण** (श्रेणि) या **छोटीसेन**के बनिये अथवा **विनैकया** भी कहते है।

वैश्य जातिके दस्सोंकी तो बात ही क्या होसकती है? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजका तो वचन ही यह है कि बिना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता। दस्से लोग श्रावक होते ही हैं, इससे उनको पूजनका अधिकार स्वतःसिद्ध है और वे बराबर पूजनके अधिकारी हैं।

शोलापुरमें दस्से जैनियोंके बनाये हुए तीन शिखरबन्द मंदिर और अनेक चैत्यालय मौजूद हैं। ग्वालियरमें भी दस्सोंका एक मंदिर है। सिवनीकी तरफ़ दस्से भाईयोंके बहुतसे जैनमंदिर हैं। श्रीसम्मेद शिखर, शत्रुंजय, मांगीतुंगी और कुन्थलगिरि तीर्थोंपर शोलापुरवाले प्रसिद्ध धनिक श्रीमान् हरिभाई देवकरणजी दस्साके बनायेहुए जिनमंदिर हैं। इन समस्त मंदिर और चैत्यालयोंमें दस्सा, बीसा, सभीलोग बराबर पूजन करते है।

शोलापुरके प्रसिद्ध विद्वान् सेठ हीराचंद नेमिचंदजी आनरेरी मजिष्ट्रेट दस्सा जैनी हैं। उनके घरमें एक चैत्यालय है जिसमें वे और अन्य भाई सभी पूजन करते हैं। इसी प्रकार अन्य स्थानोंपर भी दस्सा जैनियोंके मन्दिर हैं जिनमें सब लोग पूजन करते हैं। जहां उनके पृथक् मंदिर नहीं हैं वहां वे प्रायः बीसोंके मंदिरमें ही दर्शन पूजन करते हैं।

यह दूसरी बात है कि कोई एक द्रव्य या दो द्रव्यसे पूजन करनेको अथवा मंदिरके वस्त्रों और मंदिरके उपकरणोंमें पूजन न करके अन्य वस्त्रादिकोंमें पूजन करनेको पूजन ही न समझता हो और इसी अभिप्रायके अनुसार कहीं कहींके बीसे अपने मंदिरोंमें दस्सोंको मंदिरके वस्त्र पहनकर और मंदिरके उपकरणोंको लेकर अष्ट द्रव्यसे पूजन न करने देते हों, परन्तु इसको केवल उनकी कल्पना ही कह सकते हैं—शास्त्रमें इसका कोई आधार और प्रमाण नहीं है। पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपके अनुसार वह पूजन अवश्य है। तीर्थस्थानों और अतिशय क्षेत्रोंकी पूजा वन्दनाको—दस्से बीसे—सभी जाते हैं और सभी अष्टद्रव्यसे पूजन करते हैं।

श्रीतारंगाजी तीर्थपर नानचंद पद्मसी नामके एक मुनीम हैं जो दस्सा जैनी हैं। वे उक्त तीर्थपर बीसोंके मंदिरमें—मन्दिरके वस्त्रोंको पहन कर और मंदिरके उपकरणोंको लेकर ही—नित्य अष्ट द्रव्यसे पूजन करते हैं। अन्य स्थानोंपर भी—जहांके बीसोमें इस प्रकारकी कल्पना नहीं है—दस्सा

जैनी बीसोंके मंदिरमें उसी प्रकार अष्ट द्रव्यादिसे पूजन करते हैं जिस प्रकार कि वे अपने मंदिरोंमें करते हैं। जिनको ऐसा देखनेका अवसर न मिला हो वे दक्षिण देशकी ओर जाकर स्वयं देख सकते हैं । उधर जानेपर उनको ऐसी जैनजातियां भी आम तौरपर पूजन करती हुई मिलेंगी जिनमें पुनर्विवाहकी प्रथा भी जारी है।

इसके अतिरिक्त दस्सा जैनियोंने अनेक प्रतिष्ठाएँ भी कराई हैं। एक प्रतिष्ठा शोलापुरके सेठ रावजी नानचंदने कराई थी। पिछले साल भी दस्सा जैनियोंकी दो प्रतिष्ठाएँ हो चुकी हैं । प्रतिष्ठा करानेवाले भगवानकी प्रतिमाके साथ रथादिकमें बैठते हैं और स्वयं भगवानका अष्ट द्रव्यसे पूजन करते है। इसप्रकार प्रवृत्ति भी दस्सोंके पूजनाऽधिकारका भले प्रकार समर्थन करती है। इसलिये दस्सोंको बीसोंके समान ही पूजनका अधिकार प्राप्त है। किसी किसीका कहना है कि अपध्वंसज अर्थात् व्यभिचारजातको ही दस्सा कहते हैं और व्यभिचारजात पूजनके अधिकारी नहीं होते; परन्तु ऐसा कहनेमें कोई प्रमाण नहीं है। जब प्रवृत्तिकी ओर देखते हैं तो वह भी इसके विरुद्ध पाई जाती है—जो मनुष्य किसी विधवा स्त्रीको प्रगट रूपसे अपने घरमें डाल लेता है अर्थात् उसके साथ कराओ (धरेजा) कर लेता है वह स्वयं व्यभिचारजात (व्यभिचारसे पैदा हुआ मनुष्य) न होते हुए भी दस्सा समझा जाता है। यदि कोई बीसा किसी नीच जाति (शूद्रादिक) की कन्यासे विवाह कर लेता है तो वह भी आजकल जातिसे च्युत किया जाकर दस्सा या गाटा बनादिया जाता है और उसकी संतान भी दस्सोंमें ही परिगणित होती है। इसीप्रकार यदि विधवाके साथ कराओ कर लेनेसे कोई पुत्र पैदा हो और उसका विवाह विधवासे न होकर किसी कन्यासे हो तो विधवा-पुत्रकी संतान व्यभिचारजात न होते हुए भी दस्सा ही कहलाती है । बहुधा वह संतान जो भर्तारके जीवित रहते हुए जारसे उत्पन्न होती है, वह व्यभिचारजात होते हुए भी दस्सोंमें शामिल नहीं की जाती। कहीं कहींपर दस्सेकी कन्यासे विवाह कर लेनेवाले बीसेको भी जातिसे खारिज (च्युत) करके दस्सोंमें शामिल कर देते हैं; परन्तु बम्बई और दक्षिण प्रान्तादि बहुतसे स्थानोंमें यह प्रथा नहीं है। वहांपर दस्सों और बीसोंमें परस्पर

विवाह संबंध होनेसे कोई जातिच्युत नहीं किया जाता । हमारी भारतवर्षीय दिगम्बरजैनमहासभाके सभापति, जैनकुलभूषण श्रीमान सेठ माणिकचंदजी जे. पी. बम्बईके भाई पानाचंदजीका विवाह भी एक दस्सेकी कन्यासे हुआ था; परन्तु इससे उनपर कोई कलंक नहीं आया और कलंक आनेकी कोई बात भी न थी । प्राचीन और समीचीन प्रवृत्ति भी, शास्त्रोंमें, ऐसी ही देखी जाती है जिससे ऐसे विवाह सम्बन्धोंपर कोई दोषारोपण नहीं हो सकता । अधिक दूर जानेकी ज़रूरत नहीं है । श्रीनेमिनाथ तीर्थंकरके चचा वसुदेवजीको ही लीजिये । उन्होंने एक व्यभिचारजातकी पुत्रीसे, जिसका नाम प्रियंगुसुंदरी था, विवाह किया था । प्रियंगुसुंदरीके पिताका अर्थात् उस व्यभिचारजातका नाम एणीपुत्र था । वह एक तापसीकी कन्या ऋषिदत्तासे, जिससे श्रावस्ती नगरीके राजा शीलायुधने व्यभिचार किया था और उस व्यभिचारसे उक्त कन्याको गर्भ रह गया था, उत्पन्न हुआ था । यह कथा श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें लिखी है । इस विवाहसे वसुदेवजीपर, जो बड़े भारी जैनधर्मी थे कोई कलंक नहीं आया । न कहींपर वे पूजनाधिकारसे वंचित रक्खे गये । बल्कि उन्होंने श्रीनेमिनाथजीके समवसरणमें जाकर साक्षात् श्रीजिनेंद्रदेवका पूजन किया है और उनकी उक्त प्रियंगुसुंदरी राणीने जिनदीक्षा धारण की है । इससे प्रगट है कि व्यभिचारजातोंहीका नाम दस्सा नहीं है और न कोई व्यभिचारजात (अपध्वंसज) पूजनाऽधिकारसे वंचित है। "शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः" अर्थात् समस्त अपध्वंसज (व्यभिचारसे उत्पन्न हुए मनुष्य) शूद्रोंके समानधर्मी हैं, यह वाक्य यद्यपि मनुस्मृतिका है; परन्तु यदि इस वाक्यको सत्य भी मान लिया जाय और अपध्वंसजोंहीको दस्से समझ लिया जाय, तो भी वे पूजनाधिकारसे वंचित नहीं हो सकते । क्योंकि शूद्रोंको साफ तौरसे पूजनका अधिकार दिया गया है, जिसका कथन ऊपर विस्तारके साथ आचुका है । जब शूद्रोंको पूजनका अधिकार प्राप्त है, तब उनके समानधर्मियोंको उस अधिकारका प्राप्त होना स्वतःसिद्ध है ।

---

१ व्यभिचारजात भी दस्सा होता है ऐसा कह सकते हैं ।

और पूजनका अधिकार ही क्या? जैनशास्त्रोंके देखनेसे तो मालूम होता है कि अपध्वंसज लोग जिनदीक्षातक धारण कर सकते हैं, जिसकी अधिकार-प्राप्ति शूद्रोंको भी नहीं कही जाती। उदाहरणके तौरपर राजा कर्णहीको लीजिये। राजा कर्ण एक कुँवारी कन्यासे व्यभिचारद्वारा उत्पन्न हुआ था और इस लिये वह अपध्वंसज और कानीन कहलाता है। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें लिखा है कि महाराजा जरासिंधके मारे जानेपर राजा कर्णने सुदर्शन नामके उद्यानमें जाकर दमवर नामके दिगम्बर मुनिके निकट जिनेश्वरी दीक्षा धारण की। श्रीजिनदास ब्रह्मचारीकृत हरिवंशपुराणमें भी ऐसा ही लिखा है, जैसा कि उसके निम्नलिखित श्लोकसे प्रगट है:—

"विजितोऽप्यरिभिः कर्णो निर्विण्णो मोक्षसौख्यदाम्।
दीक्षां सुदर्शनोद्यानेऽग्रहीद्दमवरान्तिके॥ २६–२०८॥"

अर्थात्—शत्रुओंसे विजित होनेपर राजा कर्णको वैराग्य उत्पन्न होगया और तब उन्होंने सुदर्शन नामके उद्यानमें जाकर श्रीदमवर नामके मुनिके निकट, मोक्षका सुख प्राप्त करानेवाली, जिनदीक्षा धारण की।

इससे यह भी प्रगट हुआ कि अपध्वंसज लोग अपने वर्णको छोड़कर शूद्र नहीं हो जाते; बल्कि वे शूद्रोंसे कथंचित् ऊंचा दर्जा रखते हैं और इसीलिये दीक्षा धारण कर सकते हैं। ऐसी अवस्थामें उनका पूजनाऽधिकार और भी निर्विवाद होता है।

यदि थोड़ी देरके लिये व्यभिचारजातको पूजनाऽधिकारसे वंचित रक्खा जावे तो कुंड, गोलक, कानीन और सहोढादिक सभी प्रकारके व्यभिचारजात पूजनाऽधिकारसे वंचित रहेंगे—भर्त्तारके जीवित रहनेपर जो संतान जारसे उत्पन्न होती है; वह कुंड कहलाती है। भर्त्तारके मरे पीछे जो संतान जारसे उत्पन्न होती है उसको गोलक कहते हैं। अपनी माताके घर रहनेवाली कुँवारी कन्यासे व्यभिचारद्वारा जो संतान उत्पन्न होती है वह कानीन कही जाती है और जो संतान ऐसी कुँवारी कन्याको गर्भ रह जानेके पश्चात् उसका विवाह हो जानेपर उत्पन्न होती है, उसको सहोढ कहते हैं—इन चारों भेदोंमेंसे गोलक और कानीनकी परीक्षा

(पश्चात) तथा प्रायः सहोढकी परीक्षा भी आसानीसे हो सकती है; परन्तु कुंडसंतानकी परीक्षाका और खासकर ऐसी कुंडसंतानकी परीक्षाका, कोई साधन नहीं है, जो भर्त्तारके बारहों महीने निकट रहते हुए (अर्थात् परदेशमें न होते हुए) उत्पन्न हो। कुंडकी माताके सिवा और किसीको यह रहस्य मालूम नहीं हो सकता। बल्कि कभी कभी तो उसको भी इसमें भ्रम होना संभव है—वह भी ठीक ठीक नहीं कह सकती कि यह संतान जारसे उत्पन्न हुई या असली भर्त्तारसे। व्यभिचारजातको पूजनाऽधिकारसे वंचित करनेपर कुंडसंतान भी पूजन नहीं कर सकती, और कुंड संतानकी परीक्षा न हो सकनेसे संदिग्धावस्था उत्पन्न होती है। संदिग्धाऽवस्थामें किसीको भी पूजन करनेका अधिकार नहीं होसकता। इससे पूजन करनेका ही अभाव सिद्ध हो जायगा, यही बड़ी भारी हानि होगी। अतः कोई व्यभिचारजात पूजनाऽधिकारसे वंचित नहीं होसकता। दूसरे जब पापीसे पापी मनुष्य भी नित्यपूजन कर सकते हैं तो फिर कोरे व्यभिचारजातकी तो बात ही क्या हो सकती है? वे अवश्य पूजन कर सकते हैं।

वास्तवमें, यदि विचार किया जाय तो, जैनमतके पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपाऽनुसार, कोई भी मनुष्य नित्यपूजनके अधिकारसे वंचित नहीं रह सकता। जिन लोगोंने परमात्माको रागी, द्वेषी माना है—पूजन और भजनसे परमात्मा प्रसन्न होता है, ऐसा जिनका सिद्धान्त है और जो आत्मासे परमात्मा बनना नहीं मानते, यदि वे लोग शूद्रोंको या अन्य नीच मनुष्योंको पूजनके अधिकारसे वंचित रक्खें तो कुछ आश्चर्य नहीं क्योंकि उनको यह भय हो सकता है कि कहीं नीचे दर्जेके मनुष्योंके पूजन कर लेनेसे या उनको पूजन करने देनेसे परमात्मा कुपित न हो जावे और उन सभीको फिर उसके कोपका प्रसाद न चखना पड़े। परन्तु जैनियोंका ऐसा सिद्धान्त नहीं है। जैनी लोग परमात्माको परमवीतरागी, शान्तस्वरूप और कर्ममलसे रहित मानते हैं। उनके इष्ट परमात्मामें राग, द्वेष, मोह और काम, क्रोधादिक दोषोंका सर्वथा अभाव है। किसीकी निन्दा-स्तुतिसे उस परमात्मामें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता और न उसकी वीतरागता या शान्ततामें किसी भी कारणसे कोई बाधा उपस्थित

हो सकती है। इसलिये किसी क्षुद्र या नीचे दर्जेके मनुष्यके पूजन कर लेनेसे परमात्माकी आत्मामें कुछ मलिनता आ जायगी, उसकी प्रतिमा अ-पूज्य हो जायगी, अथवा पूजन करनेवालेको कुछ पाप बन्ध हो जायगा, इस प्रकारका कोई भय ज्ञानवान् जैनियोंके हृदयमें उत्पन्न नहीं हो सकता। जैनियोंके यहां इस समय भी चांदनपुर (महावीरजी) आदि अनेक स्थानोंपर ऐसी प्रतिमाओंके प्रत्यक्ष दृष्टान्त मौजूद हैं, जो शूद्र या बहुत नीचे दर्जेके मनुष्योंद्वारा भूगर्भसे निकाली गईं–स्पर्शी गईं–पूजी गईं और पूजी जाती हैं, परन्तु इससे उनके स्वरूपमें कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ, न उनकी पूज्यतामें कोई फ़र्क़ (भेद) पड़ा और न जैनसमाजको ही उसके कारण किसी अनिष्टका सामना करना पड़ा; प्रत्युत वे बराबर जैनियोंहीसे नहीं किन्तु अजैनियोंसे भी पूजी जाती हैं और उनके द्वारा सभी पूजकोंका हितसाधन होनेके साथ साथ धर्मकी भी अच्छी प्रभावना होती है। अतः जैनसिद्धान्तके अनुसार किसी भी मनुष्यके लिये नित्यपूजनका निषेध नहीं हो सकता। दस्सा, अपध्वंसज या व्यभिचारजात सबको इस पूजनको पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह दूसरी बात है कि—अपने आन्तरिक द्वेष, आपसी वैमनस्य, धार्मिक भावोंके अभाव और हृदयकी संकीर्णता आदि कारणोंसे–एक जैनी किसी दूसरे जैनीको अपने घरू या अपने अधि-कृत मंदिरमें ही न आने दे अथवा आने तो दे किन्तु उसके पूजन कार्यमें किसी न किसी प्रकारसे बाधक हो जावे। ऐसी बातोंसे किसी व्यक्तिके पूजनाऽधिकारपर कोई असर नहीं पड़ सकता। वह व्यक्ति खुशीसे उस मंदिरमें नहीं तो, अन्यत्र पूजन कर सकता है। अथवा स्वयं समर्थ और इस योग्य होनेपर अपना दूसरा नवीन मंदिर भी बनवा सकता है। अनेक स्था-नोंपर ऐसे भी नवीन मंदिरोंकी सृष्टिका होना पाया जाता है।

यहांपर यदि यह कहा जावे कि आगम और सिद्धान्तसे तो दस्सोंको पूजनका अधिकार सिद्ध है और अधिकतर स्थानोंपर वे बराबर पूजन करते भी हैं; परन्तु कहीं कहींपर दस्सोंको जो पूजनका निषेध किया जाता है वह किसी जातीय अपराधके कारण एक प्रकारका तत्रस्थ जातीय दंड है; तो क-हना होगा कि शास्त्रोंकी आज्ञाको उल्लंघन करके धर्मगुरुओंके उद्देश्य विरुद्ध ऐसा दंड विधान करना कदापि न्यायसंगत और माननीय नहीं हो सकता

और न किसी सभ्य जातिकी ओरसे ऐसी आज्ञाका प्रचारित किया जाना समुचित प्रतीत होता है कि अमुक मनुष्य धर्मसेवनसे वंचित किया गया और उसकी संतानपरम्परा भी धर्मसेवनसे वंचित रहेगी।

सांसारिक विषयवासनाओंमें फँसे हुए मनुष्य वैसे ही धर्म कार्योंमें शिथिल रहते हैं, उलटा उनको दंड भी ऐसा ही दिया जावे कि वे धर्मके कार्य न करने पावें, यह कहांकी बुद्धिमानी, वत्सलता और जातिहितैषिता हो सकती है? सुदूरदर्शी विद्वानोंकी दृष्टिमें ऐसा दंड कदापि आदरणीय नहीं हो सकता। ऐसे मनुष्योंके किसी अपराधके उपलक्षमें तो वही दंड प्रशंसनीय हो सकता है जिससे धर्मसाधन और अपने आत्म-सुधारका और अधिक अवसर मिले और उसके द्वारा वे अपने पापोंका शमन या संशोधन कर सकें। न यह कि डूबतेको और धक्का दिया जावे! बिरादरी या जातिका यह कर्तव्य नहीं है कि वह किसीसे धर्मके कार्य छुड़ाकर उसको पापकार्योंके करनेका अवसर देवे।

इसके सिवा जो धर्माऽधिकार किसीको स्वाभाविक रीतिसे प्राप्त है उसके छीन लेनेका किसी बिरादरी या पंचायतको अधिकार ही क्या है? बिरादरीके किसी भाईसे यदि बिरादरीके किसी नियमका उल्लंघन हो जावे या कोई अपराध बन जावे तो उसके लिये बिरादरीका केवल इतना ही कर्त्तव्य हो सकता है कि वह उस भाईपर कुछ आर्थिक दंड कर देवे या उसको अपने अपराधका प्रायश्चित्त लेनेके लिये बाधित करे और जबतक वह अपने अपराधका योग्य प्रायश्चित्त न ले ले तबतक बिरादरी उसको बिरादरीके कामोंमें अर्थात् विवाह शादी आदिक लौकिक कार्योंमें शामिल न करे और न बिरादारी उसके यहां ऐसे कार्योंमें सम्मिलित हो। इसी-प्रकार वह उससे खाने पीने लेने देने और रिश्तेनातेका सम्बध भी छोड़ सकती है। परन्तु, इससे अधिक, धर्ममें हस्तक्षेप करना बिरादरीके अधिकारसे बाह्य है और किसी बिरादरीके द्वारा ऐसा किये जानेका फलितार्थ यही हो सकता है कि वह बिरादरी, एक प्रकारसे, अपने पूज्य धर्मगुरुओंकी अवज्ञा करती है।

जिन लोगों (जैनियों) के हृदयमें ऐसे दंडविधानका विकल्प उत्पन्न हो उनको यह भी समझना चाहिये कि किसीके धर्मसाधनमें विघ्न

करना बड़ा भारी पाप है। अंजनासुंदरीने अपने पूर्वजन्ममें थोड़े ही कालके लिये, जिनप्रतिमाको छिपाकर, अपनी सौतनके दर्शन पूजनमें अंतराय डाला था। जिसका परिणाम यहांतक कटुक हुआ कि उसको अपने इस जन्ममें २२ वर्षतक पतिका दुःसह वियोग सहना पड़ा और अनेक संकट और आपदाओंका सामना करना पड़ा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीपद्मपुराणके देखनेसे मालूम हो सकता है।

रयणसार ग्रंथमें श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजने लिखा है कि "दूसरोंके पूजन और दानमें अन्तराय (विघ्न) करनेसे जन्मजन्मान्तरमें क्षय, कुष्ट, शूल, रक्तविकार, भगंदर, जलोदर, नेत्रपीड़ा, शिरोवेदना आदिक रोग तथा शीत उष्णके आताप और (कुयोनियोंमें) परिभ्रमण आदि अनेक दुःखोंकी प्राप्ति होती है।" यथाः—

"खयकुट्ठसूलमूलो लोयभगंदरजलोदरक्खिसिरो।
सीदुण्हबह्मराइ पूजादाणंतरायकम्मफलं ॥ ३३ ॥"

इसलिये पापोंसे डरना चाहिये और किसीको दंडादिक देकर पूजनसे वंचित करना तो दूर रहो, भूल कर भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिससे दूसरोंके पूजनादिक धर्मकार्योंमें किसी प्रकारसे कोई बाधा उपस्थित हो। बल्कि—

उपसंहार।

उचित तो यह है कि, दूसरोंको हरतरहसे धर्मसाधनका अवसर दिया जाय और दूसरोंकी हितकामनासे ऐसे अनेक साधन तैयार किये जाँय जिनसे सभी मनुष्य जिनेन्द्रदेवके शरणागत हो सकें और जैनधर्ममें श्रद्धा और भक्ति रखते हुए खुशीसे जिनेन्द्रदेवका नित्यपूजनादि करके अपनी आत्माका कल्याण कर सकें।

इसके लिये जैनियोंको अपने हृदयकी संकीर्णता दूरकर उसको बहुत कुछ उदार बनानेकी ज़रूरत है। अपने पूर्वजोंके उदार-चरितोंको पढ़कर, जैनियोंको, उनसे तद्विषयक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उनके अनुकरणद्वारा अपना और जगतके अन्य जीवोंका हितसाधन करना चाहिये।

भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत आदिपुराणको देखनेसे मालूम होता है कि आदीश्वर भगवानके सुपुत्र भरतमहाराज, प्रथम चक्रवर्त्तीने अपनी राजधानी अयोध्यामें रत्नखचित जिनबिम्बोंसे अलंकृत चौबीस चौबीस घंटे तय्यार कराकर उनको, नगरके बाहरी दरवाजों और राजमहलोंके तोरणद्वारों तथा अन्य महाद्वारोंपर, सोनेकी जंजीरोंमें बांधकर प्रलम्बित किया था। जिससमय भरतजी इन द्वारोंमेंसे होकर बाहर निकलते थे या इनमें प्रवेश करते थे उससमय वे तुरन्त अर्हन्तोंका स्मरण करके, इन घंटोंमें स्थित अर्हत्प्रतिमाओंकी वन्दना और उनका पूजन करते थे। नगरके लोगों तथा अन्य प्रजाजनोंने भरतजीके इस कृत्यको बहुत पसंद किया, वे सब उन घंटोंका आदर सत्कार करने लगे और उसके पश्चात् पुरजनोंने भी अपनी अपनी शक्ति और विभवके अनुसार उसी प्रकारके घंटे अपने अपने घरोंके तोरणद्वारोंपर लटकाये*। भरतजीका यह उदारचरित बड़ा ही चित्तको आकर्षित करनेवाला है और इस (प्रकृत) विषयकी बहुत कुछ शिक्षाप्रदान करनेवाला है। उनके अन्य

---

* उपर्युक्त आशयको प्रगट करनेवाले **आदिपुराण** (पर्व ४१) के वे **आर्षवाक्य** इसप्रकार हैः—

"निर्मापितास्ततो घंटा जिनबिम्बैरलंकृताः।
परार्ध्यरत्ननिर्माणाः सम्बद्धा हेमरज्जुभिः॥ ८७॥
लम्बिताश्च बहिर्द्वारि ताश्चतुर्विंशतिप्रमाः।
राजवेश्ममहाद्वारगोपुरेष्वप्यनुक्रमात्॥ ८८॥
यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यप्ययं प्रभुः।
तदा मौलाग्रलग्नाभिरस्य स्यादर्हतां स्मृतिः॥ ८९॥
स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चानां भक्त्या कृत्वाभिवन्दनाम्।
पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशंश्च स पुण्यधीः॥ ९०॥
रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना।
दृष्ट्वाऽर्हद्वन्दनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्कृतादरः॥ ९३॥
पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेश्मतोरणदामसु।
यथाविभवमाबद्धा घंटास्ताः सपरिच्छदाः॥ ९४॥

उदार गुणों और चरितोंका बहुत कुछ परिचय आदिपुराणके देखनेसे मिल सकता है। इसीप्रकार और भी सैकड़ों और हजारों महात्माओंका नामोल्लेख किया जा सकता है। जैनसाहित्यमें उदारचरित महात्माओंकी कमी नहीं है। आज कल भी जो अनेक पर्वतोंपर खुले मैदानमें तथा गुफाओंमें जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं और दक्षिणादिदेशोंमें कहीं कहींपर जिनप्रतिमाओंसहित मानस्तंभादिक पाये जाते हैं, वे सब जैन पूर्वजोंकी उदार चित्तवृत्तिके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। उदारचरित महात्माओंके आश्रित रहनेसे ही यह जैनधर्म अनेकबार विश्वव्यापी हो चुका है। अब भी यदि राष्ट्रधर्मका सेहरा किसी धर्मके सिर बंध सकता है तो वह यही धर्म है जो प्राणीमात्रका शुभचिन्तक है। ऐसे धर्मको पाकर भी हृदयमें इतनी संकीर्णता और स्वार्थपरताका होना, कि एक भाई तो पूजन कर सके और दूसरा भाई पूजन न करने पावे, जैनियोंके लिये बड़ी भारी लज्जाकी बात है। जिन जैनियोंका, "वसुधैव[1] कुटुम्बकम्," यह खास सिद्धान्त था; क्या वे उसको यहांतक भुला बैठे कि अपने सहधर्मियोंमें भी उसका पालन और वर्त्ताव न करें! जातिभेद या वर्णभेदके कारण आपसमें ईर्षा द्वेष रखना, एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करना और अपने लौकिक कार्योंसंबंधी कषायको धार्मिक कार्योंमें निकालना, ये सब जैनियोंके आत्म-गौरवको नष्ट करनेवाले कार्य हैं। जैनियोंको इनसे बचना चाहिये और समझना चाहिये कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण अपनी अपनी क्रियाओं (वृत्ति) के भेदकी अपेक्षा वर्णन किये गये हैं। वास्तवमें चारों ही वर्ण जैनधर्मको धारण करने एवं जिनेंद्र-देवकी पूजा उपासना करनेके योग्य हैं और इस सम्बन्धसे जैनधर्मको पालन करते हुए सब आपसमें भाई भाईके समान हैं *। इसलिये, हृदयकी संकीर्णताको त्यागकर धार्मिक कार्योंके अनुष्ठानमें सब जैनियोंको परस्पर

---

१ समस्त भूमंडल अपना कुटुम्ब है।

*"विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः॥"

—सोमसेनाचार्य।

बन्धुताका बर्त्ताव करना चाहिये और आपसमें प्रेम रखते हुए एक दूसरेके धर्मकार्योंमें सहायक होना चाहिये । इसीप्रकार जो लोग जैनधर्मकी शरणमें आवें या आना चाहें, ऐसे नवीन जैनियों या आत्महितैषियोंका सच्चे दिलसे अभिनन्दन करते हुए, उनको सब प्रकारसे धर्मसाधनमें सहायता देनी चाहिये ।

आशा है कि हमारे विचारशील निष्पक्ष विद्वान् और परोपकारी भाई इस मीमांसाको पढ़कर सत्यासत्यके निर्णयमें दृढता धारण करेंगे और अपने कर्त्तव्यको समझकर जहां कहीं, सुशिक्षाके अभाव और संसर्गदोषके कारण, आगम और धर्मगुरुओंके उद्देश्यविरुद्ध प्रवृत्ति पाई जावे उसको उठाने और उसके स्थानमें शास्त्रसम्मत समीचीन रीतिका प्रचार करनेमें दत्तचित्त और यत्नशील होंगे । इत्यलं विशेषु ।

निष्पक्ष विद्वानोंका चरणसेवक—

जुगलकिशोर जैन, मुख़तार

देवबन्द जि० सहारनपुर ।
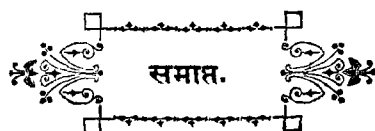
ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रुतावतारकथा

और

श्रुतस्कन्धविधानादि.

जिसको

चावली (आगरा) निवासी

लालाराम जैनने

संग्रह करके अनुवादित व संशोधन किया

और

मुम्बईस्थ–जैनहितैषीकार्यालयने

'पार्वतीबन्धु' प्रेसमें छपाकर

प्रकाशित किया.

वीरनिर्वाण संवत् २४३४. ईस्वी सन् १९०८.

प्रथमबार २००० प्रति) नं. ४. (मूल्य ३ आने

भूमिका ।

" जिस जातिमें अपने पूर्व पुरुषोंके गौरवका अभिमान नहीं है, जो अपने जातीय त्योहारोंका अनादर करती है, वह जाति बहुत शीघ्र नष्ट होजाती है, उसकी गणना जीवित जातियोंमें नहीं हो सकती।" विचारशील विद्वानोंके उपर्युक्त वाक्योंकी ओर हम अपने जैनसमाजका चित्त आकर्षित करते हैं और प्रेरणा करते हैं कि, वह अपने इस अधःपतनके समयमें एक बार एकान्तमें बैठकर विचार करै कि, हमारे हृदयमें पूर्व पुरुखाओंका कितना गौरव है? हम ऐसे कितने महात्माओंके नाम जानते है, जिन्होंने हमारे लिये अनंत परिश्रम किया है, हमारे जातीय त्योंहार कौन २ हैं, और उनमेंसे हम किन २ का आदर करते हैं. तथा अपनी जातीयताकी रक्षा करनेके लिये हमारे पास इस समय क्या २ साधन हैं। आशा है कि इन विषयोंका अनुशीलन करनेसे समाजमें अपने खोये हुए गौरवको प्राप्त करनेके लिये उत्सुकता उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी।

पाठक महाशय! आज जो यह छोटासा किन्तु अनन्त उपकारी ग्रन्थ आपके समक्ष है. एक जातीय प्राचीन पर्वका स्मरण करानेके लिये, उसका गौरव प्रगट करनेके लिये और उसका लुप्त हुआ प्रचार पुनः प्रचलित करनेके लिये प्रकाशित किया जाता है। इसमें जैनागमका अवतार संसारमें किस प्रकारसे हुआ इस विषयका इतिहास है।

आपको स्मरण होगा कि श्रुतपंचमी पर्वका उत्सव प्रचलित करानेके लिये अनेक वर्षोंसे आन्दोलन किया जा रहा है. परन्तु उसका शास्त्रों-

जुलूस

इतिहास तथा अभिप्राय सर्व साधारणपर प्रगट नहीं है, इसलिये आन्दोलनकी जैसी चाहिये, वैसी सफलता नहीं हुई। यह देखकर हमने यह ग्रन्थ सरस्वतीसेवक पन्नालालजी बाकलीवालके अनुरोधसे अनुवादित गया किया है। आशा है कि, इसके एक बार पाठ करनेसे प्रत्येक मनुष्य इस पर्वके करनेके लिये उत्सुक होगा।

पाठक देखेंगे कि, हमारे पवित्र धर्ममें पहले कैसे २ ऋषिमहर्षि होगये हैं और उन्होंने कैसे २ महान् ग्रन्थ निर्माण किये थे। हमारे प्रमादसे आज उन ग्रन्थोंकी प्राप्ति तो कहां, उनके नाम जाननेवाले भी संसारमें न रहे। हाय! जिन सिद्धान्तोंकी रक्षाके लिये संसारत्यागी निर्ममत्व महात्मा धरसेनजीको अतिशय आकुलता हुई थी, उनकी खोज करनेके लिये—शक्ति रहते भी उनका उद्धार करनेके लिये—हमारी प्रवृत्ति नहीं होती. जिनशास्त्रोंके प्रभावसे आजतक संसारमें हमारे धर्मका अस्तित्व है, अन्यान्य धर्मवाले उद्दंड विद्वान, जिनके पाठसे गर्वगलित होजाते थे और मुक्तकंठसे जैनधर्मकी प्रशंसा करके उसके अनुयायी हो जाते थे, उन्हीं ग्रन्थोंकी आज ऐसी दुर्दशा है कि, देखकर रोना आता है। आज ये ही अपूर्व ग्रन्थ किसी दूसरी जीवित जातिके हाथमें होते तो वह संसारमें जैनधर्मकी धूम मचा देती।

अवश्य ही हम लोगोंके हृदयसे जिनवाणी माताका गौरव नष्ट हो गया है। अपने आचार्योंकी वृत्तिका अभिमान विलुप्त होगया है। नहीं तो उदारशील कहलाकर प्रतिवर्ष करोडों रुपये [illegible] धर्ममें लगाकर भी हमारी जातिका एक पैसा ग्रन्थजीर्णोद्धारके [illegible] नहीं लगता. यह बात कब संभव होसकती थी? आज एक [illegible]का लाल ऐसा नहीं दिखता है, जिसने किसी एक विलुप्त

हुए नामशेष ग्रन्थका किसी प्रकारसे भी जीर्णोद्धार कराया हो। यह कितनी लज्जाकी बात है, कि लाखों प्राचीन ग्रन्थोंके स्वामी होकर भी जैनी लोग एक ऐसा सरस्वतीभंडार स्थापित नहीं कर सकते हैं, जिसमें हजार दोहजार ग्रंथोंका संग्रह हो। श्रुतावतारका पाठ करके-श्रुतपंचमीके भूलेहुए पर्वको पुनः प्रचलित करके-हमको आशा है कि जैनियोंमें शास्त्रोंके जीर्णोद्धारकी चर्चा होने लगेगी. और थोडे ही दिनोंमें हमको एक दो बडे २ भारी सरस्वतीभंडारोंको स्थापित देखनेका सौभाग्य प्राप्त हो जावैगा।

पूर्वकालमें हमारे यहां सर्वत्र इस पर्वका उत्सव मनाया जाता था. और इसीसे उत्तेजित होकर लोग ग्रन्थोंके संग्रह करनेमें-जीर्णोद्धार करानेमें लाखों रुपये खर्च करते थे। ईडर, जैसलमेर, कामा, कारंजा, नागौर, सौनागिरजी, आमेर, जयपुर, कोल्हापुर, आदि स्थानोंके भंडार; जिनमें दो २ तीन २ हजार ग्रन्थ संग्रहीत हैं इस विषयके प्रत्यक्ष जीवित उदाहरण है। वे लोग धन्य हैं, जिनकी सच्ची उदारतासे सरस्वती माताकी भक्तिसे आज हमको इस बातके कहनेका साहस होता है कि, लाखों ग्रन्थोंके नष्ट होजानेपर भी जैनियोंमें अभी इतने ग्रन्थ मौजूद हैं कि, दश पांच लाख रुपये लगाने पर भी उनका उद्धार करना कठिन है।

हम अपनी जातिके विद्वानोंसे मुखियोंसे प्रार्थना करते हैं कि, वे इस वर्ष प्रयत्न करके प्रत्येक नगर और ग्राममें इस पर्वको प्रचलित करें। श्रुतपंचमीके दिन प्रत्येक मंदिरमें जिनवाणी माताकी विधिपूर्वक पूजा करें, स्तुति करें, ग्रन्थविस्तार करके जुलूस निकालें, और इस श्रुतावतारकी पवित्र कथाको पढ़कर सुनावें। उस दिन प्रत्येक भाईको प्रत्येक मंदिरके तथा अपने गृहके शास्त्रों-

को खोलकर धूप दिखाना चाहिये. यदि वेष्टन जीर्ण होगये हों तो बदलकर नये बांधना चाहिये । इसके सिवाय उस दिन अपनी शक्तिके अनुसार नवीन ग्रन्थ लिखवाकर अथवा छपे हुए मंगाकर मंदिरजीको, तीर्थोंको, गृहत्यागियोंको विद्यार्थियोंको तथा असमर्थ श्रावक श्राविकाओंको भेंट करना चाहिये क्योंकि शास्त्रदानके समान संसारमें कोई भी दान नहीं है ।

यह ग्रन्थ श्रीइन्द्रनंदि आचार्यकृत मूलग्रन्थका अनुवाद है । हम चाहते थे कि, इसको विस्तृत ऐतिहासिक टिप्पणियोंसे अलंकृत करके प्रकाशित करें. जिससे हमारा सच्चा इतिहासका सर्व साधारणमें प्रचार हो । परन्तु श्रुतपंचमी बहुत समीप आगई है. इसकारण अवकाशके और उपयुक्त साधनोंके अभावसे हमारी उक्त इच्छा पूर्ण नहीं हुई । यदि समाजने हमारे इस छोटेसे परिश्रमका सत्कार किया और श्रुतपंचमीका पर्व प्रचलित होगया तो बहुत शीघ्र हम विस्तृतरूपसे इस ग्रन्थको प्रकाशित करनेका उद्यम करेंगे।

अन्तमें सरस्वतीजनक श्रीजिनेन्द्रदेवसे यह प्रार्थना करके हम इस भूमिकाको समाप्त करते हैं कि इसके द्वारा हमारे समाजमें जिनवाणी माताकी भक्तिका प्रवाह बढ़े और उसमें पड़कर हम लोग भगवान भट्टाकलंक समन्तभद्रादि महात्माओंके स्मारक बनाने तथा उनकी जयन्तियां मनानेके लिये तत्पर हो जावें । समाजमें ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो जावे कि, हमारी उन्नति तब ही होगी. जब कि हम जिनवाणी माताकी सच्ची सेवा करेंगे, और अपने ऋषि महर्षियोंके परिश्रमका सत्कार करना सीखेंगे ।

बम्बई.
अक्षयतृतीया
श्रीवीर नि० संवत् २४३४

सरस्वतीसेवक—
चावली (आग्रा) निवासी
श्रीलालाराम गुप्त ।

ॐनमः सिद्धेभ्यः ।

अथ श्रुतावतारकथा लिख्यते।

मंगलाचरण ।

सर्वनाकीन्द्रवन्दितकल्याणपरं परं देवम् ।
प्रणिपत्यवर्धमानं श्रुतस्य वक्ष्येऽहंमवतारम् ॥ १ ॥

यद्यपि श्रुत अनादि निधन है । अर्थात् अनादिकालसे है और अनन्तकालतक रहैगा परन्तु यहां पर कालके आश्रयसे जो उसका अनेक बार उत्पाद और विनाश हुआ है, उसका वर्णन करते हैं ॥ २ ॥ इस भरतक्षेत्रमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नामके दो काल प्रवर्तते रहते हैं जिनमें कि निरन्तर जीवोंके शरीरकी उंचाई और आयुमें न्यूनाधिकता हुआ करती है ॥ ३ ॥ अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालकी स्थिति पृथक् २ दश कोड़ाकोडी सागरकी है । दोनोंकी स्थितिके कालको कल्पकाल कहते हैं ॥ ४ ॥ इस समय अवसर्पिणी काल प्रवर्तमान हो रहा है । कालके भेद जाननेवाले गणधरदेवने इसके छह भेद बतलाये हैं; सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुःषमा, दुःषमसुषमा, दुःषमा और दुःषमदुःषमा । इनमेंसे पहला चार कोड़ाकोडी सागरका, दूसरा तीन कोड़ाकोडी सागरका, तीसरा दो कोड़ाकोड़ीका, चौथा व्यालीस हजार वर्ष न्यून एक कोड़ाकोडी सागरका, पांचवां इक्कीस हजार वर्षका और छट्ठा इक्कीस हजार वर्षका ॥ ९ ॥ पहले कालमें मनुष्योंकी उंचाई छह हजार धनुष, दूसरेमें चार हजार धनुष, तीसरेमें दो हजार धनुष, चौथेमें पांचसौ धनुष पांचवेमें सात हाथ और छठेमें

अरत्निप्रमाण होती है और उन मनुष्योंकी आयु पहले कालमें तीन पल्य, दूसरेमें दो पल्य, तीसरेमें एक पल्य, चौथेमें एक करोड़ वर्ष पूर्व पांचवेमें एकसौ वीस वर्ष और छठेमें बीस वर्ष होती है ॥ १० ॥ ११ ॥

पहले दो काल बीत जानेपर और तीसरे कालमें पल्यका आठवाँ भाग शेष रहजानेपर **प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वान, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित** और **नाभिराय** इन चौदह कुलकरोंकी उत्पत्ति हुई। इन्होंने अपने प्रतापसे हा ! मा ! धिक् ! इन शब्दोंसे ही पृथ्वीका शासन किया अर्थात् उन्हें यदि कभी दंड देनेकी आवश्यकता होती थी, तो इन शब्दोंका व्यवहार करते थे। पहले पांच कुलकरोंने 'हा' शब्दसे दूसरे पांचने हा ! मा ! और अन्तके पांच कुलकरोंने हा ! मा ! और धिक् शब्दोंसे राज्य शासन किया था ॥ १६ ॥

पहले कुलकरने सूर्यचन्द्रमाके प्रकाशसे जो लोग भयभीत हुए थे उनका भय निवारण किया। दूसरेने तारागणके प्रकाशसे भयभीत लोकोंका भय निवारण किया। तीसरेने सिंह सर्पादिकसे जो लोग भयभीत हुए थे उनका भय निवारण किया। चौथेने अन्धकारके भयको दीपक जलानेकी शिक्षासे दूर किया। पांचवेने कल्पवृक्षोंके स्वत्वकी मर्यादा बांधी। छठेने अपनी नियमित सीमामें शासन कर-

---

१ कनिष्ठिकाविहीन मुठी बंधे हुए हाथके मापको अरत्नि कहते हैं। यह प्रमाण हाथसे कुछेक छोटा होता है।

२ श्रीवृषभदेवको भी पन्द्रहवां कुलकर माना है.

ना सिखलाया। सातवेंने घोडे रथ हाथी आदि सवारियोंपर चढना सिखलाया। आठवें कुलकरने जो लोग अपने पुत्रका मुख देखनेसे भयभीत हुए थे उनका भय निवारण किया। नौवें कुलकरने पुत्रपुत्रियोंके नामकरणकी विधि बतलाई। दशवेंने चन्द्रमाको दिखलाकर बच्चोंको क्रीडा करना सिखलाया। ग्यारहवेंने पितापुत्रके व्यवहारका प्रचार किया अर्थात् लोगोंको सिखलाया कि यह तुम्हारा पुत्र है तुम इसके पिता हो। बारहवेंने नदी समुद्रादिकमें नाव जहाज आदिके द्वारा पारजाना तैरना आदि सिखलाया। तेरहवेंने गर्भ, मलके शुद्ध करनेका अर्थात् स्नानादिकर्मका उपदेश दिया। चौदहवेंने नाल काटनेकी विधि बतलाई।

पश्चात् चौदहवें कुलकर श्रीनाभिरायकी मरुदेवी महाराणीके गर्भसे आदितीर्थंकर श्रीवृषभनाथ भगवान उत्पन्न हुए और भरतक्षेत्रमें उन्होंने अपने तीर्थकी प्रवत्ति की। उनके निर्वाण होनेपर पचासलाख कोटिसागर वर्षतक सम्पूर्ण श्रुतज्ञान अविच्छिन्न रूपसे प्रकाशित रहा। अनन्तर दूसरे तीर्थंकर श्रीअजितनाथ भगवानने अवतार लिया और वे भी अपने शिष्योंको भलीभांति उपदेश करते हुए मोक्ष पधारे। उनके पश्चात् भी श्रुतज्ञान अस्खलित गतिसे चलता रहा।

श्रीअजितनाथके निर्वाण हो जानेके तीसलाखकोटि सागर पीछे शम्भवनाथजी, उनसे दशलाखकोटि सागर पीछे श्रीअभिनन्दन उनसे नौलाख कोटि सागर पीछे श्रीसुमतिनाथ नव्वेहजार कोटिसागर पीछे पद्मनाथ नौ हजार कोटिसागर पीछे श्रीसुपार्श्वनाथ, नौसेकोटिसागर पीछे श्रीचन्द्रप्रभ और चन्द्रप्रभसे नव्वेकोटिसा-

गर पीछे श्रीपुष्पदन्त हुए। यहांतक समस्त श्रुत अव्यवहित प्रकाशित रहा और इसके आगे श्रीपुष्पदन्तके तीर्थके नौ कोटिसागर पूर्ण होनेमें जब चौथाई पल्य शेष रहा था तबतक श्रुतका प्रकाश रहा। इसके पश्चात् चौथाई पल्यतक श्रुतका विच्छेद रहा। अनन्तर श्रीशीतलनाथ अवतरित हुए. इन्होंने फिर श्रुतका प्रकाश किया और वह ६६२६००० वर्ष घाट ९९९९९०० सागरमें आधापल्य शेष रहा था तबतक रहा. इसके पश्चात् आधा पल्यतक विच्छेद रहा। अनन्तर श्रेयान् तीर्थंकरने फिर श्रुतका प्रकाश किया। इनके निर्वाणके पश्चात् ५४ सागरमें पौनपल्य शेष रहा था तब फिर श्रुनका विच्छेद हुआ और वह पौनपल्यतक रहा। तदनन्तर श्रीवासुपूज्य तीर्थंकर हुए। इन्होंने फिर श्रुतका प्रकाश किया। इनके निर्वाणानन्तर ३० सागरमें जब एक पल्य रहगया तब फिर श्रुतविच्छेद हुआ और वह एक पल्यतक रहा। अनन्तर श्रीविमलनाथ हुए। इन्होंने फिर श्रुतका प्रकाश किया। इनके तीर्थके ९ सागरमें जब एक पल्य रहा तब फिर श्रुतका विच्छेद हुआ और वह एकपल्यतक रहा। तत्पश्चात् श्रीअनन्तनाथ भगवानने फिर श्रुतकाप्रकाश किया। इनके निर्वाणके पश्चात् चार सागरमें पौनपल्य शेष रहनेपर पौनपल्यतक फिर श्रुतका विच्छेद रहा। अनन्तर श्रीधर्मनाथने फिर प्रकाश किया। इनके निर्वाणके पश्चात् पौनपल्यकम तीनसागरमें जब आधापल्य शेष रहगया तब फिर श्रुतका विच्छेद हुआ और वह आधा पल्यपर्यन्त रहा। अनन्तर श्रीशान्तिनाथतीर्थंकर हुए। इन्होंने फिर श्रुतका प्रकाश किया। इनके पश्चात् आधा पल्य बीतनेपर श्रीकुन्थुनाथ, हजारकोटि वर्षघाट पाव

पल्य बीतनेपर श्रीअरनाथ, हजारकोटि वर्ष वीतनेपर श्रीमल्लिनाथ, ५४ लाखवर्ष वीतनेपर श्रीमुनिसुव्रत, छहलाख वर्ष वीतनेपर श्रीनमिनाथ, पांच लाख वर्ष वीतने पर श्रीनेमिनाथ, पौने चौरासी हजार वर्ष वीतनेपर श्रीपार्श्वनाथ तीर्थंकर, और २५० वर्ष बीतने पर श्री वर्द्धमान तीर्थंकर हुए। श्रीशान्तिनाथसे वर्द्धमानतीर्थंकर पर्यन्त श्रुतका विच्छेद नहीं हुआ। कुशाग्रबुद्धि यतिवरों द्वारा ज्योंका त्यों प्रकाशित रहा।

श्रीपार्श्वनाथ भगवानके तीर्थके अन्तमें कुन्दनपुरके राजा सिद्धार्थकी प्रियकारिणी (त्रिसला) रानीके गर्भसे अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीरका जन्म हुआ। उन्होंने तीस वर्षकी आयुमें कुमारावस्थामें ही जिनदीक्षा लेली और घोर तपस्या करके बारह वर्षमें केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त करली। उनके केवलज्ञान सूर्यके उदय होनेपर इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने समवसरण नामक सभाकी रचना की। उस महासभामें देव, मनुष्य, मुनि आदि सबका समूह एकत्रित था, तो भी त्रिजगद्गुरु भगवानकी दिव्यध्वनि ६६ दिनतक निःसृत नहीं हुई। यह देखकर इन्द्रने जब विचार किया, तो उसे विदित हुआ कि, गणधरदेवका अभाव ही दिव्यध्वनि न होनेका कारण है। अतएव गणधरकी शोध करनेके लिये वह इंद्र गौतम ग्रामको गया। वहां एक ब्राह्मणशालामें इन्द्रभूति नामका पंडित अपने पांचसौ शिष्योंके सन्मुख व्याख्यान दे रहा था। इन्द्रभूति अखिल वेदवेदांगशास्त्रोंका विद्वान था और विद्याके मदमें चूर हो रहा था।

---

१ यह स्थान मगध देशमें पावापुरके समीप अब भी इसी नामसे प्रसिद्ध है। २ इन्द्रभूतिके गोत्रका नाम गौतम था। अनेक इतिहासकारोंने भ्रममें पड़कर गौतम गणधरको गौतम बुद्ध लिख मारा है।

इन्द्र छात्रका वेष धारण करके उस पाठशालामें एक ओर जाकर खड़े होगये और उसके व्याख्यानको सुनने लगे। इन्द्रभूतिने थोड़ी देरमें विराम लेते हुए जब कहा कि, "क्यों तुम्हारी समझमें आया?" और छात्र वृन्द जब कहने लगे कि, "हां आया." तब इन्द्रने नासिकाका अग्रभाग सिकोड़कर इस प्रकारसे अरुचि प्रगट की कि, वह छात्रोंकी दृष्टिमें आगई। उन्होंने तत्काल ही उस भावका गुरु महाराजसे निवेदन करदिया। तब इन्द्रभूति ब्राह्मण इस अपूर्व छात्रसे बोला कि, "समस्त शास्त्रोंको मैं हथेलीपर रक्खे हुए आंवलेके समान देखता हूं और अन्यान्य वादी गणोंका दुष्ट मद मेरे सन्मुख आते ही नष्ट होजाता है। फिर कहो, किस कारणसे मेरा व्याख्यान तुम्हें रुचिकर नहीं हुआ।" इन्द्रने उत्तर दिया, "यदि आप सम्पूर्ण शास्त्रोंका तत्त्व जानते हैं. तो मेरी इस आर्याका अर्थ लगा दीजिये।" और यह आर्या उसी समय पढ़के सुनाई—

[1]षड्द्रव्यनवपदार्थत्रिकालपञ्चास्तिकायषट्कायान्।
विदुषां वरः स एव हि यो जानाति प्रमाणनयैः॥ १॥

इस अश्रुतपूर्व और अत्यन्त विषम अर्थवाली आर्याको[2] सुनकर इन्द्रभूति कुछ भी नहीं समझा। इसलिये वह बोला, तुम किसके विद्यार्थी हो? इन्द्रने उत्तर दिया "मैं जगद्गुरु श्रीवर्धमान भट्टा-

---

१ छह द्रव्य, नव पदार्थ, तीन काल, पंचअस्तिकाय और छह कायोंको प्रमाणनयपूर्वक जानता है. वही पुरुष विद्वानोंमें श्रेष्ठ है।

२ आर्याके शब्दोंका अर्थ कुछ कठिन नहीं है किन्तु उसमें जिन पदार्थोंकी संख्या बतलाई है, वह किसी भी दर्शनमें नहीं मानी गई है। इसीलिये इन्द्रभूति उसका अभिप्राय प्रगट नहीं कर सका था।

रकका छात्र हूं।" तब इन्द्रभूतिने कहा. "ओह! क्या तुम उसी सिद्धार्थनन्दनके छात्र हो, जो महा इन्द्रजालविद्याका जाननेवाला है. और जो लोगोंको आकाशमार्गमें देवोंको आते हुए दिखलाता है[1]? अच्छा तो मैं उसीके साथ शास्त्रार्थ करूंगा। तेरे साथ क्या करूं। तुम्हारे जैसे छात्रोंके साथ विवाद करनेसे गौरवकी हानि होती है। चलो चलें, उससे शास्त्रार्थ करनेके लिये।" ऐसा कहकर इन्द्रभूति इन्द्रको आगे करके अपने भाई अग्निभूति और वायुभूतिके साथ समवसरणकी ओर चला। वहां पहुंचनेपर ज्यों ही मानस्तम्भके दर्शन हुए त्यों ही उन तीनोंका गर्व गलित हो गया। पश्चात् जिनेन्द्र भगवानको देखकर इनके हृदयमें भक्तिका संचार हुआ। इसलिये उन्होंने तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया. स्तुतिपाठ पढ़ा और उसी समय समस्त परिग्रहका त्याग करके जिनदीक्षा ले ली। इन्द्रभूतिको तत्काल ही सप्तऋद्धियां प्राप्त होगईं और आखिरमें वे भगवान्के चार ज्ञानके धारी प्रथम गणधर हो गये। समवसरणमें उन इन्द्रभूति गणधरने भगवान्से "जीव अस्तिरूप है. अथवा नास्तिरूप है? उसके क्या२ लक्षण हैं; वह कैसा है." इत्यादि साठ हजार प्रश्न किये। उत्तरमें "जीव अस्तिरूप है, अनादिनिधन है. शुभाशुभरूप कर्मोंका कर्ताभोक्ता है. प्राप्त हुए शरीरके आकार है, उपसंहरणविसर्पणधर्मवाला और ज्ञानादि गुणोंकरके युक्त है. उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षणविशिष्ट है, स्वसंवेदनग्राह्य है. अनादिप्राप्त कर्मोंके सम्बन्धसे नोकर्म–कर्मरूप पुद्गलोंको ग्रहण करता हुआ,

---

१ भगवान्के कल्याणकोंमे जब देवोंका आगमन होता था. तब मिथ्याती लोग समझते थे कि-यह कोई इन्द्रजालिया है, जो अपनी विद्यासे यह असंभव दृश्य दिखलाता है।

छोडता हुआ भवभवमें भ्रमण करनेवाला और उक्त कर्मोंके क्षय होनेसे मुक्त होनेवाला है" इस प्रकारसे अनेक भेदोंसे जीवादि वस्तुओंका सद्भाव भगवानने दिव्य ध्वनिके द्वारा प्रस्फुटित किया।

पश्चात् श्रावणमासकी प्रतिपदाको सूर्योदयके समय रौद्रमुहूर्तमें जब कि चन्द्रमा अभिजित नक्षत्र पर था. गुरुके तीर्थकी (दिव्य-ध्वनिकी अथवा दिव्यध्वनिद्वारा संसारसमुद्रसे तिरनेमें कारणभूत यथार्थ मोक्षमार्गके उपदेशकी) उत्पत्ति हुई । श्रीइन्द्रभूति गण-धरने भगवानकी वाणीको तत्त्वपूर्वक जानकर उसीदिन सायंकालको अंग और पूर्वोंकी रचना युगपत् की और फिर उसे अपने सह-धर्मी **सुधर्मा** स्वामीको पढ़ाया । इसके अनन्तर सुधर्माचार्यने अपने सधर्मी **जम्बूस्वामीको** और उन्होंने अन्य मुनिवरोंको वह श्रुत पढ़ाया।

पश्चात् जगत्पूज्य श्रीसन्मतिनाथ अनेक निकट भव्यरूपी सस्योंको (धान्यको) धर्मामृतरूपी वर्षाके सिंचनसे परमानन्दित करते हुए तीसवर्षतक अनेक देशोंमें विहार करते हुए कमलोंके वनसे अतिशय शोभायमान **पावापुरके** उद्यानमें पहुँचे। और वहांसे जब तीन वर्ष साढ़ेआठ महीने चतुर्थकालके शेष रह गये, तब कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीको मोक्ष पधारे[1] । भगवानके निर्वाण होनेके साथ ही श्रीइन्द्रभूति गणधरको केवलज्ञान उत्पन्न हुवा और वे बारहवर्ष विहार करके मोक्षको प्राप्त हुए। उनके

---

१ इसी दिन दीपमालिकाका उत्सव मनाया जाता है। निर्वाण कल्याणका रूपान्तर ही दीपमालिकाका उत्सव है. इसी दिनसे वीरनिर्वाणसंवत् चला है जिसका इससमय २४३४ वां वर्ष चलता है. गुजरात वगेरह अनेक प्रांतोंमें वर्त-मानमें इसी दिनसे ही नवे वर्षका प्रारंभ होता है ।

निर्वाण होते ही **सुधर्माचार्यको** केवलज्ञानका उदय हुआ। सो उन्होंने भी बारहवर्ष विहारकरके अन्तिमगति पाई और तत्काल ही **जम्बूस्वामीको** केवलज्ञान हुआ। उन्होंने ३८ वर्ष विहार करके भव्य जीवोंको धर्मोपदेश दिया और अन्तमें मोक्षमहलको पयान किया। इन तीनों मुनियोंने परम केवल विभूतिको पाई तबतक केवल दिवाकरका उदय निरन्तर बना रहा परन्तु उनके पश्चात् ही उसका अस्त होगया[1]।

जम्बूस्वामिकी मुक्तिके पीछे **श्रीविष्णुमुनि** सम्पूर्ण श्रुतज्ञानके पारगामी श्रुतकेवली (द्वादशांगके धारक) हुए और इसीप्रकारसे **नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन** और **भद्रबाहु**[2] ये चार महामुनि भी अशेषश्रुतसागरके पारगामी हुए। उक्त पांचों श्रुतकेवली १०० वर्षके अन्तरालमें हुए अर्थात् भगवानकी मुक्तिके पश्चात् ६२ वर्षमें ३ केवली हुए और फिर १०० वर्षमें ५ श्रुतकेवली हुए देखते २ श्रुतकेवलि सूर्य भी अस्त होगये. तब ग्यारह अंग और दश पूर्वके धारण करनेवाले ग्यारह महात्मा हुए। **विशाखदत्त**[3], **प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजयसेन, बुद्धिमान, गंगदेव** और **धर्मसेन**[4]। इतनेमें १८३ वर्षका समय व्यतीत होगया। पश्चात् दो सौ बीस वर्षमें **नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, द्रुमसेन**[5] और **कंसाचार्य** ये पांच

---

१ वीर निर्वाणके पश्चात् ६२ वर्षतक केवलज्ञानका अस्तित्व भरतक्षेत्रमें रहा। २ सुप्रसिद्ध ज्योतिषी और अष्टाग निमित्त ज्ञानके ज्ञाता भद्रबाहु इनसे भिन्न हैं। वे इनसे बहुत पीछें हुए हैं। ३ विशाखदत्तको किसी २ ने विशाखाचार्यभी लिखा है। ४ एक पाठमें धर्मसेनके स्थानमे 'दत्त' लिखा है। ५ अन्यान्य ग्रन्थोंमें ध्रुवसेन लिखा है।

मुनि ग्यारह अंगके ज्ञाता हुए। पश्चात् एकसौ अठारह वर्षमें **सुभद्र, अभयभद्र, जयबाहु** और **लोहाचार्य** ये चार मुनीश्वर आचारांग शास्त्रके परम विद्वान् हुए। यहांतक अर्थात् श्रीवीरनिर्वाणके ६८३ वर्ष पीछेतक अंगज्ञानकी प्रवृत्ति रही, अनन्तर कालदोषसे वह भी लुप्त होगयी।

लोहाचार्यके पश्चात् **विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त,** और **अर्हद्दत्त** ये चार आरातीय मुनि अंगपूर्वदेशके अर्थात् अंगपूर्व ज्ञानके कुछ भागके ज्ञाता हुए। और फिर पूर्वदेशके पुण्ड्रवर्द्धनपुरमें **श्रीअर्हद्बलि** मुनि अवतीर्ण हुए। जो अंगपूर्वदेशके भी एकदेश (भाग) के जाननेवाले थे, प्रसारणा धारणा विशुद्धि आदि उत्तम क्रियाओंमें निरन्तर तत्पर थे, अष्टांगनिमित्त ज्ञानके ज्ञाता थे, और मुनिसंघका निग्रहअनुग्रहपूर्वक शासन करनेमें समर्थ थे। इसके सिवाय वे प्रत्येक पाच वर्षके अन्तमें सौ योजन क्षेत्रमें निवास करनेवाले मुनियोंके समूहको एकत्र करके युग–प्रतिक्रमण कराते थे। एकवार उक्त भगवान् अर्हद्बलि आचार्यने युगप्रतिक्रमणके समय मुनिजनोंके समूहसे पूछा कि, "सब यति आगये?" उत्तरमें उन मुनियोंने कहा कि, "भगवन्! हम सब अपने २ संघसहित आगये।" इस वाक्यमें अपने २ संघके प्रति मुनियोंकी निजत्व बुद्धि (पक्षबुद्धि) प्रगट होती थी. इसलिये तत्काल ही आचार्य भगवान्ने निश्चय करलिया कि, इस कलिकालमें अब आगे यह जैनधर्म भिन्न २ गणोंके पक्षपातसे ठहर सकैगा, उदासीन भावसे नहीं।

---

१ पंचास्तिकायकी टीकामें अभयभद्रके स्थानमें यशोधर जयबाहुके स्थानमें महायश लिखा है। जान पड़ता है ये उक्त आचार्योंके नामान्तर होंगे।

अर्थात् आगेके मुनि अपने २ संघका—गणका गच्छका पक्ष धारण करेंगे, सबको एकरूप समझकर मार्गकी प्रवृत्ति नही कर सकेंगे। इस प्रकार विचार करके उन्होंने जो मुनिगण गुफामेंसे आये थे, उनमेंसे किसी २ की **नंदि** और किसी २ की **वीर** संज्ञा रक्खी। जो अशोकवाटसे आये थे उनमेंसे किसीकी **अपराजित** और किसीकी **देव** संज्ञा रक्खी। जो पंचस्तूपोंका निवास छोड़कर आये थे, उनमेंसे किसीको **सेन** और किसीको **भद्र** बना दिया। जो महाशाल्मली (सेंवर) वृक्षोंके नीचेसे आये थे, उनमेंसे किसीकी **गुणधर** और किसीकी **गुप्त** संज्ञा रक्खी और जो खंडकेसर (बकुल) वृक्षोंकेनीचेसे आये थे उनमेंसे किसीकी सिंह और किसीकी **चन्द्र** संज्ञा रक्खी। *

अनेक आचार्योंका ऐसा मत है कि, गुहासे निकलनेवाले नन्दि, अशोक वनसे निकलनेवाले **देव**, पचस्तूपोंसे आनेवाले **सेन** बने भारी शाल्मलिवृक्षके नीचे निवास करनेवाले **वीर** और खंडकेसर वृक्षके नीचे रहनेवाले **भद्र** संज्ञासे प्रसिद्ध किये गये थे। *

इस प्रकारसे मुनिजनोंके संघ प्रवर्तन करनेवाले उक्त श्रीअर्हद्बलि आचार्यके वे सब मुनीन्द्र शिष्य कहलाये। उनके पश्चात्

*उक्त च—आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटा-
देवाश्चान्योऽ**पराद्**जित इति यतिपौ **सेनभद्रा**ह्वयौ च।
पञ्चस्तूप्यात्स**गुप्तौ गुणधर**वृषभः शाल्मलीवृक्षमूला-
न्निर्यातौ **सिंहचन्द्रौ** प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात्॥ १॥

तथा—गुहाया वासितो ज्येष्ठो द्वितीयोऽशोकवाटिकात्।
निर्याता **नन्दिदेवाभि**धानावाद्यानुक्रमात्॥ १॥
पचस्तूप्यास्तु **सेनानां** वीराणां शाल्मलिद्रुमः।
खण्डकेसरनामा च **भद्रः** स (घ) स्य सम्मतः॥ २॥

एक **श्रीमाघनन्दि** नामक मुनिपुंगव हुए और वे भी अंगपूर्व-देशका भलीभांति प्रकाश करके स्वर्गलोकको पधारे। तदनन्तर सुराष्ट्र (सोरठ) देशके गिरिनगरके समीप ऊर्ज्जयन्तगिरि (गिरनार) की **चन्द्रगुफामें** निवास करनेवाले महातपस्वी **श्रीधरसेन** आचार्य हुए। इन्हें अग्रायणीपूर्वके अन्तर्गत पंचमवस्तुके चतुर्थ महाकर्मप्राभृतका ज्ञान था। अपने निर्मल ज्ञानमें जब उन्हें यह भासमान हुआ कि, अब मेरी आयु थोडी शेष रह गई है और अब मुझे जो शास्त्रका ज्ञान है- वही संसारमें अलम् होगा। अर्थात् इससे अधिक शास्त्रज्ञ आगे कोई नहीं होगा। और यदि कोई प्रयत्न नहीं किया जावेगा तो श्रुतका विच्छेद होजावेगा। ऐसा विचारकर निपुणमति श्रीधरसेन महर्षिने देशेन्द्रदेशके बेणातटाकपुरमें निवास करनेवाले महामहिमाशाली मुनियोंके निकट एक ब्रह्मचारीके द्वारा पत्र भेजा। ब्रह्मचारीने पत्र ले जाकर उक्त मुनियोंके हाथमें दिया। उन्होंने बंधन खोलकर वांचा। उसमें लिखा हुआ था कि, "स्वस्तिश्री बेणाकतटवासी यतिवरोंको उर्ज्जयन्ततटनिकटस्थ चन्द्रगुहानिवासी **धरसेनगणि** अभिवन्दना करके यह कार्य सूचित करते हैं कि, मेरी आयु अत्यन्त स्वल्प रहगई है। जिससे मेरे हृदयस्थ शास्त्रकी व्युच्छिति होजानेकी संभावना है, अतएव उसकी रक्षा करनेके लिये आप लोग दो ऐसे यतीश्वरोंको भेज दीजिये जो शास्त्रज्ञानके ग्रहण-धारण करनेमें समर्थ और तीक्ष्ण बुद्धि हों।" इन समाचारोंका आशय भलीभांति समझकर उन मुनियोंने भी दो बुद्धिशाली मुनियोंको अन्वेषण करके तत्काल ही भेज दिये।

जिस दिन वे मुनि ऊर्जयन्तगिरिपर पहुंचे उसकी पहली रात्रिको श्रीधरसेन मुनिने स्वप्नमें दो श्वेत बैलोंको अपने चरणोंमें पड़ते हुए देखा। स्वप्नके पश्चात् ज्यों ही वे "**जयतु श्री-देवता**" ऐसा कहते हुए जागके खड़े हुए त्यों ही उन्होंने देखा कि, **वेणातटाकपुरसे**[1] आये हुए दो मुनि सन्मुख खड़े हैं। और अपने आगमनका कारण निवेदन कर रहे हैं।

श्रीधरसेनाचार्यने आदरपूर्वक उनका अतिथि–सत्कार (प्राघूर्णिक विधान) किया और फिर मार्गपरिश्रम शमन करनेके लिये तीन दिन-तक विश्राम करने दिया। तत्पश्चात् यह सोचकर कि "सुपरीक्षा चित्तको शान्ति देनेवाली होती है" अर्थात् जिस विषयकी भली-भांति परीक्षा कर ली जाती है, उसमें फिर किसी प्रकारकी शंका नहीं रहती है, उन्होंने उन दोनोंको दो विद्यायें साधन करनेके लिये दीं, जिनमेंसे एक विद्यामें अक्षर कम थे और दूसरीमें अधिक थे।

उक्त मुनियोंने श्रीनेमिनाथतीर्थंकरकी सिद्धशिलापर (निर्वाण भूमिपर) जाकर विधिपूर्वक विद्याओंका साधन किया। परन्तु जो अक्षरहीन विद्या साध रहा था. उसके आगे एकआंखवाली देवी और अधिक अक्षर साधनेवालेके सम्मुख बड़ेदांतवाली देवी आकर खड़ी हो गई। यह देखकर मुनियोंने सोचा कि, देवताओंका यह स्वभाव नहीं है—यह असली स्वरूप नहीं है। अवश्य ही हमारी साधनामें कोई भूल हुई है। तब उन्होंने मंत्र व्याकरणकी विधिसे न्यूनाधिक वर्णोंके क्षेपने और अपचय करनेके विधानसे मंत्रोंको

[1] वेणातटकपुर भी कहते हैं।

शुद्ध करके फिर चिन्तवन किया। जिससे कि उन देवियोंने केयूर (भुजापर पहरनेका आभरण) हार, नूपुर (बिछुए), कटक (कंकण) और कटिसूत्र (करधनी) से सुसज्जित दिव्यरूप धारण करके दर्शन दिया और समक्ष उपस्थित होकर कहा कि, "कहिये-किस कार्यके लिये हमको आज्ञा होती है?" यह सुनकर मुनियोंने कहा कि हमारा ऐहिक पारलौकिक ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जिसे तुम सिद्ध कर सको। हमने तो केवल गुरु देवकी आज्ञासे मंत्रोंकी सिद्धि की है। मुनियोंका अभीष्ट सुनकर वे देवियां उसी समय अपने स्थानको चली गई।

इसप्रकारसे विद्यासाधन करके संतुष्ट होकर उन दोनों मुनियोंने गुरुदेवके समीप जाकर अपना सारा वृत्तान्त निवेदन किया उसे सुनकर श्रीधरसेनाचार्यने उन्हें अतिशय योग्य समझकर शुभ तिथि, शुभनक्षत्र और शुभ समयमें ग्रन्थका व्याख्यान करना प्रारंभ कर दिया और वे मुनि भी आलस्य छोड़कर गुरुविनय तथा ज्ञानविनयकी पालना करते हुए अध्ययन करने लगे।

कुछ दिनके पश्चात् आषाढ़ शुक्ला ११ को विधिपूर्वक ग्रन्थ समाप्त हुआ। उसदिन देवोंने प्रसन्न होकर प्रथम मुनिकी दंतपंक्तिको—जो कि विषमरूप थी, कुन्दके पुष्पोंसरीखी कर दी। और उनका पुष्पदन्त ऐसा सार्थक नाम रखदिया। इसी प्रकारसे भूत जातिके देवोंने द्वितीय मुनिकी तूर्यनाद—जयघोष तथा गन्धमाल्य धूपादिकसे पूजा करके उनका भी सार्थक नाम भूतपति रख दिया।

दूसरे दिन गुरुने यह सोचकर कि, मेरी मृत्यु सन्निकट है, यदि ये समीप रहेंगे, तो दुःखी होंगे, उन दोनोंको कुरीश्वर भेज

दिया। तब वे ९ दिन चलकर उस नगरमें पहुंच गये। वहां आषाढ कृष्ण ५ को योग ग्रहण करके उन्होंने वर्षाकाल समाप्त किया। और पश्चात् दक्षिणकी ओरको विहार किया। कुछ दिनके पश्चात् वे दोनों महात्मा करहाट नगरमें पहुंचे। वहां श्री-पुष्पदन्त मुनिने अपने जिनपालित नामक भानजेको देखा और उसे जिनदीक्षा देकर वे अपने साथ ले वनवास देशमें जा पहुंचे। इधर भूतबलि द्रविडदेशके मथुरा नगरमें पहुंचकर ठहर गये। करहाट नगरसे उक्त दोनों मुनियोंका साथ छूट गया।

श्रीपुष्पदन्त मुनिने जिनपालितको पढानेके लिये विचार किया कि, कर्मप्रकृति प्राभृतकी छहखंडोंमें उपसंहार करके ग्रन्थरूप रचना करनी चाहिये और इसलिये उन्होंने प्रथम ही जीवस्थाना-धिकारकी जिसमें कि गुणस्थान, जीवसमासादि बीस प्ररूपणाओंका वर्णन है, बहुत उत्तमताके साथ रचना की। फिर उस शिष्यको सौ सूत्र पढाकर श्रीभूतबलिमुनिके पास उनका अभिप्राय ज्ञान करनेके लिये अर्थात् यह जाननेके लिये कि वे इस कार्यके करनेमें सहमत हैं, अथवा नहीं हैं, और हैं तो जिसरूपमें रचना हुई है. उसके विषयमें क्या सम्मति देते है, भेज दिया। उसने भूतबलि मह-र्षिके समीप जाकर वे प्ररूपणासूत्र सुना दिये। जिन्हें सुनकर उन्होंने श्रीपुष्पदन्त मुनिका षट्खंडरूप आगमरचनाका अभिप्राय जानलिया और अब लोग दिनपर दिन अल्पायु और अल्पमति हो-ते जाते हैं, ऐसा विचार करके उन्होंने स्वयं पांच खंडोंमें पूर्व सूत्रोंके सहित[1] छह हजार श्लोकविशिष्ट द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकारकी

---

१ दक्षिण देशमें पहिले शुक्ल पक्ष पीछें कृष्ण पक्ष आता है।

रचना की और उसके पश्चात् **महाबन्ध** नामक छठेखंडको तीस हजार सूत्रोंमें समाप्त किया । पहले पांच खंडोके नाम ये हैं, **जीवस्थान, क्षुल्लकबन्ध, बन्धस्वामित्व, भाववेदना और वर्गणा ।**

श्रीभूतबलि मुनिने इसप्रकार षट्खंडागमकी रचना करके उसे असद्भाव स्थापनाके द्वारा पुस्तकोंमें आरोपण किया अर्थात् लिपिबद्ध किया[1] और उसकी **ज्येष्ट शुक्ला पंचमीको** चतुर्विधि संघके सहित वेष्टनादि उपकरणोंके द्वारा क्रियापूर्वक पूजा की । उसी दिनसे यह ज्येष्ट शुक्ला पंचमी संसारमें श्रुतपंचमीके नामसे प्रख्यात हो गई । इस दिन श्रुतका अवतार हुआ है. इसलिये आजपर्यंत समस्त जैनी उक्त तिथिको श्रुतपूजा करते हैं ।

कुछ दिनके पश्चात् भूतबलि आचार्यने षटखंड आगमका अध्ययन करके **जिनपालित** शिष्यको उक्त पुस्तक देकर श्रीपुष्पदन्त गुरुके समीप भेजदिया । जिनपालितके हाथमें षट्खंड आगम देखकर और अपना चिन्तवन किया हुआ कार्य पूर्ण होगया जानकर श्रीपुष्पदन्ताचार्यका समस्त शरीर प्रगाढ़ श्रुतानुरागमें तन्मय होगया और तब अतिशय आनन्दित होकर उन्होंने भी चतुर्विधि संघके साथ श्रुतपंचमी[2]को गन्ध, अक्षत, माल्य, वस्त्र, वितान, घंटा, ध्वजादि द्रव्योंसे पूर्ववत् सिद्धान्तग्रंथकी महापूजा की ।

---

१ ऐसा जानपड़ता है कि. तब तक आगमज्ञान गुरुपरपरासे कठस्थ ही चला आया था, लिपिबद्ध नहीं हुआ था । परन्तु इससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि, इसके पहले लिखनेकी प्रणाली ही नही थी ।

२ यह दूसरे वर्षकी श्रुतपंचमी होगी ।

इस प्रकार **षट्खंड आगमकी** उत्पत्तिका वर्णन करके अब **कषायप्राभृत** सूत्रोंकी उत्पत्तिका कथन करते हैं।

(बहुत करके श्रीधरसेनाचार्यके समयमें) एक **श्रीगुणधर** नामके आचार्य हुए। उन्हें पांचवें ज्ञानप्रवाद पूर्वके दशमवस्तुके तृतीय कषायप्राभृतका ज्ञान था। श्रीगुणधर और श्रीधरसेनाचार्यकी पूर्वापर गुरु परंपराका क्रम हमको ज्ञात नहीं है. क्योंकि उनकी परिपाटीके बतलानेवाले ग्रन्थों और मुनिजनोंका अभाव है[1]। इसलिये इस विषयमें कुछ नहीं कहा जासकता। अस्तु श्रीगुणधर मुनिने भी वर्तमान पुरुषोंकी शक्तिका विचार करके **कषायप्राभृत** आगमको जिसे कि **दोषप्राभृत** भी कहते हैं. एकसौ तिरासी १८३ मूल गाथा और ५३ तिरेपन विवरणरूप गाथाओंमें बनाया। फिर १५ महा-अधिकारोंमें विभाजित करके **श्रीनागहस्ति** और **आर्यमंक्षु** मुनियोंके लिये उसका व्याख्यान किया। पश्चात् उक्त दोनों मुनियोंके समीप शास्त्रनिपुण **श्रीयतिवृषभ** नामक मुनिने दोषप्राभृतके उक्त सूत्रोंका अध्ययन करके पीछे उनकी सूत्ररूप चूर्णिवृत्ति छह हजार श्लोक प्रमाण बनाई। अनन्तर उन सूत्रोंका भलीभांति अध्ययन करके **श्रीउच्चारणाचार्यने** १२००० श्लोक प्रमाण उच्चारणवृत्ति नामकी टीका बनाई। इसप्रकारसे गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्यने कषायप्राभृतका गाथा—चूर्णि और उच्चारणवृत्तिमें उपसंहार किया।

इसप्रकारसे उक्त दोनों कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत सिद्धा-

---

१ यथा मूल पुस्तके—गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात्॥ १५०॥

न्तोंका ज्ञान द्रव्यभाव[1]रूप पुस्तकोंसे और गुरुपरंपरासे **कुण्डकुन्द**-पुरमें ग्रन्थपारिकर्म (चूलिका–सूत्र) के कर्त्ता श्रीपद्ममुनिको प्राप्त हुआ सो उन्होंने भी छह खंडोंमेंसे पहले तीन खंडोंकी बारह हजार श्लोकप्रमाण टीका रची।

कुछ काल बीतनेपर श्री**श्यामकुण्ड** आचार्यने सम्पूर्ण दोनों आगमोंको पढ़कर केवल एक छठे महाबन्ध खंडको छोड़कर शेष दोनों ही प्राभृतोंकी बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका बनाई। इन्हीं आचार्यने प्राकृत संस्कृत और कर्णाटक भाषाकी उत्कृष्ट **पद्धति**[2] (ग्रन्थपरिशिष्ट) की रचना की।

इसके कुछ समय पश्चात् **तुम्बुलूर** ग्राममें एक **तुम्बुलूर** नामके आचार्य हुए और उन्होंने भी छठे महाबन्ध खंडको छोड़कर शेषदोनों आगमोंकी कर्णाटकीय भाषामें ८४ हजार श्लोक प्रमित **चूडामणि** नामकी व्याख्या रची। पश्चात् उन्हींने छठे खंडपर भी सात हजार श्लोक प्रमाण पंजिका टीका की रचना की।

कालान्तरमें ता[3]र्किकसूर्य **श्रीसमन्तभद्र** स्वामीका उदय हुआ।

---

१ लिखित ताडपत्र अथवा कागज आदिकी पुस्तकोंको द्रव्य पुस्तक और उसके कथनको भाव पुस्तक कहते हैं.

२ हेमकोषमे पद्धतिका अर्थ **ग्रन्थपरिशिष्ट** लिखा है। जान पडता है उक्त आचार्यने उक्तभाषाओंके व्याकरण विषयक परिशिष्ट ग्रन्थ बनाये हैं. और यह पद्धति शब्द उन्ही ग्रन्थोंसे सम्बध रखता है इतिहासकारोंका भी ऐसा मत है कि कर्णाटक भाषाका व्याकरण जैनऋषियोंने ही बनाया है।

३ मूल पुस्तकमे **आसन्ध्यापलरि** इसप्रकारका पद पड़ा हुआ है परन्तु ठीक २ नहीं पढ़ा जाता है वह किसी नगर वा ग्रामका नाम है जहां समन्तभद्र स्वामी हुए थे।

तब उन्होंने भी दोनों प्राभृतोंका अध्ययन करके प्रथम पांच खंडोंकी अड़तालीस हजार श्लोक परिमित टीका अतिशय सुन्दर सुकोमल संस्कृत भाषामें बनाई। पीछेसे उन्होंने द्वितीय सिद्धान्तकी व्याख्या लिखना भी प्रारंभ की थी, परन्तु द्रव्यादि शुद्धिकरण-प्रयत्नोंके अभावसे उनके एक सधर्मी (मुनि) ने निषेध कर दिया। * जिससे वह नहीं लिखी गई।

इसप्रकार व्याख्यानक्रम (टीकादि) से तथा गुरु परंपरासे उक्त दोनों सिद्धान्तोंका बोध अतिशय तीक्ष्णबुद्धिशाली श्री **शुभनन्दि** और **रविनन्दि** मुनिको प्राप्त हुआ। ये दोनों महामुनि **भीमरथि** और **कृष्णमेणा** नदियोंके मध्यमें बसे हुए **रमणीय-उत्कलिका** ग्रामके समीप सुप्रसिद्ध **अगणवल्ली** ग्राममें स्थित थे। उनके समीप रहकर **श्रीवप्पदेवगुरुने** दोनों सिद्धान्तोंका श्रवण किया और फिर तज्जन्यज्ञानसे उन्होंने महाबन्ध खंडको छोड़कर शेष पांच खंडोंपर **व्याख्याप्रज्ञप्ति** नामकी व्याख्या बनाई। उसमें महाबन्धका संक्षेप भी सम्मिलित कर दिया। पश्चात् कषाय प्राभृतपर प्राकृतभाषामें साठ हजार और केवल महाबन्ध खण्डपर आठ हजार पांच श्लोक प्रमाण, दो व्याख्यायें रचीं।

कुछ समय पीछे **चित्रकूटपुरनिवासी** श्रीमान् **एलाचार्य**[१]

---

* यथा मूल पुस्तके—विलिखन् द्वितीयसिद्धान्तस्य व्याख्यां सधर्मणा स्वेन।
द्रव्यादिशुद्धिकरणप्रयत्नविरहात्प्रतिनिषिद्धम् ॥ १६९ ॥

१ श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका भी अपर नाम एलाचार्य प्रसिद्ध है। क्या ये ८४ प्राभृतग्रन्थोंके कर्त्ता कुन्दाकुन्दाचार्यसे भिन्न है?

सिद्धान्त तत्त्वोंके ज्ञाता हुए। उनके समीप **वीरसेनाचार्यने** समस्त सिद्धान्तका अध्ययन किया और उपरितम (प्रथमके) निबंधनादि आठ अधिकारोंको लिखा। पश्चात् गुरु भगवानकी आज्ञासे चित्रकूट छोड़कर वे वाट ग्राममें पहुंचे। वहां आनतेन्द्रके बनाये हुए जिनमन्दिरमें बैठकर उन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्ति देखकर पूर्वके छह खंडोंमेंसे उपरिम बन्धनादिक अठारह अधिकारोंमें **सत्कर्म** नामका ग्रन्थ बनाया और फिर छहों खंडोंपर ७२००० श्लोकोंमें संस्कृत प्राकृत भाषा मिश्र **धवल** नामकी टीका बनाई। और फिर कषाय प्राभृतकी चारों विभक्तियों (भेदों)? पर **जय-धवल** नामकी २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर स्वर्गलो-कको पधारे। उनके पश्चात् उनके प्रिय शिष्य **श्रीजयसेन** गुरुने चालीस हजार श्लोक और बनाकर जयधवल टीकाको पूर्ण की. जयधवल टीका सब मिलकर ६० हजार श्लोकोंमें पूर्ण हुई।

इस प्रकारसे **श्रीइन्द्रनन्दियतिपतिने** भव्यजनोंके लिये श्रुतपंचमीके दिन ऋषियोंद्वारा व्याख्यान करने योग्य इस श्रुतावतारका निरूपण किया। इसमें यदि मुझ अल्पबुद्धिने आग-मके विरुद्ध कुछ लिखा हो, तो उसे आगम तत्त्व जाननेवाले पुरुषोंको संशोधन कर लेना चाहिये। इस प्रकार दो अनुष्टुप् एक शार्दूलवृत्त और १८१ आर्यावृत्तोंके द्वारा २०७ श्लोक संख्यामें यह ग्रन्थ पूर्ण किया है॥

इति श्रुतावतार कथा समाप्ता।

ॐ

अथ श्रुतस्कन्धविधानं लिख्यते।

शार्दूलविक्रीडितम्।

अर्हत्सिद्धगुरुप्रपाठकमहासाधून्समाराध्य स-
द्भारत्युत्तमपादपद्मयुगलं मूर्ध्ना प्रणम्य त्रिधा।
विद्यानन्दकलङ्कपूज्यचरणत्रैविद्यविद्यास्पद-
श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमवतार्यार्चे श्रुतस्कन्धकम्॥१

इति श्रुतस्कन्धपूजाप्रतिज्ञानाय श्रुतस्कन्धोपरि पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्।

आर्या.

मतिमूलं लब्ध्यक्षरमुखप्रकाण्डं सदङ्गशाखाद्यम्।
शब्ददलं चार्थफलं प्रशमच्छायं श्रये श्रुतस्कन्धम्॥

ओं ह्रीं श्रुतस्कन्धस्वामिन्नत्र एहि एहि। संवौषट्।
ओं ह्रीं श्रुतस्कन्धस्वामिन्नत्र तिष्ठ तिष्ठ। ठः ठः।
ओं ह्रीं श्रुतस्कन्धस्वामिन्मम सन्निहितो भव भव वषट्॥

(इति आह्वाननस्थापनसन्निधापनम्।)

अथ साधुचरणकथकं सहस्रमष्टादशाहतं सुदयम्।
सुपदामाचाराङ्गं सदङ्गमर्चाम्युदकमुख्यैः॥ २॥

ओं ह्रीं आचाराङ्गाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।
ओं ह्रीं आचाराङ्गाय गन्धं निर्वपामीति स्वाहा।

ओं ह्रीं आचाराङ्गाय अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ।
ओं ह्रीं आचाराङ्गाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ।
ओं ह्रीं आचाराङ्गाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ।
ओं ह्रीं आचाराङ्गाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ।
ओं ह्रीं आचाराङ्गाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ।
ओं ह्रीं आचाराङ्गाय फलं निर्वपामीति स्वाहा ।
ओं ह्रीं आचाराङ्गाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

सम्यग्ज्ञानसुविनयच्छेदोपस्थापनाक्रियावरदम् ।
सूत्रकृतं षट्त्रिंशत्सहस्रपदमर्चयामि गन्धाद्यैः ।।४।।

ओं ह्रीं सूत्रकृताङ्गाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।
(इसीप्रकार चंदनादि सात द्रव्य भी चढाना)

षड्द्रव्यैकाद्युत्तरस्थानव्याख्यानकारकं स्थानम् ।
द्वाचत्वारिंशत्पदसहस्रमर्चामि वारिमुखैः ।। ५ ।।

ओं ह्रीं स्थानाङ्गाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।
(इसीप्रकार चंदनादि सात द्रव्यभी चढाना)

धर्माधर्मजगत्खं जीवं चैकं विनान्त्यमाद्यमिमम् ।
द्वीपं सर्वार्थकरं विमानमपि वापिकां सुविस्ताराम्
नान्दीश्वरीं च कालं भवं च भावं निरूपयद्विशदम्
समवायाङ्गं चार्चे लक्षचतुःषष्ठिमित्सहस्रपदम् ।।७।।

ओं ह्रीं समवायाङ्गाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।
(इसीप्रकार चंदनादि ७ द्रव्यभी चढाना)

जीवोऽस्ति वेति सूरिप्रश्नसहस्रं प्रवक्ति षष्टिगुणम् ।
लक्षद्वयाष्टविंशति सहस्रपदपद्धतिर्यत्र ॥ ८ ॥
व्याख्या प्रज्ञप्तिरिमां यजामि जलचन्दनाक्षतप्रसवैः
चरुदीपधूपसुफलैर्विमुक्तिफलहेतवे सततम् ॥ ९ ॥
ओं ह्रीं व्याख्याप्रज्ञप्तये जलं निर्वपामीति स्वाहा ।
(इसीप्रकार चंदनादि ७ द्रव्य भी चढाना)

जिनपतिगणपतिसुकथज्ञातृकथापञ्चलक्षपदसहिता
षट्पञ्चाशत्सत्पदसहस्रसमिता च पूज्यते सुबुधैः ॥
ओं ह्रीं ज्ञातृकथाङ्गाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।
(इसीप्रकार चंदनादि भी चढाना)

लक्षैकादशसप्ततिसहस्रपदसंयुतं यजामि सदा ।
आह्निकसद्व्रतकथकं विनयेनोपासकाध्ययनम् ॥११॥
ओं ह्रीं उपासकाध्ययनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।
(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

शून्यत्रयाष्टनेत्रत्रिनेत्रमर्चामि चान्तकृद्दशकम् ।
उपसर्गादाप्तशिवं प्रतितीर्थं चान्तकृद्दचकम् ॥१२॥
ओं ह्रीं अन्तकृद्दशाङ्गाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।
(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

द्विनवतिलक्षचतुर्युतचत्वारिंशत्सहस्रपदसहितम् ।
तद्वदनुत्तरपददं यजाम्यनुत्तरजनुर्दशकम् ॥ १३ ॥

ओं ह्रीं अनुत्तरोपपादकदशाङ्गाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

लक्षत्रिनवतिषोडशसहस्रपदसत्पदं जलप्रमुखैः ।
नष्टमुष्ट्यादिकथकं प्रश्नव्याकरणमिदमर्चे ॥ १४ ॥

ओं ह्रीं प्रश्नव्याकरणाङ्गाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

उदयोदीरणसत्ताविचारकं कर्मणां यजामि मुदा ।
नित्यं विपाकसूत्रं कोटिपदं चतुरशीतिलक्षपदम् ॥

ओं ह्रीं विपाकसूत्राङ्गाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

इत्येकादशसर्ववित्प्रकथितान्यङ्गानि यः पूजये-
द्भव्यो भूरिसुगन्धपुष्पनिचयैर्भक्त्या जिनोक्तौ रतः
स स्यात्कर्मकलङ्कपङ्करहितो भव्याब्जसम्बोधने
हंसः शंसित एव कर्मकुरिपुध्वंसैकशूरोजिनः ॥१६॥

ओं ह्रीं एकादशाङ्गेभ्यः पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

अथ दृष्टिवादनामधेयं द्वादशमङ्गं पञ्चप्रकारं पूज्यते । तत्र प्रथमप्रकारे पञ्चप्रकाराः पूज्यन्ते ।

चन्द्रायुर्गतिविभवप्ररूपिका पञ्चपदसहस्रयुता ॥

षट्त्रिंशल्लक्षपदा चन्द्रप्रज्ञप्तिरिज्येत ॥ १७ ॥

ओं ह्रीं चन्द्रप्रज्ञप्तये जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

त्रिसहस्रलक्षपञ्चकपदकलिताललितशब्दसुविचित्रा
सूर्यायुरादिकथिका सूर्यप्रज्ञप्तिरच्यैत ॥ १८ ॥

ओं ह्रीं सूर्यप्रज्ञप्तये जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

लक्षत्रयं सपादं सुपदानां यत्र जिनवरोद्दिष्टम् ।
तद्वर्णना च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिरर्ह्येत ॥ १९ ॥

ओं ह्रीं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तये जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

द्वापञ्चाशल्लक्षा षट्त्रिंशत्पदसहस्रयुक्तियुता ।
सर्वद्वीपाब्धिगता प्रज्ञप्तिर्द्वैपसागरीज्या मे ॥ २० ॥

ओं ह्रीं द्वीपसागरप्रज्ञप्तये जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

पदचतुरशीतिलक्षा षट्त्रिंशत्पदसहस्रसम्मिलिता ।
षड्द्रव्यरूपिताद्या व्याख्याप्रज्ञप्तिरिह पूज्या ॥ २१ ॥

ओं ह्रीं व्याख्याप्रज्ञप्तये जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

इत्येवं परिकर्म शर्मकरणं भव्यात्मनां पञ्चधा
व्याख्यातं च समर्चितं च विनयाद्विज्ञानरत्नास्पदम्।
अस्मै योऽर्घ्यमनर्घमर्पयति ना पूर्णं जलाद्यष्टभि-
र्द्रव्यैर्नव्यवधूमिवाश्रयति संश्रूरः स मुक्तिश्रियम् ॥
ओं ह्रीं पञ्चप्रकाराय परिकर्मणे महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

कर्तृत्वादि विधानं भूतोद्भवनादिनिन्दनं सूत्रम्।
लक्षाष्टाशीतिपदं जीवस्यार्चामि गन्धाद्यैः ॥२३॥
ओं ह्रीं सूत्राय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

श्रीमन्महापुराणं त्रिषष्ठिसत्पुरुषचारुचरितकथम्।
बोधिसमाधिनिधानं पदपञ्चसहस्रमर्चेऽहम् ॥
ओं ह्रीं प्रथमानुयोगाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

अथ पूर्वगते भेदे प्रथमं पूर्वं भवेच्च कोटिपदम् ।
वस्तूत्पादादिकथं नाम्नोत्पादं समर्हामि ॥ २५ ॥
ओं ह्रीं उत्पादपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

षण्णवतिलक्षसुपदं मुनिमानसरत्नकाञ्चनाभर
णम् । अङ्गाग्रार्थनिरूपकमर्च्ये चाग्रायणीयमिदम्॥

ओं ह्रीं अग्रायणीयपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

पदसप्ततिलक्षपदं श्रीमत्तीर्थंकरान्तबलकथकम् ।
महयामि मलयजाद्यैः पुरुवीर्यानुप्रवादमिदम् ॥

ओं ह्रीं वीर्यानुप्रवादपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

वस्त्वस्तिनास्तिचेति प्ररूपकं षष्ठिलक्षपदविशदम् ।
अञ्चामि वाञ्छितापत्तदस्तिनास्तिप्रवादमिदम् ॥

ओं ह्रीं अस्तिनास्तिप्रवादपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

अष्टज्ञानतदुद्गमहेत्वाधारप्ररूपकं प्रयजे ।
ज्ञानप्रवादपूर्वं कोटिपदं हीनमेकेन ॥ २९ ॥

ओं ह्रीं ज्ञानप्रवादपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

वर्णस्थानद्विखमुखजन्तुवचोगुप्तिसंस्कृतिप्रकटम् ।
सत्यप्रवादमर्चे षट्पदयुतकोटिपदसुमितम् ॥३०॥

ओं ह्रीं सत्यप्रवादपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

ज्ञानाद्यात्मककर्तृत्वादियुतात्मस्वरूपकथकमिमम् ।
आत्मप्रवादमर्चे षड्विंशतिकोटिपदसुपदम् ॥३१॥

ओं ह्रीं आत्मप्रवादपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

बन्धोदयोपशमनोदीरणनिर्जरणमपि च कर्मततेः ।
कर्मप्रवादमर्चे अशीतिलक्षाग्रकोटिपदम् ॥ ३२ ॥

ओं ह्रीं कर्मप्रवादपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

प्रत्याख्यानं द्रव्ये पर्याये चापि यत्र निश्चलनम् ।
प्रत्याख्यानमिहार्चे तत्सततं चतुरशीतिलक्षपदम् ॥

ओं ह्रीं प्रत्याख्यानपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

पञ्च च सप्त च गुरवः क्षुद्रा विद्या श्च यत्र शतसंख्याः
दशलक्षपदं कोट्या महविद्यानुप्रवादमिदम् ॥

ओं ह्रीं विद्यानुप्रवादपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

अर्हच्चत्रयादिशुभव्यावर्णनमत्र यत्र पूज्यमिदम् ।
षड्विंशतिकोटिपदं कल्याणं नाम तत्सुधियाम् ॥

ओं ह्रीं कल्याणपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

अष्टाङ्गवैद्यविद्या गारुडविद्या च मन्त्रतन्त्रगता ।
प्राणावायं च यजे दशकोटिपदं त्रिकोटिपदम् ॥

ओं ह्रीं प्राणावायपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

छन्दोऽलङ्कारकलामहास्पदंसकलविन्मुखादुदितम्।
क्रियाविशालं चालं नवकोटिपदं सदैव यजे ॥३७॥

ओं ह्रीं क्रियाविशालपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

सार्द्धद्वादशकोटीपदप्रमाणं गणन्ति यतिवृषभाः ।
तल्लोकविन्दुसारं लोकाग्रसुखप्रदं प्रयजे ॥ ३८ ॥

ओं ह्रीं लोकविन्दुसारपूर्वाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

शार्दूलविक्रीडितम् ।

पूर्वाण्यत्र चतुर्दशेति गदितान्यर्हद्गिरागश्च्युते-
रिष्ट्वा यो विधिपूर्वकं बुधजनश्चार्घेण संयोजयेत् ।
स श्रीपालउदारसारसुकृतस्त्रैलोक्यपूज्यं पदं
लब्ध्वा सिद्धिपदं लभेत दुरघं दूरं च शूरो यजेत् ॥

ओं ह्रीं चतुर्दशपूर्वेभ्यो महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३९ ॥

खखनेत्ररन्ध्रवसुनवखनेत्रपदसंयुता मता महताम् ।
स्याच्चूलिकाजलगता जलादिभिः पूज्यतेसततम् ॥

ओं ह्रीं जलगतायै चूलिकायै जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४० ॥

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

तदिवपदमानसहितासुचूलिकास्थलगताशुमन्त्राद्यैः
स्थलगमनकार्यसारा समर्च्यते गन्धतोयाद्यैः ॥
ओं ह्रीं स्थलगतायै चूलकायै जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥४१॥
(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

इन्द्रजालादिमन्त्रा मायाश्रितचूलिका चमत्कृतिका
पूर्वोक्तपदसमाना जलदलतान्तादिभिः पूज्या ॥
ओं ह्रीं मायागतायै चूलिकायै जलं निर्वपामीति स्वाहा॥४२॥
(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

गगनगमनादिमन्त्राकाशगताचूलिकापितावतिका
भुवनवरचन्दनाद्यैःसमर्च्यतेचतुरनरनिकरैः॥४३॥
ओं ह्रीं आकाशगतायै चूलिकायै जलं निर्वपामीति स्वाहा ।
(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

द्वीपिद्विपनरसुरवररूपविधात्री सुमन्त्रतन्त्राद्यैः ।
उपरिपरिकथितमाना रूपगताचूलिका चर्च्या ॥
ओं ह्रीं रूपगतायै चूलिकायै जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥४४॥
(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

शार्दूलविक्रीडितम् ।

इत्येवं घनपुष्पचन्दनलसच्छालीयसत्तण्डुलैः
सौरभ्याधिकपुष्पचारुचरुसद्दीपौघधूपैः फलैः ।
दूर्वास्वस्तिकपूर्वकैश्च रचितं रक्षाग्रभूषं ददे

चूलाभ्योऽर्घ्यमनर्घसम्पदिशुभश्रीपालजैनालये ॥

ओं ह्रीं जलस्थलमायाकाशरूपगताभ्यश्चूलिकाभ्यो महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४५ ॥

सत्सामायिकसंस्तवौ जिनवरे स्याद्वन्दना च प्रति-
क्रान्तिर्वैनयिकं यथार्थमुदितं दीक्षादिसत्कर्मणः ।
वक्तुस्यात्कृतिकर्म च द्रुमसुमादीनां दशानां भिदां
स्याद्वैकालिकमेतदादियतिनामाचारशेषाश्रयम् ॥
भिक्षूणामुपसर्गतत्फलकथं शास्त्रं प्रकीर्णाष्टमं । ना-
म्नाभाणि तदुत्तराध्ययनकं योग्यान्यथा शोधनम् ।
तत्कल्पव्यवहारमार्हतयतिव्रातस्य पुण्यास्पदं
कल्पाकल्पमयोग्ययोग्यकथकंकालाद्वि वालिङ्गिनां ।
दीक्षाशिक्षणभावनात्मविलसत्संस्कारवर्षार्थिव्रत्
साधूनां गणपोषणादि च महाकल्पं ब्रवीति ध्रुवम् ।
देवत्वाप्ति च पुण्डरीकममरैस्तत्कामिनीकृन्महा
शब्दाग्रं किल पुण्डरीकमुदिता चाशीतिकाशोधनं ॥
तद्ग्रन्थः खलु पञ्चविंशतिगुणं लक्षं सहस्रत्रयं
त्रीण्येवात्रशतान्यशीतिसहितानित्रिश्च रूवाक्षरैः ।
शास्त्रं चैतदिहप्रकीर्णकमिति द्विःसप्तसंख्यं ददे

तस्मै चार्घ्यमनर्घमुक्तिपदवीदीपायसिद्धिश्रिये ॥

ओं ह्रीं चतुर्दशप्रकीर्णकेभ्यो जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥४९॥

(इसीप्रकार चंदनादि चढाना)

अथ जयमाला ।

गुणरत्ननिधानं कृतिसन्मानं सकलविमलकेवल
सदृशम् । श्रुतममलमुदारं त्रिभुवनसारं संस्तवीमि
विनयादनिशम् ॥

जिनेन्द्रस्य वार्जातसंजातमर्थं
समुद्योतयन्तं समुद्घं समर्थम् ।
समेयाक्षरं चाप्यमेयार्थभारं
श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥ २ ॥

फलं सद्व्रतानां तपःसन्ततीनां
सुनिर्दूषणं भूषणं हृद्यतीनाम् ।
महातीर्थभूतं प्रपूतावतारं
श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥ ३ ॥

महाश्वभ्रपाते करालम्बदानं
सतां केवलज्ञानसम्पन्निदानम् ।
विमुक्त्यङ्गनाकण्ठशृङ्गारहारं
श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥ ४ ॥

सुविद्वज्जनानां सुराधीशमानं
समस्तं शुभं वस्तु नैतत्समानम् ।
चिदानन्दशुद्धात्मसद्ध्यानतारं
श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥ ५ ॥

अमुष्यार्चया शत्रवो यान्ति नाशं
समाप्नोति चानन्तमत्रापि ना शम् ।
किमन्येन वाग्जालवादेन वारं
श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥ ६ ॥

प्रचण्डापि किं डाकिनी शाकिनीयं
विधत्ते भयं क्रूरकर्माविनेयम् ।
ग्रहः पीडयत्यत्र भक्तिप्रकारं
श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥ ७ ॥

सुवन्ध्यापि नारी लभेतात्मजातं
न दुर्भिक्षमारीतिकोपात्मघातम् ।
निरीक्षेत जन्तुः स्मृतेरस्य चारं
श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥ ८ ॥

निमज्जोज्ज्वले स्वर्धुनीनां जले त्वं
किमेषि त्रिनेत्रादिकेष्ट्या महत्त्वम् ।

विनैतं न चाप्नोषि संसारपारं
श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥ ९ ॥

अघार्कप्रतापेन चेत्पीडितात्मा
फलार्थी च पीयूषपानेच्छुकात्मा ।
अरे दुर्मते मुञ्च मिथ्याविचारं
श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥ १० ॥

सुदेवेन्द्रकीर्त्तिश्च विद्यादिनन्दी
गरीयान् गुरुर्मेऽर्हदादिप्रवन्दी ।
तयोर्विद्धि मां मूलसङ्घे कुमारं
श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥ ११ ॥

घत्ता ।

सम्यक्त्वसुरत्नंसद्व्रतयत्नंसकलजन्तुकरुणाकरणम्
श्रुतसागरमेतं भजत समेतं निखिलजगत्परितः
शरणम् ॥ १२ ॥

ओं ह्रीं श्रीश्रुतस्कन्धाय प्रक्षीणकर्मबन्धाय महार्घ्यं निर्वपा-
मीति स्वाहा ।

ओं ह्रीं श्रीं वद वद वाग्वादिनि भगवति सरस्वति ह्रीं नमः।

(अयं जाप्यमन्त्रः अष्टोत्तरशतं एकविंशतिर्वा नव वा जपेत् ।)

पूजितोऽयं श्रुतस्कन्धो ददातु तव वाञ्छितम् ।
शान्तिरस्तु नृपादीनां चतुर्विधगणस्य च ॥

(इत्याशीर्वादः ।)

इतिश्रीश्रुतस्कन्धपूजाविधिः समाप्तः ।

ॐ

अथ सरस्वतीपूजा भाषा लिख्यते।

दोहा।

जनम जरा मृति छय करै, हरै कुनय जडरीति।
भवसागरसों ले तिरै, पूजें जिनवचप्रीति ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतिवाग्वादिनि! अत्र अवतर अवतर। संवौषट्। अत्र तिष्ठ तिष्ठ। ठः ठः। अत्र मम सन्निहिता भवभव। वषट्।

त्रिभंगी।

छीरोदधि गंगा, विमल तरंगा, सलिल अभंगा, सुखसंगा। भरि कंचनझारी, धार निकारी, तृषा निवारी, हित चंगा॥ तीर्थंकरकी धुनि, गनधरने सुनि, अंग रचे चुनि, ज्ञानमई। सो जिनवरबानी, शिवसुखदानी, त्रिभुवन मानी पूज्य भई॥ २॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै जलं निर्वपामीति स्वाहा।

करपूर मंगाया, चन्दन आया, केशर लाया, रंग भरी। शारदपद बंदौं मन अभिनंदौं, पापनिकंदौं, दाह हरी॥ तीर्थ० सो०॥ २॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ॥

सुखदासकमोदं, धारप्रमोदं, अतिअनुमोदं, चंदसमं। बहुभक्ति बढ़ाई, कीरति गाई, होहु सहाई, मात ममं॥ तीर्थ० सो० ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै अक्षतान् निर्वपामि ॥

बहुफूलसुवासं, विमलप्रकाशं, आनँदरासं, लाय धरे । मम काम मिटायो, शीलबढ़ायो, सुखउपजायो, दोष हरे ॥ तीर्थ० सो० ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै पुष्पं निर्वपामि ॥

पकवान बनाया, बहुघृत लाया, सबविधि भाया, मिष्ट महा । पूजूं थुति गाऊं, प्रीति बढ़ाऊं, क्षुधा नशाऊं, हर्ष लहा ॥ तीर्थ० सो० ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै नैवेद्यं निर्वपामि ॥

करि दीपक ज्योतं, तमछय होतं, ज्योति उदोतं, तुमहिं चढ़ै । तुम हो परकाशक, भरमविनाशक, हम घटभासक,ज्ञान बढ़ै॥तीर्थ०सो०॥६॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै दीपं निर्वपामि ॥

शुभगंध दशोंकर, पावकमें धर, धूप मनोहर,

खेवत हैं। सब पाप जलावे, पुण्य कमावै, दास कहावैं, सेवत हैं॥ तीर्थ० सो० ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै धूपं निर्वपामि ॥

बादाम छुहारी, लोंग सुपारी, श्रीफलभारी, ल्यावत हैं। मनवांछित दाता, मेंट असाता, तुम गुन माता, गावत हैं॥ तीर्थ० सो० ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै फलं निर्वपामि ॥

नयननसुखकारी, मृदुगुनधारी, उज्ज्वलभारी, मोल धरे। शुभगंधसम्हारा, वसननिहारा, तुमतर-धारा, ज्ञानकरे॥ तीर्थ० सो० ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै वस्त्रं निर्वपामि ॥

जलचंदन अच्छत, फूल चरोंचत, दीपधूप अति, फल लावैं। पूजाको ठानत, जो तुम जानत, सो नर द्यानत, सुख पावै॥ तीर्थ० सो० ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै अर्घ्यं निर्वपामि ॥

अथ जयमाला।

सोरठा।

ओंकार धुनिसार, द्वादशांग वाणी विमल।
नमों भक्ति उरधार, ज्ञान करै जड़ता हरै॥ १ ॥

बेसरी ।

पहला आचारांग बखानो । पद अष्टादश सहस प्रमानो ॥ दूजा सूत्रकृतं अभिलाषं । पद छत्तीस सहस गुरु भाषं ॥ १ ॥ तीजा ठाना अंग सुजानं । सहस बियालिस पदसरधानं ॥ चौथो समवायांग निहारं । चौसठ सहस लाख इकधारं ॥ २ ॥ पंचम व्याख्या प्रगपति दरशं । दोय लाख अठाइस सहसं ॥ छट्ठा ज्ञातृकथा विसतारं । पांचलाख छप्पन्न हजारं ॥ ३ ॥ सप्तम उपासकाध्ययनंगं । सत्तर सहस ग्यारलख भंगं ॥ अष्टम अंतकृतं दस ईसं । सहस अठाइस लाख तेईसं ॥ ४ ॥ नवम अनुत्तर अंग विशालं । लाख बानवें सहस चवालं ॥ दशम प्रश्नव्याकरण विचारं । लाख तिरानवें सोल हजारं ॥ ५ ॥ ग्यारम सूत्रविपाक सो भाखं । एक कोड चौरासी लाखं ॥ चार कोडि अरु पन्द्रह लाखं । दो हजार सब पद गुरुशाखं ॥ ६ ॥ द्वादश दृष्टिवाद पनभेदं । इकसौ आठ कोडि पद वेदं ॥ अठसठलाख सहस छप्पन हैं । सहित पंचपद मिथ्याहन हैं ॥७॥ इक सौ बारह कोड़ि ब-

खाने। लाख तिरानी ऊपर जाने ॥ अठावन सह-
स पंच अधिकाने। द्वादश अंग मात्र पद माने॥८॥
इकावन कोड़ि आठ ही लाखं। सहस चुरासी
छहसौ भाखं ॥ साढे इकीस शिलोक बताये। एक
एक पदके ये गाये ॥ ९ ॥

घत्ता।

जा बानीके ज्ञानसों, सूझै लोक अलोक।
'द्यानत' जग जयवंत हो, सदा देत हूं धोक॥१॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भूतसरस्वत्यै देव्यै पूर्णार्घ्यं निर्वपामि।

इति सरस्वतीपूजा समाप्ता ॥

स्वर्गीय कविवर पं० बनारसीदास कृत

शारदाष्टक

वस्तुछंद।

नमो केवल नमो केवलरूप भगवान।
मुख ओंकार धुनि सुनि अर्थ गणधर विचारै।
रचि आगम उपदिशै भविक जीव संशय निवारै॥
सो सत्यारथ शारदा, तासु भक्ति उर आन।
छंद भुजंगप्रयातमें अष्टक कहौं बखान ॥ १ ॥

भुजंगप्रयात।

जिनादेश जाता जिनेन्द्रा विख्याता। विशुद्ध

प्रबुद्धा नमो लोकमाता ॥ दुराचार दुर्नैहरा शंकरानी। नमो देवि वागेश्वरी जैनबानी ॥ २॥ सुधा धर्म संसाधनी धर्मशाला। सुधा तापनिर्नाशनी मेघमाला ॥ महामोहविध्वंसनी मोक्षदानी। नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥ ३ ॥ अखै वृक्ष शाखा व्यतीताभिलाखा। कथा संस्कृता प्राकृता देश भाखा ॥ चिदानंद भूपालकी राजधानी। नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥४॥ समाधान रूपा अनूपा अछुद्रा। अनेकान्तधा स्यादवादांकमुद्रा ॥ त्रिधा सप्तधा द्वादशांगी बखानी। नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥ ५ ॥ अकोपा अमाना अदंभा अलोभा। श्रुतज्ञानरूपी मतिज्ञान शोभा ॥ महापावनी भावना भव्य मानी। नमो देवि वागेश्वरी जैनबानी ॥ ६ ॥ अतीता अजीता सदा निर्विकारा। विषै वाटिका खंडिनी खड्गधारा ॥ पुरापाप विक्षेपकर्त्तृ कृपानी। नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी ॥ ७ ॥ अगाधा अबाधा निरंध्रा निराशा। अनंता अनादीश्वरी कर्मनाशा ॥ निशंका निरंका चिदंका भवानी। नमो देवि वागेश्वरी

जैनवानी ॥ ८ ॥ अशोका मुदेका विवेका वि-
धानी । जगज्जंतुमित्रा विचित्रावसानी ॥ समस्ता-
चलोका निरस्ता निदानी । नमो देवि वागेश्वरी
जैनवानी ॥ ९ ॥ वस्तुछंद।

जैनवाणी जैनवाणी सुनहि जे जीव ।
जे आगमरुचि धेरं जे प्रतीति मनमांहि आनहि ।
अवधारहिं जे पुरुष समर्थ पद अर्थ जानहि ॥
जे हित हेतु बनारसी, देहिं धर्म उपदेश ।
ते सब पावहिं परम सुख, तज संसार कलेश॥१०॥

इति शारदाष्टक ।

देवरी निवासी कवि—नाथूरामप्रेमीकृत.

सरस्वतीस्तवन ।

शिखरिणी ।

जगन्माता ख्याता जिनवरमुखांभोजउदिता।
भवानी कल्याणी मुनिमनुजमानी प्रमुदिता ॥
महादेवी दुर्गा दरनि[1] दुखदाई दुरगती ।
अनेका एकाकी द्वयुतदशांगी[2] जिनमती ॥१॥
कहैं मातः! तोकों यदपि सब ही नादिनिधना[3]।
कथंचित् तौ भी तू उपजि विनशै यों विवरना ॥

---

१ दु.खद ई दुर्गतिको नष्ट करनेवाली । २ द्वादशांगी । ३ अनादिनिधन ।

धरे नाना जन्म[1] प्रथमजिनके बाद अबलों।
भयो त्यों विच्छेद[2]-प्रचुर तुव लाखों बरषलों ॥२॥
महावीर[3]स्वामी जब सकल[4]ज्ञानी मुनि भये।
विडौजाके[5] लाये समवसृतमें गौतम गये ॥
तबै नौकारूपा भवजलधि माहीं अवतरी।
अरूपा निर्वर्णा विगतभ्रम सांची सुख करी ॥३॥
कहैं जैसें मेघध्वनि मधुर त्यों ही निरखरी[6]।
खिरी प्यारी प्रानी ग्रहण निजभाषामहँ करी ॥
गणेशोंने[7] झेली बहुत दिन पाली मुनिवर[8]।
रही थी पै तौलों तिन हृदयमें ही घर कर[9] ॥ ४॥
अवस्था कायाकी दिनदिन घटी दीखन लगी।
तथा धीरे धीरे सुबुधि विनशी अंगश्रुतकी ॥
तबै दो शिष्योंको सुगुरु धरसेनार्य मुनिने।
पढ़ाया कर्म–प्राभृत सुखद जाना जगतने ॥५॥
उन्होंने हे मातः लिखि लिपि करी अक्षरवती।
सँवारी ग्रन्थोंमें श्रुततिथि[10] मनाई सुखवती ॥
सहारा देते जो नहिं तुमहिं वे यों तिहि समैं।

१-२-३ इन अक्षरोंको संस्कृतके नियमानुसार दीर्घ पढना चाहिये। ४केवल ज्ञानी। ५ इन्द्रके बुलाये हुए। ६ निरक्षरी–अक्षररहित। ७ गणधरोंने। ८–९ संस्कृतमें पादान्त्य दीर्घ होता है। १० श्रुतपचमीका पर्व।

श्रुतपंचमी क्रिया।

जिन महाशयोंको श्रुतपंचमीके दिन बांचनेके लिये संस्कृत मूल श्रुतावतारकथा और श्रुतभक्ति तथा श्रुतपूजाकी जरूरत हो वे महाशय श्रीयुत पं. कलापा भरमापा निटवे जैन मालिक जैनेन्द्रछापखाना कोल्हापुरसिटीके पास डांकखर्चसहित अढाई आनेकी टिकट भेजकर श्रुतपंचमी क्रिया नामकी संस्कृत पुस्तक मगालेवें.

जिनवाणी सेवक

पन्नालाल बाकलीवाल.
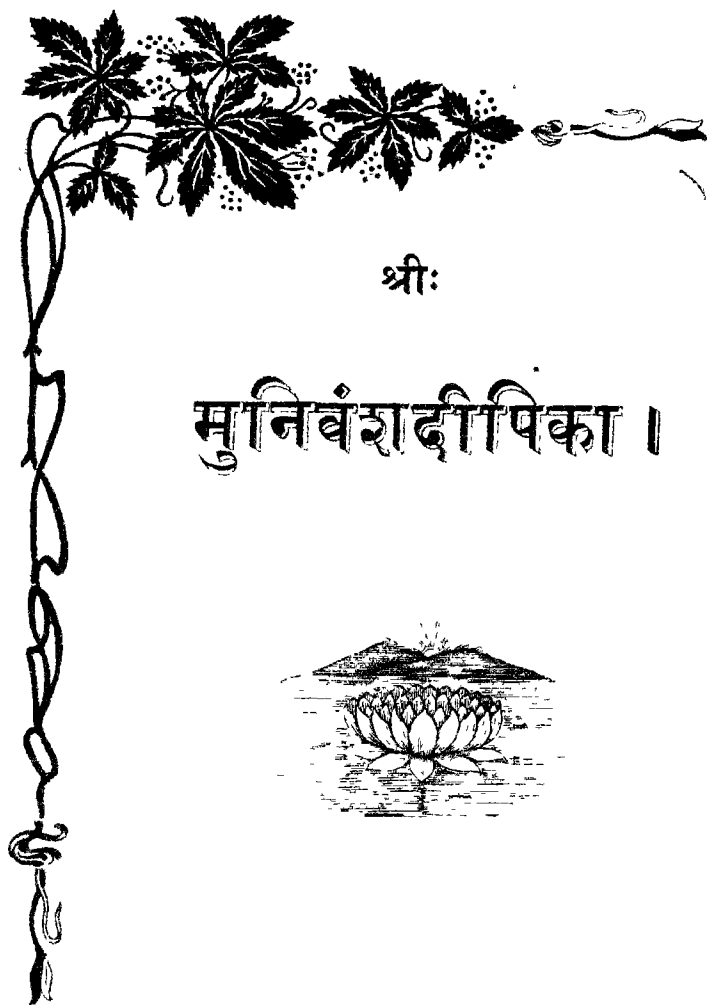
श्रीः

मुनिवंशदीपिका ।
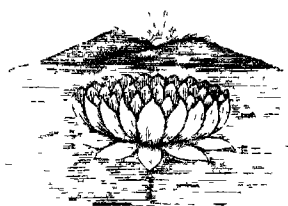
सुलभग्रन्थमाला, द्वितीय पुष्प ।

नमो गुरुभ्यः ।

सुलभ ग्रन्थमालाका द्वितीय पुष्प ।

स्व० श्रीमती चिरौंजीबाईके स्मरणार्थ ।

कांधलानिवासी स्वर्गीय यति श्रीनयनसुखदासजी रचित

मुनिवंश दीपिका

कविवर वृन्दावनजीकृत गुरुस्तुति गुर्वष्टक आदि सहित ।

जिसे

बम्बईस्थ श्रीजैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालयने

निर्णयसागरप्रेस बम्बईमें छपाकर प्रकाशित की ।
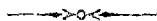
श्रीवीर नि० संवत् २४३७–दिसम्बर १९१०.

प्रथमावृत्ति] [न्यो० आधा आना ।

यति श्रीनयनसुखजी विरचित।

मुनिवंशदीपिका।

दोहा।

नमूं आप्त निर्ग्रंथगुरु, अरु आगम निर्दोष।
दरसि परसि उपदेश सुनि, पावत मन संतोष॥१॥
ज्ञान गुरुनतैं होत है, गुरुजनतैं उपगार।
गुरुजनतैं जान्यो परै, बंधमोक्ष[1]अधिकार॥ २॥
'दृगसुख' या संसारमैं, गुरुसम हितू न कोय।
सुपथ कुपथ बतला गये, जातैं परहित होय॥ ३॥
पंचम काल करालमैं, श्रोहेण गुरुउपदेश।
छोड़ि गये भवि जीव[3] हो, तारन तरन विशेष॥ ४॥
ऐसे सद्गुरु देवकौ, मत विसरौ उपगार।
तुम भवसागरमैं पड़े, वे जिहाज[2] करतार॥ ५॥
तुमकौं सतगुरु नामकी, जो न होय सुधि वीर।
गुणसमेत मुनिवंशकौं, सुनि करो तृप्त शरीर॥ ६॥
ककुंभांबर[4]-अन्वयविषैं, जैनजती निर्ग्रंथ।
यथा यथा ज्ञानी भये, सुन तिनको विरतंत॥ ७॥

---

१ बंध और मोक्षका अध्याय वा विषय। २ जहाज। ३ हे भव्यजीवो। ४ दिशारूपी जिनके वस्त्र है ऐसे दिगम्बर, उनकी आम्नायमे।

महान् दिगम्बराचार्य ।

सवैया इकतीसा (मनहर) ।

वीरजिनराय जदै[1] पायौ है अकार्य[2]-पद, केवली सु तीन ताके पीछे और भये हैं । **गौतम सुधर्मसूरि** फेरि **जम्बू** कर्म चूरि, बासठ वरसमाहिं तीनौं शिव गये हैं ॥ तीनौं भगवंत अरहंत हितू जान गुण, ज्ञानके निधान उपगार बड़े किये हैं । देकै पंथ सांचौ आप[3]-सांचौ छोड़ि सांचे भए, ऐसे गुरुपाँय दास **नैनसुख** नये हैं ॥ ८ ॥ जंबूस्वामीके पिछार सौ वरसकेमँझार, पांच श्रुतकेवलि जिनेन्द्र-च धरै हैं । संपूरन श्रुतज्ञान द्वादशांगके निधान, दुखी देखि जीवनपै दयाभाव करे हैं ॥ जीव औ अजीवके दरव गुण परजाय, लोकथिति आदिके कथन अनुसरे हैं । ऐसे **विष्णु** दूजे **नंदिमित्र** और **अपराजित**[4], **गोवर्द्धन भद्रबाहु**पाँय हम परे हैं ॥ ९ ॥ पीछे एकसौ तिरासी वर्षमाहिं ग्यारा साधु, भए ग्यारा अंग दशपूर्व विद्या पढ़ी है । प्रथम **विशाखासूरि प्रोष्ठिल** सुगुणभूरि, **क्षत्रिय** तृतीय **जयसेन** बुधि बढ़ी है ॥ **नागसेन सिद्धारथ धृतिषेण**[5] **विजैदेव**, **बुद्धिमान** तथा **गंगदेव** गुण गढ़ी है। **धर्मसेन** आदि गुरुदेवकी सुजस-बेलि, देखौ भविजीव लोक-मंडपपै चढ़ी है ॥ १० ॥ धर्मसेनदेवके पिछारी कालदोष पाय, द्वादशांगमाहिं एक अंग ज्ञान गयौ है । वीस और दोयसौ वरसमाहिं पंच मुनि,

---

१ यदा–जब । २ सिद्धपद । ३ अपना सांचा अर्थात् शरीर छोड़कर । ४ अपराजितसूरि । ५ धृतिलिंग भी नाम है ।

भए जिन एकादश अंग पार लयौ है॥ जयपाल महातप[1] पांडुदेव ध्रुवसेन, तथा कंसदेव नाम आचारज भयौ है। जाके उपगारकी सुगंधतैं जगत सब, देखौ भविजीव अजौं महकाय रह्यौ है॥ ११॥ फेर कंससूरिके पिछार एकसौ अठार, वरसमँझार पांच गुरु जस लियौ है। निर्ग्रंथ भए जैन पंथ पग दए एक, आचारांग अंगकौ उद्योत जिन कियौ है॥ गुरुने सुभद्र यशोभद्र भद्रबाहु तथा, महायश लोहसूरि नामधेय दियौ है। पीछे भर्त्तभूमिमाहिं[2] अंग ज्ञान रह्यौ नाहिं, नैनसुख तिनके पदाब्ज प्रनमीयौ है॥ ॥ १२॥ सुनो भाई भव्य महावीरजीकों मोक्ष गए, छस्सै पांच वरस वितीतेकी कहानी है। उज्जैन नरेश वीरविक्रम[3]-को शाको चल्यौ, अजौं वृद्धिरूप यह पुन्यकी निशानी है॥ विक्रमको संवत अठत्तर वरतमान, तामैं अंगज्ञान गयौ संतन बखानी है। पांचौं अंक जोड़ लेहु[4] छस्सैपै तिरासी देहु, लोहसूरि गुरुनै सन्यास विधि ठानी है॥ १३॥

जिनवाणीकी परम्परा।

मनहरण।

नीसरी अनंततीर्थराज हिमवंतनतैं,[5] गणधर मुखकुंडपरि

---

१ दूसरा नाम नक्षत्राचार्य है। २ भरतक्षेत्रमे। ३ निर्वाणके ६०५ वर्ष पीछे उज्जैन नरेश विक्रमादित्य नही, किन्तु शक विक्रम अर्थात् शालिवाहन है, जिसका शक संवत् चलता है। कविवरका यह भ्रम है, जो संवत्कर्त्ता विक्रमको ६०५ वर्ष पीछे लिखते है। ४ पहले कहे हुए ६२, १००, १८३, २२० और ११८ वर्षको जोड़ दो—६८३ वर्ष। ५ अनन्ततीर्थकररूपीहिमालयोसे निकली।

विसतरी है। स्याद्वाद जोरतैं मिथ्यात नंग[1] तोर फोर, धारा बही सदा ज्ञानसागरमैं परी है। करम भरम भेत निजानंद-भूति देत, मुनिभिरुपोसित[2] पवित्र सुरसरी[3] है। विसराम भूमि जानि जीवनपै दया ठानि, उमास्वामी आदि सूत्र रचना सु करी है॥ १४॥

छप्पय छंद।

है अनादि जैवंत, मुक्तिपर्यंत तासु हँद[4]।
तारन शील सदीव, हरै चिरकर्म-महागद[5]॥
पशु पंछी सुनि तिरैं, देव नर इन्द्र कहावैं।
मुनि हत्याके भरे, अनुक्रम शिवपुर पावैं॥
मणिमंत्ररूप जिन शारदा, मिथ्याविष नाशन जरी।
परहेत सूत्रको पारमथि, टीका करि गुरु उद्धरी॥१५॥

सूत्रकारों तथा टीकाकारोंकी प्रशंसा।

दोहा।

जिन जिन श्रीमुनिरायनें, सूत्रकारिका कीन।
कछुयक तिनके नाम गुण, कहत नैनसुख दीन॥१६॥

चाल—" चैत पीछले पाख रामनौमीको जनम लिया।"
इस बारहमासेकी। राग—बरवा।

भगवान उमास्वामी।

प्रथम उमास्वामी तत्त्वारथ[6],-अधिगम श्रुत बरना।
मोक्षशास्त्र जैवंत जगतमैं, है तारन तरना॥
आप्तको जानैं सिर न्याया,

---

१ पर्वत। २ मुनियोंके द्वारा पूजनीय। ३ गंगा। ४ सीमा। ५ महारोग। ६ तत्त्वार्थाधिगमसूत्र।

दर्शनज्ञानचरित्रमई शिवमारग बतलाया ॥ १७ ॥

जीव अजीव दरव गुण परजय, नाना बिध गाये ।
लागी कर्म अविद्या जिनकै, तिनकौं समझाये ॥
गुरूनें दश अध्याय करी,
कलिकलंकनिर्दलन धर्मकी, दे गये मूल जरी ॥
मेरे मन ऐसा गुरु भावै,
आप तिरै औरनकौं तारै, मारग बतलावै ॥ १८ ॥

समन्तभद्रस्वामी ।

श्रीसामंतभद्र आचारज, कथन किया नीका ।
गंधशतक[1] नामा जिन रचियौ, महाभाष्य टीका ॥
सप्त नय जामैं गुरु बरनी,
जिनतें वस्तु स्वभाव सधै अरु, संशय भ्रम हरनी ॥१९॥

भई आतमा भ्रष्ट सदातें, मारग ना पावै ।
संशय विभ्रम हेत औरकी, औरहि बतलावै ॥
सुगुरुने सबका भ्रम खंडा,
शिष्यनकौं दे गये जैनका, जैवंता झंडा ॥
मेरे मन ऐसा गुरु भावै,
आप तिरै औरनिकौं तारै, मारग बतलावै ॥ २० ॥

अकलंकभट्ट ।

पीछे श्रीअकलंकदेव मुनि, भए सुगुरु ज्ञानी ।
बड़ वंशमैं जनम लियौ जिन, बड़ी दया ठानी ॥
सूत्रमैं जान मन दीना,

---

१ गन्धहस्तिमहाभाष्य—तत्त्वार्थसूत्रकी बड़ी टीका ।

रचिकै राजवारतिक टीका, अर्थ प्रगट कीना॥२१॥

नय निक्षेप प्रमाण कथन सब, सम्यकके कारन।
सोलह सहस प्रमान रच्यौ भौ,-सागरसे तारन॥
उमास्वामीका मत लीना,
ताका शुभ उपदेश सुगुरुनैं, हमकौं दे दीना॥
मेरे मन ऐसा गुरु भावै,
आप तिरै औरनिकौं तारै, मारग बतलावै॥ २२॥

विद्यानन्दि स्वामी।

विद्यानंदि मुनिंद जगतमें, भए सुगुरु ज्ञानी।
आप्तपरीक्षा शास्त्र रच्यौ, त्रय सहस्र परवानी।
आप्तमीमांसा पुनि बरनी,
ठारा सहस प्रमाण ग्रंथ, सो मिथ्यातमहरनी॥ २३॥

पुरुष प्रमाणतनी सुरनर मुनि, करै सबी पूजा।
वीतराग सर्वज्ञ विना नाहिं, आप्तदेव दूजा।
वही है देव देव नीका,
श्लोकवारतिक रची फेरि, दशसूत्रनिकी टीका॥२४॥

बीस हजार प्रमाण कही इम, ग्रंथतनी सूची।
परउपगारनिमित्त दे गए, मोक्षमहल-कूँची॥
पार नहिं सतगुरुके गुनका,
रचे और बहु ग्रंथ ठीक नहिं, मिला मुझे उनका।
मेरे मन ऐसा गुरु भावै,
आप तिरै औरनिकौं तारै, मारग बतलावै॥ २५॥

पूज्यपादस्वामी।

पादपूज्य गुरुदेवज्ञानकी, जाऊं बलिहारी।
जिन रचियौ सर्वार्थसिद्धि शुभ, टीका अघहारी॥
जीवकौं बहुविधि समझाया,
तत्त्वारथ अधिगम शिवश्रुतका, भेद जु बतलाया॥२६॥
चार सहस परमित वह टीका, सतगुरुनैं भाखी।
बंध मोक्षकी कथा जीवकी, छानी नहिं राखी॥
सुगुरुका जो कोई गुण भूलै,
हिंडै[1] बहु संसार सदा, जगजालमाहिं झूलै॥
मेरे मन ऐसा गुरु भावै,
आप तिरै औरनिकौं तारै, मारग बतलावै॥ २७॥

धरसेन स्वामी।

श्रीधरसेन मुनीश्वर जगमें, ऐसा तप कीना।
अग्रायणी पूर्वका किंचित्, ज्ञान जिनौं लीना।
शिष्य गुणवंत दोय जिनकै।
पुष्पदंत भुजबली ज्ञानकी, वृद्धि भई तिनकै॥२८॥
धवल कोक (?) गंभीर ग्रंथमें, कर्मप्रकृति भाखी।
जैसैं उदय उदीरण हो है, छानी[2] नहीं राखी॥
देशकर्णाटकके[3] माहीं,
विद्यमान इस कालमाहिं, पर ज्ञानगम्य[4] नाहीं।
मेरे मन ऐसा गुरु भावै,

१ फिरै, भ्रमण करै। २ छुपी। ३ मूडबिद्री (सौथ-कानड़ा)में। ४ ज्ञानगम्य नहीं है, इसका अभिप्राय यही लेना कि, कठिन है। पर परिश्रम करनेसे विद्वान् उन्हें अब भी पढ़ सकते है और अभिप्राय समझ सकते है।

आप तिरै औरनिकौं तारै, मारग बतलावै ॥ २९ ॥

धरसेनकी शिष्यपरंपरा ।

ताही संप्रदायके श्रीगुरु,-देवोंके कारन ।
धवल जय धवल महाधवल श्रुत, तीनौं अघहारन ।
उसी करणाटकमैं पावैं,
सुन नर मुनि धर भाव भक्ति नित, दर्शनकौं आवैं ॥ ३० ॥
श्रीचामुंडरायकृत वनमैं, जिनमंदिर कहियै ।
तामैं तीनौं ग्रंथ ताड़के, पत्रोंपर लिहियै ॥
लिखी करणाटकवरणोंमैं[1] ।
एक बात तुम और सुनो जी अपने करणोंमैं ।
मेरे मन ऐसा गुरु भावै,
आप तिरै औरनिकौं तारै, मारग बतलावै ॥ ३१ ॥

नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती ।

सवैया इकतीसा ।

आचारज सिरी नेमिचंद्र करणाटकमैं, धवलादि सूत्रनके पारगामी भये हैं । ताही अनुसारतैं **गोमट्टसार** आदि कैई, गाथाबंध ग्रंथ सतगुरु वरनये हैं ॥ लौकिक अलौकिक गणितकार तामैं कह्यौ, द्रव्य क्षेत्र काल भाव भिन्न भिन्न कहे हैं । पायौ है 'सिद्धांतचक्रवर्ति' पद जगमाहिं, ऐसे गुरु जानि दास **नैनसुख** नये हैं ॥ ३२ ॥

गुणधरस्वामी ।

गीताछंद ।

मुनिराज श्रीगुणधर जगतमैं, ज्ञान गुण ऐसा लिया ।

---

[1] पुरानी कर्णाटकी लिपिमें—जिसके पढ़नेवाले जानवाले इने गिने है ।

ज्ञानप्रवाद सिद्धांतका, जिन तीसरा प्राभृत किया ॥
कुज्ञान अरु सुज्ञान कहि, विज्ञानकी कथनी करी।
सो गुरु सदा जयवंत जिन, भवि जीवकी संशय हरी॥३३॥

हस्तिनाग और यतिनायक।

सवैया।

हस्तिनाग नामा मुनि ज्ञान परवादतने, तीजे प्राभृतकौ ज्ञान पढ़ लियौ है। तानैं **यतिनायक** मुनीशकौं पढ़ायौ तब, तानैं सूत्रचूर्णिका तदनुकूल कियौ है॥ ताकौं फेरि **अरथ-समुद्धरण** टीका करी, सत्यक्षीरसागरतैं सार काढ़ि पियौ है। ताहीके रसैया[1] परमारथ सधैया जन, तिनके पदारविंदमाहिं सीस दियौ है॥ ३४॥

कुन्दकुन्दाचार्य।

कुंदकुंद मुनिराज चूर्णिका समुद्धरण, दोनौंतनौं ज्ञान पाय तीन[2] सूत्र कहे हैं। **पंचासतिकाय समैसार प्रवचनसार**, जाकौं सुनि संतनके चित्त थिर भए हैं॥ आतमीक परम धरम करता करम, क्रियाके सरूप भिन्न भिन्न वरनए हैं। जीव नटवाके सब नाटक बताये गुरु, स्याद्वाद जोरतैं मिथ्यात वन दहे हैं॥ ३५॥

अमृतचन्द्रसूरि।

अमृतसुचंद मुनि रची देववंद[3] पुनि, टीका **समैसार प्रवचनसार** ग्रंथकी। **'पुरुषअरथसिद्धिकौ[4] उपाय'**

---

१ रसिया। २ इन तीन सूत्रोंके सिवाय कुन्दकुन्दस्वामीके ८१ पाहुड़ तथा द्वादशानुप्रेक्षा आदि और भी बहुतसे ग्रन्थ है। ३ देवों करके पूज्य। ४ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय। पंचास्तिकायटीका तथा तत्त्वार्थसार आदि और भी कई

ग्रंथ फेर, रच्यौ जामैं राखी मरयाद मोक्ष पंथकी ॥ चरणानुयोग दरवानुयोग जामैं कहे, जाकौं सुनि शुद्ध बुद्धि होत है असंतकी । वीतराग भाव धरि जानिवेकौं आप पर, कीये हैं कथन जैसी आज्ञा अरहंतकी ॥ ३६ ॥

वसुनन्दि, वट्टकेर, योगीन्द्रदेव, और शुभचन्द्र ।

वसुनंदि तथा वट्टकेर मुनिइंद चंद, दोऊ मुनि धरमधुरंधर सु भए हैं ॥ कहे वसुनंदिसंहितादिक अनेक ग्रंथ, जाकौं सुनि मिथ्यामती जैनी होय गए हैं । जोगीन्द्र मुनिंद्रचंद्रजीने फेर आतमाके, हेत परमातमाप्रकाश वरनए हैं । शुभचंद्रजीने ज्ञानअर्णव सिद्धांत कह्यौ, जामैं दशलक्षण धरम कह दए हैं ॥ ३७ ॥

पद्मनन्दि, शिवकोटि ।

पद्मनंदिजीनैं पद्मनंदिपंचवीसी रची, महाज्ञानके प्रमान देव गुण गाये हैं । आराधनसार[1] शिवकोटि मुनिजीनैं रच्यौ, सातसंधिमाहिं शुभ मारग बताये हैं ॥ दरशन ज्ञान और चारितको रूप कह्यौ, चौथी बेर बाराभावनाके भाव भाये हैं । जाकी कथा सुनि राग दोष भाव हनि सदा, भव्य जीव अनुकूल मारगमैं आये हैं ॥ ३८ ॥

देवनन्दि[2] स्वामी ।

देवनंदिने जिनेंद्र[3]व्याकरण आगममैं, नाना भांति

ग्रन्थ अमृतचन्द्रस्वामीके हैं । १ भगवती आराधना । २ पूज्यपाद और देवनंदिको दो समझकर कविवरने दो जगह लिखे है। यथार्थमें पूज्यपादका ही दूसरा नाम देवनन्दि है । ३ जैनेन्द्रसूत्र ।

प्राकृतके शब्द सिद्धि किये हैं। सातौं ही विभक्ति षटलिंग करता करम, कर्ण संप्रदान अपादान कहि दिये हैं॥ फेरि अधिकरण समास द्वंदजादि कहे, तद्धितादि क्रियाके सुभाव दरसिये हैं। तेई शब्द फेरि संसकृतसेती सिद्ध किये, शब्द-विद्याधीश ज्ञानी ताकौं प्रणमिये हैं॥ ३९॥

यशोनन्दि माणिक्यनन्दि आदि।

रची हैं रुचिर जैनसंहिता सुगुरु फेर, वर्ण और आश्र-मोंकी संहिता सुनाई है। यशोनंदिसंहिता रची है वीरसंहिता सुनी हैं दशसंहिता सुगुरुनैं बनाई है॥ भये मुनि माणिकादिनंदि नामा महागुणी, सातौं नय पांचौं परमाणता जनाई हैं। रच्यौ है प्रमेय-अरविंद-मारतंड ग्रंथ, वस्तुकौ स्वभाव साधि भ्रमता हनाई है॥ ४०॥

जिनसेन स्वामी।

सिरी जिनसेन मुनि भये हैं महान गुनि, रच्यौ है महापुराण आदि नाम धरिकै। कल्पकालतनैं षटकाल-नकी गति थिति, रचना प्रलैकौ हाल कह्यौ शुद्ध करिकै॥ च्यार बीस तीर्थंकर दशदोय चक्रधर, नारायण नवकौ कथानक उचरिकै। नव प्रतिनारायण नव हलधर कहे, जैसें जीव पुन्य पाप भोगैं बंध परिकै॥ ४१॥ भोग भूमि-को उद्योत जैसें जैसें सुख होत, चौदा मनुअंतरकी जैसी कही कथा है। जैसें भोगभूमि गई जैसें कर्मभूमि भई, आदि

---

१ प्रसिद्ध जैनेन्द्रमें प्राकृतके शब्दोंकी सिद्धि नहीं है। २ वीरनन्दिसंहिता। ३ प्रमेयकमलमार्तण्ड। ४ महापुराणका पूर्वभाग आदिपुराण रचा।

नाथ ईश्वरकौ जन्मयोग यथा है । प्रभुने भवांतरमैं जैसें जैसें तप कीये, जैसैं दान दीये जातैं जन्ममर्ण हता है । देश वर्ण वंश असि मसि कृषि दीक्षा निरवान इतिहासनकौ ठीक ठीक पता है ॥ ४२ ॥

गुणभद्राचार्य ।

गुणभद्रसूरि भए गुणभरपूर जानैं, कियौ भर्म दूरि रच्यौ उत्तरपुरान है । भूत वा भविष्यत वरतमान तीर्थराज,-तनैं मात तात गोत कुलकौ कथान है ॥ आयु काय जनम पुरीकौ भिन्न भिन्न भेद, अंतराल भोग जोग पांचौं ही कल्यान है । वर्तमानकालमैं कलंकी जेते होनहार, रचना प्रलैकौ जामैं ठीक ठीक ज्ञान है ॥ ४३ ॥

रविषेण और जिनसेन ।

सिरी रविषेण मुनिरायनैं रच्यौ है सिरी, रामको पुराण जाके सुनैं कर्म कटैं हैं । पुन्य और पापकौ प्रगट फल जामैं देखि, ज्ञान पाय जीव भ्रम भावनतें हटैं हैं ॥ पुन्नाटक गणमैं भये हैं पुनि दूजे सिरी, जिनसेन[1] मुनि जाकौं सब जीव रटैं हैं । रच्यौ हरिवंशकौ पुराणतनौं सुवखान, जामैं साधु संतनके चित्त आय डटैं हैं ॥ ४४ ॥

गमकाचार्य और वादिराजमुनि ।

भये हैं गमक[2] नाम साध तजिकै उपाधि, ज्ञानकी चम-

---

१ हरिवंशके कर्त्ता जिनसेन और आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेन एक ही है। यह बात अब निर्विबाद सिद्ध हो चुकी है । पहले कविवर सरीखा बहुत लोगोका ख्याल था । २ गमक नामके आचार्य नही हुए है । नयनसुखजीने वृन्दावनजीकी गुर्वावलीका '**वंदामि गमक साधु जो टीकाके धरैया**'

कतैं रमक राग हरी है। छमकछमक पद पदकी जमक जोरि, नाना भांति काव्यनकी रचना सु करी है॥ वादिराज मुनि परवाद हरवेके हेत, रचे हैं अनेक ग्रंथ जामैं नय धरी है। ज्ञानकी छरी है लर परी है अज्ञानसेती, सुघरमैं धरी है सुगंधसेती भरी है॥ ४५॥

सिद्धसेनआदि।

सिद्धसेन भये फेर भये देवदिवाकर, फेर जयवाद फेर सिंहदेव भये हैं। फेर सिंहजय जसोधरजी भये हैं फेर, सिरीदत्त काणभिक्ष आठवैं सु कहे हैं। पात्रकेशरी-मुनीश सिरी वज्रसूरी ईश, महासेन वीरसेन जय-सेन लहे हैं। फेर सिरी जटाचार तथा सिरीपाल देव, वागमीक प्रभाकर तिन्हैं हम नये हैं॥ ४६॥

उपसंहार।

ऐसे ऐसे च्यारौं अनुजोगके कथैया श्रुत-सिंधुके मथैया शिवपंथ पग दीनौं है। पर उपगारहेत होयके प्रशांतचेत,

---

यह पद देखकर गमक नामके कोई साधु समझ लिये है और यहां लिख दिया है। यथार्थमें गमक का अर्थ 'ग्रन्थकर्ताकी कृतिका मर्म शोधकर निकालनेवाले' होता है। वृन्दावनजीने वाग्मी, गमक, वादी और कवि सबको नमस्कार किया है। १ वृन्दावनजीकी गुर्वावलीका अभिप्राय न समझकर नयनसुखजीने यहां भी ऐसी ही भूलकी है। देवदिवाकर कोई जुदे आचार्य नहीं है। सिद्धसेन ही सिद्धसेनदिवाकर कहलाते थे। 'देव' शब्द दिवाकरके साथ नही है, किन्तु गुरुके साथका है यथा-"**जयवंत सिद्धसेन सुगुरूदेव दिवाकर। जय वादिसिंह देवसिंह जैति जसोधर ॥२४॥**" इसी प्रकारसे **जयवाद, सिंहदेव** और **सिंहजयमें** भी 'दसरामसरा' हुआ है। **वादिसिंह** और **देवसिंह** चाहिये।

रचे जैन ग्रंथ और जग जस लीनौं है ॥ प्रथमानुजोगमैं कह्यौ है पुन्य पाप फल, करणानुजोगमैं त्रिलोक दरसीनौं है। चरणानुजोग मुनि श्रावक अचार भेद, दरवानुजोग आतमीक रस भीनौं है ॥ ४७॥ ऐसें **मुनिवंशदीपिका**-कौ वरनन कियौ, गुरुनकी जैसी करतूति सुनि लही है। पिछले समैकी बात ग्रंथनमैं अवदात, सोई मैं करी विख्यात जानौं याही सही है ॥ जब गुरुकुलइतिहास सुनिवेमैं आवै, तब मन भावै जैनपंथ झूठा नहीं है। ऐसी परतीतसैं जगत विपरीत लागै, याहीतैं गुरोंकी नाममाल। हम कही है ॥४८॥

ग्रन्थकर्त्ताका परिचय।

देश कुरुजांगलमैं वसैं हैं अनेक पुर, सिरी **हस्तनागपुर** जैनहीकौ धाम है । ताहीकी पछांहमाहिं **कांधलानगर** एक, तामैं मेरे गुरु जाकौ भूधरजी नाम है ॥ ताके हम शिष्य परतच्छ जग जानत हैं, चलन गृहस्थ कहिवेकौं यति राम है। दास **नैनसुख** अरदास करै संतनसौं, रची मैं सुधारौ तुम थारौ यह काम है ॥ ४९ ॥ विक्रमको संवत उन्नीससौ छबीस अब, भाद्रपदतनी वर्त्तमान तिथि कारी है। पांचैं भृगुवार अश्वनी नक्षत्रकेमँझार, रचना जमक जोरि मोरिकै सुधारी है । जौलौं नभमाहिं भानु मंडल मृगांक रहै, जौ लौं कनकाचल अचल अविकारी है ॥ तौलौं भवि जीवनके कंठमैं उद्योत करौ, गुरुनकी नाममाला आ-शिष हमारी है ॥ ५० ॥

इति श्रीमुनिवंशदीपिका समाप्ता ।

काशी निवासी कविवर बाबू वृन्दावनजी कृत

गुरुस्तुति।

शैर।

जैवंत दयावंत सुगुरु देव हमारे।
संसार विषमखारसौं जिन भक्त उधारे॥ टेक॥
जिनवीरके पीछैं यहां निर्वानके थानी।
बासठ वरषमें तीन भये केवलज्ञानी॥
फिर सौ वरषमें पांच ही श्रुतकेवली भये।
सर्वांग द्वादशांगके उमंग रस लये॥ जैवंत॥ १॥
तिस बाद वर्ष एक शतक और तिरासी।
इसमें हुए दशपूर्व ग्यार अंगके भासी॥
ग्यारै महामुनीश ज्ञानदानके दाता।
गुरुदेव सोइ देंहिंगे भविवृन्दको साता॥जैवंत॥ २॥
तिसबाद वर्ष दोय शतक बीसकेमाहीं।
मुनि पंच ग्यार अंगके पाठी हुए यांहीं॥
तिस बाद वरष एकसौ अठारमें जानी।
मुनि चार हुए एक आचारांगके ज्ञानी॥जैवंत॥ ३॥
तिस बाद हुए हैं जु सुगुरु पूर्वके धारक।
करुणानिधान भक्तको भवसिंधुउधारक॥
करकंजतैं गुरु मेरे ऊपर छाँह कीजिये।
दुखद्वंदको निकंदके, अनंद दीजिये॥ जैवंत॥ ४॥
जिनवीरके पीछेसौं वरष छहसौ तिरासी।
तब तक रहे इक अंगके गुरुदेव अभ्यासी॥

तिस बाद कोइ फिर न हुए अंगके धारी ।
पर होते भये महा सुविद्वान उदारी ॥ जैवंत ॥५॥
जिनसौं रहा इस कालमें जिनधर्म्मका साका ।
रोपा है सात भंगका अभंग पताका ॥
गुरुदेव नयंधरको आदि दे बड़े नामी ।
निरग्रंथ जैनपंथके गुरुदेव जो स्वामी ॥ जैवंत ॥६॥
भाखौं कहां लौं नाम बड़ी बार लगैगा ।
परनाम करौं जिस्से बेड़ा पार लगैगा ॥
जिसमेंसे कछुक नाम सूत्रकारके कहों ।
जिन नामके प्रभावसौं परभावको दहों ॥ जैवंत ॥ ७ ॥
तत्वार्थसूत्र नामि उमास्वामि किया है ।
गुरुदेवने संछेपसे क्या काम किया है ॥
जिसमें अपार अर्थने विश्राम किया है ।
बुधवृंद जिसे ओरसे परनाम किया है॥ जैवंत ॥८॥
वह सूत्र है इस कालमें जिनपंथकी पूंजी ।
सम्यक्त्व ज्ञान भाव है जिस सूत्रकी कूंजी ॥
लड़ते हैं उसी सूत्रसौं परवादके मूंजी ।
फिर हारके हट जाते हैं इक पक्षके लूंजी ॥ जैवंत ॥९॥
स्वामी समंतभद्र महाभाष्य रचा है ।
सर्वंग सात भंगका उमंग मचा है ॥
परवादियोंका सर्व गर्व जिस्से पचा है ।
निर्वान सदनका सोई सोपान जचा है॥ जैवंत ॥ १०॥
अकलंकदेव राजवारतीक बनाया ।

परमान नय निछेपसौं सब बस्तु बताया ॥
इसलोकवारतीक विद्यानंदजी मंडा ।
गुरुदेवने जड़मूलसौं पाखंडको खंडा ॥ जैवंत ॥११॥
गुरु पूज्यपादजी हुए मरजादके धोरी ।
सर्वार्थसिद्धि सूत्रकी टीका जिन्हों जोरी ॥
जिसके लखेसौं फिर न रहै चित्तमें भरम ।
भविजीवको भाषै है सुपरभावका मरम ॥ जैवंत ॥ १२ ॥
धरसेन गुरूजी हरौ भवि वृंदकी व्यथा ।
अग्रायणीय पूर्वमें कुछ ज्ञान जिन्हें था ॥
तिनके हुए दो शिष्य पुष्पदंत भुजबली ।
धवलादिकोंका सूत्र किया जिस्से मग चली ।जै० १३
गुरु औरने उस सूत्रका सब अर्थ लहा है ।
तिन धवल महाधवल जयसुधवल कहा है ॥
गुरु नेमिचंद्रजी हुए धवलादिके पाठी ।
सिद्धांतके चक्रीशकी पदवी जिन्हों गांठी।जै० ।१४।
तिन तीनोंही सिद्धांतके अनुसारसौं प्यारे ।
गोमट्टसार आदि सुसिद्धांत उचारे ॥
यह पहिले सुसिद्धांतका विरतंत कहा है ।
अब और सुनो भावसौं जो भेद महा है ॥ जै० ॥१५॥
गुणधर मुनीशने पढ़ा था तीजा प्राभृत ।
ज्ञानप्रवाद पूर्वमें जो भेद है आश्रित ।
गुरु हस्तिनागजीने सोई जिनसौं लहा है ।
फिर तिनसौं यतीनायकने मूल गहा है ॥ जै० ॥१६॥
तिन चूर्णिका स्वरूप तिस्से सूत्र बनाया ।

परमान छै हजार यौं सिद्धांतमें गाया ॥
तिसका किया उद्धरण समुद्धरण जु टीका ।
बारह हजारके प्रमान ज्ञानकी ठीका ॥ जै० ॥ १७ ॥
तिसहीसे रचा कुंदकुंदजीने सुशासन ।
जो आत्मीक पर्म धर्मका है प्रकाशन ॥
पंचास्तिकाय समयसार सारप्रवचन ।
इत्यादि सुसिद्धांत स्यादवादका रचन ॥ जै० ॥ १८ ॥
सम्यक्त्वज्ञान दर्श सुचारित्र अनूपा ।
गुरुदेवने अध्यात्मीक धर्म निरूपा ॥
गुरदेव अमीइंदुने तिनकी करी टीका ॥
झरता है निजानंद अमीवृंद सरीका ॥ जै० ॥ १९ ॥
चरनानुवेदभेदके निवेदके करता ।
गुरदेव जे भये हैं पापतापके हरता ॥
श्रीबट्टकेर देवजी वसुनंदजी चक्री ।
निरग्रंथ ग्रंथ पंथके निरग्रंथके शक्री ॥ जैवंत ॥ २० ॥
योगींद्रदेवने रचा परमातमा-प्रकाश ।
शुभचंद्रने किया है ज्ञानआरणौ विकाश ॥
की पद्मनंदजीने पद्मनंदिपचींसी ।
शिवकोटिने आराधनासुसार रचीसी ॥ जैवंत ॥ २१ ॥
दोसंध तीनसंध चारसंध पांचसंध ।
पटसंध सातसंधलौं गुरू रचा प्रबंध ॥
गुरु देवनंदिने किया जिनेन्द्रव्याकरन ।
जिससे हुआ परवादियोंके मानका हरन ॥ जैवंत ॥ २२ ॥
गुरुदेवने रची है रुचिर जैनसंहिता ।

वरनाश्रमादिकी क्रिया कहैं हैं संहिता ॥
वसुनंदि वीरनंदि यशोनंदि संहिता।
इत्यादि बनी हैं दशों परकार संहिता ॥ २३ ॥
परमेयकमलमारतंडके हुए कर्ता।
माणिक्यनंदि देव नयप्रमाणके भर्ता ॥
जैवंत सिद्धसेन सुगुरुदेव दिवाकर।
जै वादिसिंह देवसिंह जैति यशोधर ॥ जैवंत।२४।
श्रीदत्त काणभिक्षु और पात्रकेसरी।
श्रीवज्रसूर महासेन श्रीप्रभाकरी ॥
श्रीजटाचार वीरसेन महासेन हैं।
जैसेन शिरीपाल मुंझ कामधेन हैं॥ जैवंत ॥ २५ ॥
इन एक एक गुरूने जो ग्रंथ बनाया।
कहि कौन सकै नाम कोई पार न पाया ॥
जिनसेन गुरूने महापुराण रचा है।
मरजाद क्रियाकांडका सब भेद खचा है ॥ २६ ॥
गुणभद्र गुरूने रचा उत्तरपुराणको।
सो देव सुगुरुदेवजी कल्यानथानको ॥
रविसेन गुरूजीने रचा रामका पुरान।
जो मोह तिमर भाननेको भानुके समान॥ जै० ॥ २७॥
पुन्नाटगणविषै हुए जिनसेन दूसरे[1]।
हरिवंशको बनाके दास आसको भरे ॥
इत्यादि जे वसुवीस सुगुण मूलके धारी।
निर्ग्रंथ हुए हैं गुरू जिनग्रंथके कारी ॥ जैवंत ॥२८ ॥

× १ ये दूसरे जिनसेन नहीं है किंतु आदिपुराणके कर्ता ही है।

वंदौं तिन्हें मुनि जे हुए कवि काव्य करैया ।
वंदामि गमक साधु जो टीकाके धरैया ॥
वादी नमो मुनिवादमें परवाद हरैया ।
गुरु वागमीकको नमों उपदेशभरैया ॥ जैवंत ॥ २९ ॥
ये नाम सुगुरुदेवका कल्याण करै है ।
भवि वृंदका ततकाल ही दुखद्वंद हरै है ॥
धनधान्य ऋद्धि सिद्धि नवौं निद्धि भरै है ।
आनंदकंद देहि सबी विघ्न टरै है ॥ जैवंत ॥ ३० ॥
इह कंठमें धारै जो सुगुर नामकी माला ।
परतीतिसौं उरप्रीतिसौं ध्यावै जु त्रिकाला ॥
यह लोकका सुख भोग सो सुर लोकमें जावै ।
नरलोकमें फिर आयके निरवानको पावै ॥ ३१ ॥
जैवंत दयावंत सुगुरु देव हमारे ।
संसार विषम खारसौं जिन भक्त उधारे ॥

इति श्रीगुरुस्तुति समाप्त ।

कविवर वृन्दावनजी रचित ।

गुर्वष्टक ।

कवित्त ३१ मात्रा ।

संघसहित श्रीकुंदकुंद गुरु, वदंन हेत गए गिरनार ।
वाद परौ तहँ संशयमतिसौं, साक्षी वदी अंबिकाकार ॥
'सत्य पंथ निरग्रंथ दिगम्बर,' कही सुरी तहँ प्रगट पुकार।
सो गुरुदेव वसौ उर मेरे, विघ्न हरण मंगल करतार ॥ १ ॥
श्रीअकलंकदेव मुनिवरसौं, वाद रच्यौ जहँ बौद्ध विचार ।

तारा देवी घटमें थापी, पटके ओट करत उच्चार ॥
जीत्यौ स्यादवादबल मुनिवर, बौद्धवेधि तारामदटार। सो.॥२॥
स्वामि संमतभद्र मुनिवरसौं, शिवकोटी हठ कियौ अपार ।
वंदन करौ शंभुपिंडीकौ, तब गुरु रच्यौ स्वयंभू भार ॥
वंदन करत पिंडिका फाटी, प्रगट भये जिनचंद्र उदार। सो.३
श्रीमत मानतुंग मुनिवरपर, भूप कोप जब कियौ गँवार ।
बंद कियौ तालेमें तबहीं, भक्तामर गुरु रच्यौ उदार ॥
चक्रेश्वरी प्रगट तब ह्वैकै, बंधन काट कियौ जयकार। सो.॥४॥
श्रीमतवादिराज मुनिवरसौं, कह्यौ कुष्ट भूपति जिहँबार ।
श्रावक सेठ कह्यौ तिहँ अवसर, मेरे गुरु कंचनतन धार ॥
तबहीं एकीभाव रच्यौ गुरु, तन सुवर्णदुति भयौ अपार। सो.।५।
श्रीमत कुमुदचंद्र मुनिवरसौं, वाद परौ जहँ सभामझार ।
तबहीं श्रीकल्यानधाम थुति, श्रीगुरु रचनारची अपार ॥
तब प्रतिमा श्रीपार्श्वनाथकी, प्रगट भई त्रिभुवन जयकार।सो.६
श्रीमत विद्यानंदि जबै, श्रीदेवागम थुति सुनी सुधार।
अर्थहेत पहुंचौ जिनमंदिर, मिलौ अर्थ तहँ सुखदातार ॥
तब व्रत परम दिगम्बरको धर, परमतको कीनो परिहार।सो.।७।
श्रीमत अभयचंद्र गुरुसौं जब, दिल्लीपति इमि कही पुकार।
कै तुम मोहि दिखावहु अतिशय, कै पकरौ मेरो मत सार ॥
तब गुरु प्रगट अलौकिक अतिशय, तुरत हरौ ताको मदभार।
सो गुरुदेव बसौ उर मेरे, विघ्न हरण मंगल करतार ॥ ८ ॥

दोहा ।

विघन हरण मंगलकरण, वांछित फलदातार ।
वृंदावन अष्टक रच्यौ, करौ कंठ सुखकार ॥

इति गुर्वष्टक ।

प्रकीर्णक।

माधवी छन्द।

रविसे रविसेन अचारज हैं, भविवारिजके विकसावन हारे। जिन पद्मपुरान बखान कियौ, भवसागरतैं जग जन्तु उधारे॥ सियराम कथा सु जथारज भाखि, मिथ्यात समूह समस्त विदारे। भवि वृन्द विथा अब क्यौं न हरौ, गुरुदेव तुम्हीं मम प्रान अधारे॥ १॥

भगवज्जिनसेन कविंद नमौं, जिन आदि जिनिंदके छंद सुधारे। प्रथमानुसुवेद निवेदनमैं, जिनकौ परधान प्रमान उचारे॥ जगमैं मुद मंगल भूरि भरे, दुख दूर करे भवसागर तारे। भवि वृन्द विथा अब क्यौं न हरौ, गुरुदेव तुम्हीं मम प्रान अधारे॥ २॥

अशोकपुष्पमंजरी छन्द।

जासके मुखारविंदतैं प्रकास भास वृन्द
स्यादवाद जैन वैन इंदु कुंदकुंदसे।
तासके अभ्यासतैं विकास भेद-ज्ञान होत,
मूढ़ सो लखै नहीं कुबुद्धि कुंदकुंदसे॥
देत हैं असीस सीस नाय इंद चंद जाहि,
मोह-मार-खंड मारतंड कुंदकुंदसे।
सुद्ध बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्ध रिद्धि सिद्धिदा,
हुए न हैं न होंहिंगे मुनिंद कुंदकुंदसे॥ ३॥

सुलभ ग्रन्थमालाका

विज्ञापन ।

अनुभवसे विदित हुआ है कि, पुस्तकोंकी कीमत जितनी कम होती है, उतना ही उनका अधिक प्रचार होता है। इसलिये श्रीजैनग्रन्थरत्नाकरकी ओरसे सुलभजैनग्रन्थमाला- नामकी एक सीरीज प्रकाशित करनेका विचार किया गया है। इस ग्रन्थमालाकेद्वारा जितनी पुस्तकें प्रकाशित होंगीं, वे लागतके दामोंपर अथवा उसमें भी यथासंभव घाटा खाकर बेची जावेंगी। लागतके दामोंमें पुस्तककी बनवाई, प्रूफ संशोधन कराई. छपाई, बायडिंग वगैरह सब खर्च शामिल समझे जावेंगे। रकमका व्याज नहीं लिया जायगा। घाटेकी रकम कार्यालयके धर्मादा खातेसे अथवा दूसरे धर्मात्माओंसे पूरी कराई जायगी।

सुलभ ग्रन्थमालाकी यह दूसरी पुस्तक है। यह इन्दौर निवासी शेठ ऋषभचन्दजी काशलीवालकी स्वर्गवासिनी पत्नी **सौ० चिरौंजीबाई**—के स्मरणार्थ प्रकाशित की जाती है। इसकी १५०० प्रतियोंका कुलखर्च लगभग ५० रुपया पड़ा है। इसलिये मूल्य आधा आना रक्खा जाता है। ग्रन्थमालाकी तीसरी पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित की जायगी।

बम्बई—हीराबाग।
पौषकृष्णा पञ्चमी
श्रीवीर नि० स० २४३७।

निवेदक—
श्रीनाथूरामप्रेमी।

ॐ
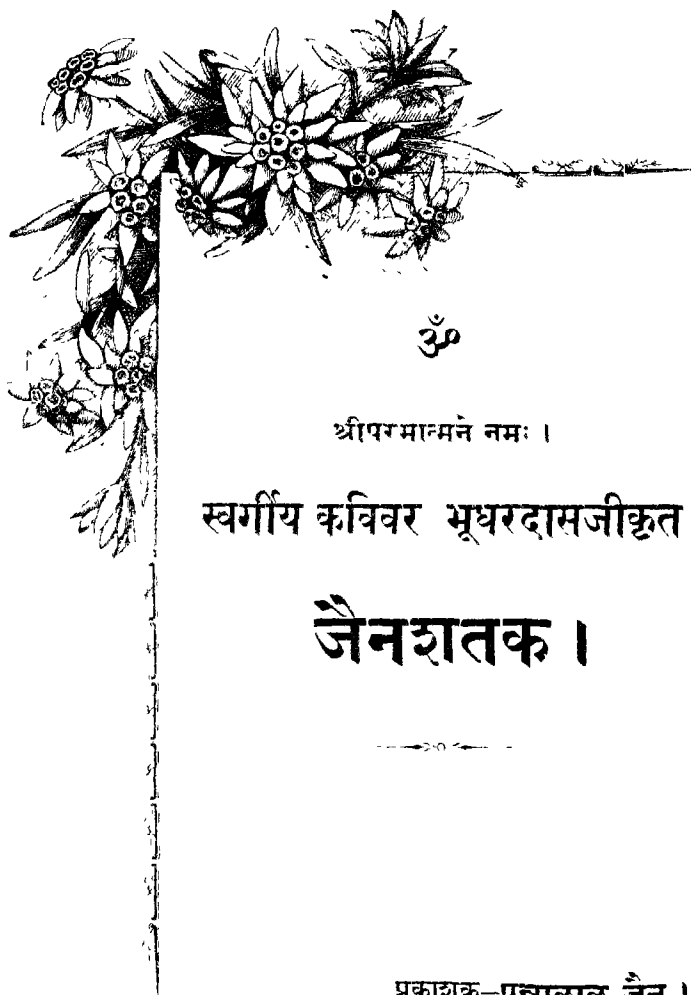
श्रीपरमात्मने नमः।

स्वर्गीय कविवर भूधरदासजीकृत

जैनशतक।

प्रकाशक—पन्नालाल जैन।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः।

स्वर्गीय कविवर भूधरदासजीविरचित

जैनशतक।

जिसको

मुम्बयीस्थ-जैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालयके मालिकने

देवरी जिला सागरनिवासी

कविवर नाथूराम प्रेमीसे संशोधन कराकर

मुम्बयीके

निर्णयसागर छापेखानेमें छपाकर

प्रसिद्ध किया।

वीरनिर्वाण संवत २४३३। ईस्वी सन १९०७।

प्रथमावृत्ति २००० प्रति] ❀ [मूल्य =)॥ आने।

ओंनमः सिद्धेभ्यः ।

कविवर भूधरदासविरचित

जैनशतक ।

श्रीआदिनाथस्तुति ।

सवैया (मात्रा ३१)

ज्ञानजिहाज बैठ गनधरसे, गुनपयोधि जिस नाहिं तरे हैं । अमरसमूह आन अवनीसों, घसि घसि शीस प्रनाम करे हैं ॥ किधों भाल-कुकरमकी रेखा, दूर करनकी बुद्धि धरे हैं । ऐसे आदिनाथके अह-निशि[1] हाथ जोर हम पाँय परे हैं ॥ १ ॥

काउसग्गमुद्रा[2] धरि वनमें, ठाड़े रिषभ रिद्धि तज दीनी । निहचल अंग मेरु है मानों, दोऊ भुजा छोर जिन दीनी ॥ फँसे अनंत जंतु जग-चहले[3], दुखी देख करुना चित लीनी । काढ़न काज तिन्हें समरथ प्रभु, किधों बाँह ये दीरघ कीनी ॥ २ ॥

करनों कछु न करनतें कारज, तातें पानि प्रलंब करे हैं । रह्यो न कछु पाँयनतें पैवो[4], ताहीतें पद नाहिं टरे हैं ॥ निरख चुके नैनन सब यातें, नैन नासिका-अनी[5] धरे हैं । कानन[6] कहा सुनैं यों कानन[7], जोगलीन जिनराज खरे हैं ॥ ३ ॥

---

१ अहर्निशि-रात्रिदिन । २ कायोत्सर्ग । ३ कीचडमें । ४ चलना । ५ नोक । ६ कानोंसे । ७ जंगलमें ।

छप्पय ।

जयो नाभिभूपालबाल, सुकुमाल सुलच्छन ।
जयो स्वर्ग पातालपाल, गुनमाल प्रतिच्छन ॥
दृग विशाल वर भाल, लाल नख चरन विरज्जहिं ।
रूप रसाल मराल चाल, सुन्दर लखि लज्जहिं ॥
रिपुजाल काल रिसहेश[1] हम, फँसे जन्म जंबालदह[2] ।
यातें निकाल बेहाल अति, भो दयाल दुख टाल यह ॥

चन्द्रप्रभस्तुति ।

सवैया (मात्रा ३२) ।

चितवत वदन अमल चंद्रोपम, तज चिंता चित भये अकामी । त्रिभुवनचंद पापतपचंदन, नमत चरन चंद्रादिक नामी ॥ तिहुँ जग छई चंद्रिकाकीरति, चिहँनचंद्र[3] चिंतत शिवगामी । बन्दों चतुर-चकोर-चंद्रमा[4], चंद्रवरन चंद्रप्रभ स्वामी ॥ ५ ॥

शान्तिनाथस्तुति ।

मत्तगयन्द (सवैया) ।

शांति जिनेश जयो जगतेश, हरै अघताप निशेश-की नाईं । सेवत आय सुरासुरराय, नमैं सिरनाय महीतलताईं ॥ मौलि[5] लगे मनिनील दिपैं, प्रभुके

१ ऋषभेश, आदिनाथ । २ कीचडका द्रह । ३ चन्द्रमाका है चिन्ह जिसके । ४ चन्द्रमा । ५ मुकुटमें ।

चरनों झलकै बहु झांई[1]। सूँघन पाँय-सरोज-सुगंधि[2], किधौं चलि ये अलिपंकति आई॥ ६॥

श्रीनेमिजिनस्तुति।

कवित्त मनहर।

शोभित प्रियंग अंग देखें दुख होय भंग, लाजत अनंग जैसें दीप भानुभासतें। बालब्रह्मचारी उग्रसेनकी कुमारी जादों,-नाथ तैं निकारी जन्मकादो[3]दुखरासतें॥ भीम भवकाननमें आन न सहाय स्वामी, अहो नेमि नामी तकि आयो तुम तासतें। जैसे कृपाकंद वन-जीवनकी बंद छोरी, त्यों ही दासको खलास कीजे भवपासतें॥ ७॥

श्रीपार्श्वनाथस्तुति।

छप्पय (सिंहावलोकन)

जनम-जलधि-जलजान[4], जान भविहंस-मानसर।
सरव इंद्र मिल आन, आन[5] जिस धरहिं शीसपर॥
पर उपगारी बान[6], बान[7] उत्थपइ[8] कुनयगन।
गनसरोजवन-भान, भान मम मोह-तिमिरघन॥
घनवरन देह-दुख-दाह-हर, हरखत हेरि[9] मयूर-मन।
मनमथ-मतंग-हरि पासजिन[10], जिन विसरहु छिन जगतजन॥ ८॥

---

१ छाया। २ चरणकमलकी सुगधि। ३ कीचड। ४ जलयान, जहाज। ५ आज्ञा। ६ स्वभाव। ७ वाणी। ८ उखाडती है। ९ देखकर। १० पार्श्वजिन।

श्रीवर्द्धमानजिनस्तुति ।

दोहा ।

दिढ़ कर्माचल दलनपवि, भवि-सरोज-रविराय ।
कंचनछवि कर जोर कवि, नमत वीर जिन पाय ॥ ९

सवैया (३१ मात्रा.)

रहो दूर अंतरकी महिमा, बाहिज गुनवरनत बल काँपै । एक हजार आठ लच्छन तन, तेज कोटि रवि किरनि उथापै ॥ सुरपति सहस आंखअंजुलिसों. रूपामृत पीवत नहिं धापै । तुम विन को समरत्थ वीरजिन, जगसों काढ़ि मोखमें थापै ॥ १० ॥

श्रीसिद्धस्तुति ।

मत्तगयंद ।

ध्यानहुताशनमें अरि ईंधन. झोंक दियो रिपु रोक निवारी । शोक हर्‌यो भविलोकनको वर, केवलभान-मयूख उघारी ॥ लोक अलोक विलोक भये शिव, जन्मजरामृतपंक पखारी । सिद्धन थोक बसें शिव-लोक, तिन्हें पगधोक त्रिकाल हमारी ॥ ११ ॥

तीरथनाथ प्रनाम करें, तिनके गुनवर्ननमें बुधि हारी । मोम गयो गल मूसमझार रह्यो, तहँ व्योम तदा-कृतिधारी । लोक गहीरनदीपति नीर, गये तिरतीर

१ वज्र । २ तृप्त होवे । ३ निकालकर । ४ ध्यानरूपी अग्निमें । ५ किरण । ६ साचेमें । ७ आकाश । ८ गभीर समुद्र ।

भये अविकारी। सिद्धनथोक बसें शिवलोक, तिन्हें पग-धोक त्रिकाल हमारी ॥ १२ ॥

साधुस्तुति ।

कवित्त मनहर ।

शीतरितु-जोरें अंग सब ही सकोरें तहां, तनको न मोरें नदीधोरें धीर जे खरे। जेठकी झकोरें जहां अंडा चील छोरें पशु, पंछी छांह लोरें गिरिकोरें तपवे धरे॥ घोर घन घोरें घटा चहुंओर डोरें, ज्यों ज्यों चलत हि-लोरें त्यों त्यों फोरें बल ये अरे। देहनेह तोरें परमारथसों प्रीति जोरें, ऐसे गुरुओरें हम हाथ अंजुली करें॥१३॥

जिनवाणीस्तुति ।

मत्तगयंद (सवैया) ।

वीरहिमाचलतें निकरी, गुरु गौतमके मुखकुंड-ढरी है। मोह-महाचल भेद चली, जगकी जड़तातप दूर करी है ॥ ज्ञानपयोनिधिमाहिं रली, बहु भंगत-रंगनिसों उछरी है । ता शुचि शारद गंगनदीप्रति, मैं अँजुली निजशीस धरी है ॥ १४ ॥

या जगमंदिरमें अनिवार, अज्ञान अँधेर छयो अति भारी। श्रीजिनकी धुनि दीपशिखा सम, जो नहिं होत प्रकाशनहारी ॥ तो किहँभांति पदारथपांति, कहां

१ जोरमें । २ ढूंढे । ३ मोहरूपी महापर्वत । ४ जिसका निवारण न हो सके । ५ पदार्थोंकी तत्त्वोंकी पंक्ति ।

लहते रहते अविचारी । याविधि संत कहैं धनि हैं, धनि हैं जिनवैन बड़े उपगारी ॥ १५ ॥

इति मंगलाचरण ।

जिनवाणी और मिथ्यावाणी ।

कवित्त मनहर ।

कैसेकर केतकी कनेर एक कहे जाँय, आकदूध गाय दूध अंतर घनेर है । पीरी[१] होत री[२] री पैन रीस[३] करै कंचनकी, कहां कागवानी कहां कोयलकी टेर है ॥ कहां भान भारो कहां, आगिया[४] विचारो कहां, पूनोंको उजारो कहां मावस[५]अँधेर है । पच्छ छोर पारखी निहारो नेक नीके करि, जैनवैन औरवैन[६] इतनों ही फेर है ॥ १६ ॥

वैराग्यकामना ।

कब गृहवाससों उदास होय वन सेऊं. वेऊं[६] निजरूप गति रोकूं मन-करीकी[७] । रहि हों अडोल एक आसन अचल अंग, सहि हों परीसा शीत-घाम-मेघ-झरीकी ॥ सारंग[८]समाज खाज कबधों खुजै है आन, ध्यानदलजोर जीतूं सेना मोहअरीकी । एकलविहारी

---

१ पीतल । २ हिस–बराबरी । ३ खद्योत, पटबीजना । ४ अमावस्या । ५ दूसरे धर्मवालोंके वचनोंमें । ६ जानू-अनुभवूं । ७ मनरूपी हाथीकी ८ मृगोंके समूह ।

जथाजातलिंगधारी कब, होहुं इच्छाचारी बलिहारि-
हुं वा घरीकी ॥ १७ ॥

राग वैराग्यका अन्तर कथन.।

रागउदै भोगभाव लागत सुहावनेसे, विनाराग
ऐसें लागें जैसें नाग कारे हैं । रागहीसों पाग रहे तनमें
सदीव जीव, राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं ॥
रागसों जगतरीति झूटी सब सांच जाने, राग मिटे
सूझत असार खेल सारे हैं । रागी विनरागीके विचा-
रमें बड़ो ही भेद, जैसे "[1]भटा पथ्य काहु काहुको
बयारे हैं" ॥ १८ ॥

भोगनिषेध।

मत्तगयंद (सवैया)।

तू नित चाहत भोग नये नर, पूरवपुन्य विना
किमि पैहै । कर्मसँजोग मिलै कहिं जोग, गहै तब
रोग न भोग सकै है ॥ जो दिन चारको ब्यांत बन्यो
कहुँ, तो परि दुर्गतिमें पछतै है । याहितें यार! सलाह
यही है "गई कर जाहु" निबाह न ह्वै है ॥ १९ ॥

देहस्वरूप।

मातपिता-रज-वीरजसों, उपजी सब सात कुधात

१ भटा अर्थात् बैगन किसीको पथ्य होते है और किसीको वादी होते है।

भरी है । माखिनके पर माफिक बाहर, चामके बेठन बेढ़· घरी है॥ नाहिं तो आय लगें अब ही, बक वायस जीव बचैं न घरी है। देहदशा यहि दीखत भ्रात ! घिनात नहीं किन ? बुद्धि हरी है ॥ २० ॥

संसारस्वरूप ।

कवित्त मनहर ।

काहूघर पुत्र जायो काहूके वियोग आयो, काहू रागरंग काहू रोआ रोई करी है । जहां भान ऊगत उछाह गीत गान देखे, सांझसमै ताही थान हाय हाय परी है ॥ ऐसी जगरीतको न देख भयभीत होय, हा ! हा ! नर मूढ़· तेरी मति कोने हरी है ? । मानुषजनम पाय सोवत बिहायो जाय, खोवत करोरनकी एक एक घरी है ॥ २१ ॥

सोरठा ।

कर कर जिनगुन पाठ, जात अकारथरे जिया ?
आठ पहरमें साठ, घरीं घनेरे मोलकीं ॥ २२ ॥
कानी कौड़ी काज, कोरिनको लिख देत खत ।
ऐसे मूरखराज, जगवासी जिय देखिये ! ॥ २३ ॥

---

१ मक्खियोंके पखों जैसे चमडेके बेठनसे [वेष्टनसे] घिरी हुई ।

दोहा।

कानी कौड़ी विषय सुख, भवदुख करज अपार।
बिना दिये नहिं छूटि है, लेशक दाम उधार ॥ २४ ॥

शिक्षा।

छप्पय।

दश दिन विषयविनोद, फेर बहु विपतिपरंपर।
अशुचिगेह यह देह, नेह जानत न आप पर ॥
मित्र बंधु सनमंधि और, परिजन जे अंगी।
अरे अंध! सब धंध, जान स्वारथके संगी ॥
परहितअकाज अपनो न कर, मूढ़राज!अब समझ उर।
तजि लोकलाज निजकाजको, आज दाव है कहत गुर ॥

कवित्त मनहर।

जौलों देह तेरी काहू रोगसों न घेरी जौलौं, जरा नाहिं नेरी जासों पराधीन परि है। जौलों जमनामा वैरी देय न दमामा जौलौं, माने कान रामा बुद्धि जाइ न विगरि है ॥ तौलों मित्र! मेरे निज कारज सवाँर ले रे, पौरुष थकेंगे फेर पीछे कहा करि है। अहो आग आये जब झोंपरी जरन लागे, कुआके खुदाये तब कौन काज सरि है ॥ २६ ॥

१ लेशमात्र भी। २ नगाडा। ३ आज्ञा। ४ स्त्री।

सौ वरष आयु ताका लेखा करि देखा जब, आधी तो अकारथ ही सोवत विहाय रे । आधीमें अनेक रोग बालवृद्धदशाभोग, और हु सँजोग केते ऐसे बीत जाँय रे ॥ बाकी अब कहा रही ताहि तू विचार सही.कारजकी बात यही नीके मन लाय रे । खातिरमें आवे तो खलासीकर इतनेमें. भावें फँसि फंदबीच दीनों समुझाय रे ॥ २७ ॥

बुढ़ापा ।

बालपने बाल रह्यो पीछे गृहभार वह्यो, लोक-लाजकाज बांध्यो पापनको ढेर है । अपनो अकाज कीनों लोकनमें जस लीनों. परभौ विसार दीनों विषै वश जेर है ॥ ऐसे ही गई विहाय अलपसी रही आय. नरपरजाय यह आंधेकी वटेर है । आये सेत[1] भैया ! अब काल है अवैया अहो ! जानी रे सयाने तेरे अजौं हू अँधेर है ॥ २८ ॥

मत्तगयंद (सवैया) ।

बालपने न सँभार सक्यो कछु, जानत नाहिं हिता-हितहीको । यौवन वैस[3] वसी वनिता उर, कै नित राग रह्यो लछमीको ॥ यों पन दोइ विगोइ दये नर, डारत

१ आयु-उमर । २ सफेद बाल । ३ वयस-उमर ।

क्यों नरके निजजीको। आये हैं सेत अजों शठ चेत, "गई सुगई अब राख रहीको" ॥ २९ ॥

कवित्त मनहर।

सार नर देह सब कारजको जोग येह, यह तो विख्यात बात वेदनमें बँचै है। तामें तरुनाई धर्म-सेवनको समै भाई, सेये तब विषै जैसे माखी मधु रचै है ॥ मोहमदभोये धनरामाहित रोज रोये, योंही दिन खोये खाय कोदों जिम मचै है। अरे सुन बौरे! अब आये सीस धौरे अजों, सावधान हो रे नर नरक-सों बचै है ॥ ३० ॥

मत्तगयन्द (सवैया)।

वाय लगी कि बलाय लगी, मदमत्त भयो नर भूलत त्यों ही। वृद्ध भये न भजे भगवान, विषै विष खात अघात न क्यों ही ॥ सीस भयो बगुलासम सेत, रह्यो उरअंतर श्याम अजों ही। मानुषभौ मुकता-फलहार, गँवार तगाहित तोरत यों ही ॥ ३१ ॥

संसारीजीवका चिंतवन।

चाहत हैं धन होय किसी विध, तो सब काज सरैं

१ नरकमे। २ सफेदवाल। ३ मोहरूपी मदमे मग्न हुए। ४ सफेद वाल। ५ प्रेतवाधा। ६ सूतके धागेके लिये।

जियरा जी। गेह चुनाय करूं गहना कछु, ब्याह सुतासुत बाँटिये भाजी॥ चिन्तत यों दिन जाहिं चले जम, आन अचानक देत दगाजी। खेलत खेल खिलारि गये, "रह जाइ रूपी शतरंजकी बाजी"॥

तेज तुरंग सुरंग भले रथ, मत्त मतंग उतंग खरे ही। दास खवास अवास अटा धन,-जोरकरोरन कोश भरे ही॥ ऐसे भये तो कहा भयो हे नर! छोर चले जब अंत छरे ही। धाम खरे रहे काम परे रहे, दाम गरे रहे ठाम धरे ही॥ ३३॥

अभिमाननिषेध।

कवित्त मनहर।

कंचनभंडार भरे मोतिनके पुंज परे, घने लोग द्वार खरे मारग निहारते। जान चढ़ि डोलत हैं झीने सुर बोलत हैं, काहुकी हू ओर नेक नीके न चितारते॥ कौलों धन खांगे कोऊ कहै यों न लांगे तेई, फिर पाँय नांगे कांगे परपग झारते। एते पै अयाने गरवाने रहैं विभौ पाय, धिक है समझ ऐसी धर्म ना सँभारते ३४

देखो भरजोबनमें पुत्रको वियोग आयो, तैसेहि

१ विवाह वगैरह उत्सवोंमे जो मिष्टान्न बाटा जाता है, उसे भाजी कहते है। २ जमी हुई। ३ 'गडे रहे' तथा—'डरे रहे' ऐसा भी पाठ है।

निहारी निजनारी कालमगमें । जे जे पुन्यवान जीव दीखते थे यानहींपै, रंक भये फिरैं तेऊ पनहीं न पगमें ॥ एते पै अभाग धनजीतवसों धेरै राग, होय न विराग जानै रहूगो अलगमें । आंखिन विलोक अंध सूसेकी अँधेरी करै, ऐसे राजरोगको इलाज कहा जगमें ॥ ३५ ॥

दोहा ।

जैनवचन अंजनवटी, आंजैं सुगुरु प्रवीन ।
रागतिमिर तौहु न मिटै, बड़ो रोग लख लीन ॥३६॥

मनहर ।

जोई दिन कटै सोई आवमें अवश्य घटै, बूंद बूंद बीतै जैसे अंजुलीको जल है । देह नित झीन होत नैन तेज हीन होत, जोबन मलीन होत छीन होत बल है ॥ आवै जरा नेरी तकै अंतकअहेरी आय, परभौ नजीक जाय नरभौ निफल है । मिलकै मिलापी जन पूछत कुशल मेरी, "ऐसी दशामाहीं मित्र ! काहेकी कुशल है" ॥ ३७ ॥

---

१ शशक (खर्गोश) अपनी आखे बंद करके जानता है, अब सब जगह अंधेरा होगया, मुझे कोई देखता ही नहीं है । २ जमराजरूपी व्याधा ।

बुढ़ापा ।

मत्तगयंद (सवैया) ।

दृष्टि घटी पलटी तनकी छवि, बंक भई गति लंक नई है । रूस रही परनी[1] घरनी अति, रंक भयो परयंक[2] लई है ॥ काँपत नार[3] बहै मुख लार, महामति संगति छांर दई है । अंग उपंग पुराने परे, तिशना उर और नवीन भई है ॥ ३८ ॥

कवित्त मनहर ।

रूपको न खोज रह्यो तरु ज्यों तुषार दह्यो, भयो पतझार किधौं रही डार सूनीसी । कूबरी भई है कटि दूबरी भई है देह, ऊबरी इतेक आयु सेरमाहिं पूनीसी ॥ जोवनने विदा लीनी जराने जुहार कीनी, हीनी भई सुधि बुधि सबै बात ऊनीसी । तेज घट्यो ताव घट्यो जीतवको चाव घट्यो, और सब घट्यो एक तिस्ना दिन दूनीसी ॥ ३९॥

अहो इन आपने अभाग उदै नाहिं जानी, वीतरागवानी सार दयारस भीनी है । जोवनके जोर थिर जंगम अनेक जीव, जाने जे सताये कछु करुना न कीनी है । तेई अब जीवरास आये परलोकपास, लेंगे बैर देंगे दुख भई ना नवीनी है । उनहीके भयको

१ विवाहित । २ चार पाई । ३ गर्दन ।

भरोसो जान कांपत है, याही डर 'डोकराने लाठी हाथ लीनी है' ॥ ४० ॥

जाको इंद्र चाहैं अहमिंद्रसे उमाहैं जासों, जीवमुक्तमाहिं जाय भौमल बहावै है । ऐसो नरजन्म पाय विषै विष खाय खोयो, जैसें काच सांटैं मूढ़ मानक गमावै है ॥ मायानदी बूड़ भीजा कायाबल तेज छीजा, आया पन तीजा अब कहा बनि आवै है । तातें निज सीस ढोलै नीचे नैन किये डोलै, कहा बड़ बोलै वृद्ध वदन दुरावै है ॥ ४१ ॥

मत्तगयंद (सवैया) ।

देखहु जोर जराभटको, जमराज महीपतिको अगवानी । उज्जलकेश निशान धरें, बहु रोगनकी संग फौज पलानी ॥ कायपुरी तजि भाजि चल्यो जिहिं, आवत जोवनभूप गुमानी । लूट लई नगरी सिगरी, दिन दोयमें खोय है नाम निशानी ॥ ४२ ॥

दोहा ।

सुमतीहित जोवन समय, सेवहु विषय विडार ।
खलसांटें नहिं खोइये, जन्मजवाहर सार ॥ ४३ ॥

कर्तव्यशिक्षा ।

मनहर ।

देव गुरु सांचे मान सांचो धर्म हिये आन, सांचो ही

१ बुड्ढेने । २ बदलेमें ।

पुरान सुनि सांचे पंथ आव रे। जीवनकी दया पाल झूंठ तज चोरी टाल, देख नी विरानी बाल तिसना घटाव रे॥ अपनी बड़ाई परनिंदा मत करै भाई, यही चतुराई मद मांसको बचाव रे। साध खटकर्म धीर संगतिमें बैठ वीर, जो है धर्मसाधनको तेरे चित चाव रे॥ ४४॥

सांचो देव सोई जामें दोषको न लेश कोई, वहै गुरु जाके उर काहुकी न चाह है। सही धर्म वही जहां करुना प्रधान कही, ग्रंथ जहां आदि अंत एकसौ निवाह है॥ यही जग रत्न चार इनको परख यार! सांचे लेहु झूठे डार, नरभौको लाह है। मानुप विवेक विना पशुकी समान गिना, तातें यह ठीक बात पारनी सलाह है॥ ४५॥

सांचे देवका लक्षण।

छप्पय।

जो जगवस्तु समस्त, हस्ततल जेम निहारै।
जगजनको संसार, सिंधुके पार उतारै॥
आदि-अंत-अविरोधि,-वचन सबको सुखदानी।
गुन अनंत जिहंमाहिं, रोगकी नाहिं निशानी॥
माधव महेश ब्रह्मा किधौं, वर्धमान कै बुद्ध यह।

१ स्त्री। २ दया।

ये चिह्न जान जाके चरन, नमो नमो मुझ देव वह॥

यज्ञहिंसक।

कवित्त मनहर।

कहै दीन पशु सुन यज्ञके करैया मोहि, होमत हुताशनमें कौनसी बड़ाई है? । स्वर्गसुख मैं न चहुं "देहु मुझे" यों न कहूं, घास खाय रहूं मेरे यही मन भाई है॥ जो तू यह जानत है वेद यों बखानत है, जज्ञजरयो जीव पावै स्वर्गसुखदाई है। डारै क्यों न वीर यामें अपने कुटुंबहीको, मोह जिन जारै जगदीशकी दुहाई है॥ ४७॥

सातों वारगर्भित षट्कर्मोपदेश।

छप्पय।

अघ अँधेर आदित्य, नित्य स्वाध्याय करिज्जै।
सोमोपम संसार तापहर, तप करलिज्जै॥
जिनवरपूजा नेम करो, नित मंगल दायन।
बुध संजम आदरहु, धरहु चित श्रीगुरुपायन॥
निजवित्तसमान अभिमान विन, सुकर सुपत्तहिं दानकर
यों सनि सुधर्म पटकर्म भनि, नरभौलाहो लेहु नर॥

दोहा।

ये ही छह विधि कर्म भज, सात विसन तज बीर।
इस ही पैंडे पहुंचि है, क्रम क्रम भवजलतीर॥ ४९॥

१ इस छप्पयमे सातों दिनके नाम आये है। २ मार्गसे।

सप्तव्यसन।

जूआखेलन मांस मद, वेश्याविसन शिकार।
चोरी पररमनीरमन, सातों पाप निवार ॥ ५० ॥

जूआनिषेध।

छप्पय।

सकल-पापसंकेत, आपदाहेत कुलच्छन।
कलहखेत दारिद्र देत, दीसत निज अच्छन ॥
गुनसमेत जससेत, केत रवि रोकत जैसे।
औगुननिकरनिकेत, लेत लख बुधजन ऐसे ॥
जूआ समान इह लोकमें, आन अनीति न पेखिये।
इस विसनरायके खेलको, कौतुक हू नहिं देखिये ॥५१

मांसनिषेध।

जंगम जियको नाश होय. तब मांस कहावै।
सपरस आकृति नाम. गन्ध उर घिन उपजावै ॥
नरक जोग निरदई खाहिं, नर नीच अधरमी।
नाम लेत तज देत असन, उत्तमकुलकरमी ॥
यह निपटनिंद्य अपवित्र अति, कृमिकुलरासनिवासनित।
आमिष अभच्छ याको सदा, बरजो दोष दयालचित ५२

मदिरानिषेध।

दुर्मिल (सवैया)।

कृमिरास कुवास सराय दहै, शुचिता सब छीवत

१ नेत्रोंसे।

जात सही। जिहिं पान किये सुधि जात हिये, जननीजन जानत नार यही॥ मदिरा सम आन निषिद्ध कहा, यह जान भले कुलमें न गही। धिक है उनको वह जीभ जलो,जिन मूढ़नके मत लीन कही५३

वेश्यानिषेध।

धनकारन पापनि प्रीति करै, नहिं तोरत नेह जथा तिनको¹। लव चाखत नीचनके मुँहकी, शुचिता सब जाय छियें जिनको॥ मद मांस वजारनि खाय सदा, अँधले विमनी न करें घिनको। गनिका सँग जे सठ लीन रहें,धिक है! धिक है! धिक है! तिनको ५४

आखेटनिषेध।

कवित्त मनहर।

काननमें³ बसै ऐसो आन न गरीब जीव, प्राननसों प्यारे प्रान पूंजी जिस यहै है। कायर सुभाव धरै काहूसों न द्रोह करै, सबहीसों डरै दांत लिये तृन रहै है॥ काहूसों न रोप पुनि काहूपै न पोष चहै, काहूके परोष⁴ परदोष नाहिं कहै है। नेकु स्वाद सारिवेको ऐसे मृग मारिवेको, हाहा रे! कठोर! तेरो कैसें कर बहै⁵ है॥ ५५॥

---

१ तिनका, तृण। २ लार। ३ जगलमे। ४ परोक्षमे। ५ हाथ चलता है, उठता है।

चोरीनिषेध ।

छप्पय ।

चिंता तजै न चोर, रहै चौंकायत सारै । पीटै धनी विलोक, लोक निर्दइ मिलि मारै । प्रजापाल करि कोप, तोपसों रोप उड़ावै । मरै महा दुखपेख, अंत नीची गति पावै ॥ अति विपतिमूल चोरीविसन, प्रगट त्रास आवै नजर । परवित[1] अदत्त[2] अंगार गिन, नीतिनिपुन परसैं न कर ॥ ५६ ॥

परस्त्रीसेवननिषेध ।

कुगतिबहन गुनगहनदहन दावानलसी है । सुजमचंद्रघनघटा[3], देहकृशकरन खसी[4] है ॥ धनसरसोखन धूप, धरमदिनसांझ[5] समानी । विपतभुजंगनिवासबांवई[6] बेद बखानी ॥ इहिविधि अनेक औगुनभरी, प्रानहरनफाँसी प्रबल । मत करहु मित्र ! यह जान जिय, परवनितासों प्रीति पल ॥ ५७ ॥

स्त्रीत्यागप्रशंसा ।

दुर्मिल सवैया ।

दिवि[7] दीपकलोय[8] बनी वनिता, जड़जीव पतंग जहां परते । दुख पावत प्रान गँवावत हैं, बरजे न

१ दूसरेका धन । २ विना दिया । ३ सुयशरूपी चन्द्रमाको ढकनेके लिये बादलोंकी घटा । ४ क्षयीरोग । ५ धर्मरूपी दिनका अन्त करनेवाली संध्या । ६ सांपके रहनेकी बावी । ७ आकाशमे । ८ दीपककी शिखा ।

रहैं हठसों जरते ॥ इहिभांति विचच्छन अच्छनके वश, होय अनीति नहीं करते । परती लखि जे धरती निरखैं, धनि हैं ! धनि हैं ! धनि हैं ! नर ते ॥ ५८ ॥

दिढ शीलशिरोमनकारजमें, जगमें यश आरज[1] तेइ लहैं । तिनके जुग लोचन वारिज[2] हैं, इहिभांत अचारज आप कहैं ॥ परकामनिको मुखचंद चितै, मुँद जाहिं सदा यह टेव गहैं । धनि जीवन है तिन जीवनको, धनि माय[3] उनैं उरमांझ वहैं[4] ॥ ५९ ॥

कुशीलनिन्दा ।

मत्तगयन्द सवैया ।

जे परनारि निहारि निलज्ज, हँसैं विगसैं बुधिहीन बड़ेरे । जूंठनकी जिमि पातर पेखि, खुशी उर कूकर होत घनेरे ॥ है जिनकी यह टेव[5] सदा, तिनको इह भौ अपकीरति है रे । ह्वै परलोकविषैं[6] दृढ़दंड[7], करै शतखंड सुखाचलकेरे[8] ॥ ६० ॥

व्यसनसेवी ।

छप्पय ।

प्रथम पांडवा भूप, खेलि जूआ सब खोयो । मांस खाय बकराय, पाय विपदा बहु रोयो ॥ विन जाने

१ आर्य, श्रेष्ठ । २ कमल । ३ माता । ४ धारण करै । ५ आदत । ६ "ह्वै परलोक विषै विजुरी सु.-" ऐसा भी पाठ है । ७ वज्र दंड । ८ सुखरूपी पर्वतके ।

मदपानजोग, जादोंगन दज्झे[1] । चारुदत्त दुख सहे, वेसवा-विसन[2] अरुज्झे ॥ नृप ब्रह्मदत्त आखेटसों[3], द्विज शिवभूति अदत्तरति । पररमनिराचि रावन गयो, सातों सेवत कौन गति ? ॥ ६१ ॥

दोहा ।

पाप नाम नरपति करै, नरक नगरमें राज ।
तिन पठये पायक[4] विसन, निजपुरवसती काज ॥ ६२
जिनकें जिनके वचनकी, बसी हिये परतीत ।
विसनप्रीति ते नर तजौ, नरकवास भयभीत ६३

कुकविनिन्दा ।

मत्तगयन्द सवैया ।

राग उदै जग अंध भयो, सहजें सब लोगन लाज गमाई । सीख विना नर सीखत हैं, विषयादिक सेवनकी सुघराई[5] ॥ तापर और रचैं रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई । अंध असूझनकी अँखियानमें, झोंकत हैं रज रामदुहाई ॥ ६४ ॥

कंचन कुंभनकी उपमा, कहि देत उरोजनको कवि वारे । ऊपर श्याम विलोकत वे, मनिनीलमकी ढकनी ढँकि छारे ॥ यों सतवैन कहैं न कुपंडित[6], ये जुग आमिषपिंड[7] उघारे । साधन झार दई मुंह छार, भये इहि हेत किधौं कुच कारे ॥ ६५ ॥

---

१ जले । २ वेश्याव्यसन । ३ शिकारसे । ४ सिपाही । ५ "विषयानके सेवनकी" ऐसा भी पाठ है । ६ मूर्ख । ७ मासके लौंदे ।

हे विधि! भूल भई तुमतें, समुझे न कहां कशतूरि बनाई । दीन कुरंगनके तनमें, तृन दंत धरे करुना नहिं आई ॥ क्यों न करी तिन जीभन जे, रसकाव्य करें परकों दुखदाई । साधु अनुग्रह दुर्जन दंड, दुहू सधते विसरी चतुराई ॥ ६६ ॥

मनरूपहाथी ।

छप्पय ।

ज्ञान महावत डारि, सुमति संकल गहि खंडै । गुरु अंकुश नहिं गिनै, ब्रह्मव्रत-विरख विहंडै ॥ करि सिधंत सर न्हानि, केलि अघरजसों ठानै । करनचपलता धरै, कुमति करनी रति मानै ॥ डोलत सुछन्द मदमत्त अति, गुण-पथिकन आवत उरै । वैराग्य खंभतें बांधि नर! मनमतंग विचरत बुरै ॥ ६७ ॥

गुरुउपकार ।

कवित्त मनहर ।

ढईसी सराय काय पंथी जीव वस्यो आय, रत्नत्रय निधि जापै मोख जाको घर है । मिथ्यानिशि कारी जहां मोहअंधकार भारी, कामादिक तस्कर समूहनको थर है ॥ सोवै जो अचेत सोई खोवै निज संपदाको, तहां गुरु पाहरू पुकारें दया कर है । गाफिल न हूजे

१ हरिणोंके । २ वृक्ष । ३ कानोंकी चपलता, पक्षमें इन्द्रियोंके विषयोंकी चपलता । ४ हथिनी । ५ निकट ।

भ्रात ! ऐसी है अँधेरी रात, जाग रे बटोही ! इहाँ चोरनको डर है ॥ ६८ ॥

कषायजीतनेका उपाय ।

मत्तगयन्द सवैया

छेमनिवास छिमा धुवनी विन, क्रोध पिशाच उरै न टरैगो । कोमलभाव उपाव विना, यह मान महामद कौन हरैगो ॥ आर्जवसार कुठार विना, छलबेल निकंदन कौन करैगो । तापशिरोमनि मंत्र पढ़े विन, लोभ फणीविष क्यों उतरैगो ॥ ६९ ॥

मिष्टवचन ।

काहेको बोलत बोल बुरे नर ! नाहक क्यों जस धर्म गमावै । कोमल वैन चवै किन ऐन, लगै कछु है न सबै मन भावै ॥ तालु छिदै रसना न भिदै, न घटै कछु अंक दरिद्र न आवै । जीभ कहै जिय हानि नहीं, तुझ जी सब जीवनको सुख पावै ॥ ७० ॥

धैर्यधारणोपदेश ।

कवित्त मनहर ।

आयो है अचानक भयानक असाताकर्म, ताके दूर करवेको बली कौन अह रे । जे जे मन भाये ते कमाये पूर्व पाप आप, तेई अब आये निज उदै काल

---

१ मुसाफिर । २ धूनी । ३ सर्पका जहर ।

लहरे ॥ एरे मेरे वीर ! काहे होत है अधीर यामें, कोऊको न सीर[1] तू अकेलो आप सह रे। भये दिलगीर कछू पीर न विनसि जाय, याहीतें सयाने तू तमासगीर रह रे ॥ ७१ ॥

होनहार दुर्निवार ।

कैसे कैसे बली भूप भूपर विख्यात भये, वैरीकुल कांपे नेकु भौंहोंके विकारसों । लंघे गिरि सायर[2] दिवा-यरसे[3] दिपें जिनों, कायर किये हैं भट कोटिन हुंकारसों ॥ ऐसे महामानी मौत आये हू न हारमानी, उतरे न नेकु कभू मानके पहारसों । देवसों न हारे पुनि दानेसों[4] न हारे और, काहूसों न हारे एक हारे होनहारसों ॥ ७२ ॥

कालसामर्थ्य ।

लोह मई कोट केई कोटनकी ओट करो, काँगुरेन तोप रोपि राखो पट भेरिकैं । इन्द्र चन्द्र चौंकायत चौकस ह्वै चौकी देहु, चाव रंग चमू[5] चहूं ओर रहो घेरिकैं ॥ तहाँ एक भौंहिरा बनाय बीच बैठो पुनि, बोलो मत कोऊ जो बुलावै नाम टेरिकैं । ऐसी पर पंच पांति रचो क्यों न भांति भांति, कैसेहू न छोरै जम देख्यो हम हेरिकैं ॥ ७३ ॥

१ साझा। २ सागर-समुद्र । ३ दिवाकर सूर्य । ४ दानव-दैत्य। ५ सेना।

मत्तगयन्द सवैया ।

अन्तकसों न छुटै निहचै पर, मूरख जीव निरन्तर धूजै[2] । चाहत है चितमें नित ही, सुख होय न लाभ मनोरथ पूजै ॥ तो पन मूढ़ बँध्यो भय आस, वृथा बहु दुःखदवानल! भूजै । छोड़ विचच्छन ये जड़ लच्छन, धीरज धारि सुखी किन हूजै ॥ ७४ ॥

धैर्यशिक्षा ।

जो धनलाभ लिलार लिख्यो, लघु दीरघसुकृतके अनुसार । सो लहि है कछु फेर नहीं, मरुदेशके ढेर सुमेर सिधार ॥ घाट न बाढ़ कहीं वह होय, कहा कर आवत सोच विचार । कूप किधौं भर सागरमें नर !, गागर मान मिलै जल सार ॥ ७५ ॥

आशानदी ।

मनहर कवित्त ।

मोहसे महान ऊंचे परवतसों ढर आई, तिहूं जग भूतलको पाय विसतरी है । विविध मनोरथमें भूरि जल भरी बहु, तिसना तरंगनिसों आकुलता धरी है ॥ परै भ्रम भौंर जहां रागसो मगर तहां, चिंता तटतुंग धर्मवृच्छ ढाय परी है । ऐसी यह आशा नाम नदी है अगाध ताको, धन्य साधु धीरजजहाज चढ़ि तरी है ॥ ७६ ॥

१ जमराज । २ कांपै डरै ।

महामूढ़ वर्णन ।

जीवन कितेक तामें कहा बीत बाकी रह्यो, तापै अंध कौन कौन करै हेर फेर ही । आपको चतुर जानै औरनको मूढ मानै, सांझ होन आई है विचारत सवेर ही ॥ चामहीके चखनतें चितवै सकल चाल, उरसों न चौंधे कर राख्यो है अंधेर ही । बाहै बानतानकै अचानक ही ऐसो जम, दीस है मसान थान हाड़नको ढेर ही ७७

केती बार स्वान सिंघ सांबर सियाल सांप, बानर विलाव सूसा सूरी उदर पर्यो । केती बार चील चमगीदर चकोर चिरा, चक्रवाक चातक चँडूल तन भी धर्यो ॥ केती बार कच्छ मच्छ मेंडक गिंडोला मीन, शंख सीप कौंडी ह्वै जलूका जलमें तिर्यो । कोऊ कहै "जायरे जनावर!" तो बुरो मानै, यों न मूढ जानै मैं अनेकबार ह्वै मर्यो ॥ ७८ ॥

दुष्टकथन ।

छप्पय.

करि गुणअम्रतपान, दोषविष विषम समप्पै ।
बँकचाल नहिं तजै, जुगल जिह्वा मुख थप्पै ॥
तकै निरन्तर छिद्र, उदै परदीप न रुच्चै ।
विन कारण दुख करै, वैरविष कबहुं न मुच्चै ॥७९

१ देखै । २ शूकरी । ३ जोंक । ४ अच्छालगताहै ५ छोडताहै ।

वर मौनमंत्रसों होय वश, संगत कीये हान है।
वहु मिलतबान यातैं सही, दुर्जन सांप समान है॥

विधातासों तर्क।

मनहर कवित्त।

सज्जन जो रचे तो सुधारस सों कौन काज, दुष्ट जीव किये कालकूटसों कहा रही। दाता निरमापे फिर थापे क्यों कलप वृच्छ, याचक विचारे लघु तृण हूतें हैं सही॥ इष्टके संयोगतें न सीरो घनसार कछू, जगतको ख्याल इँद्रजाल सम है वही। ऐसी दोय दोय बात दीखें विधि एकहीसी, काहेको बनाई मेरे धोखो मन है यही॥ ८०॥

चौवीसतीर्थकरोंके चिह्न।

छप्पय।

गऊपुत्र गजराज, बाजि बानर मनमोहै।
कोक कमल सांथिया. सोम सफरीपति सोहै॥
सुरतरु गेंडा महिष, कोल पुनि सेही जानो।
वज्र हिरन अज मीन, कलश कच्छप उरआनो॥
शतपत्र शंख अहिराज हरि, ऋषभदेवजिन आदि ले।
श्रीवर्द्धमानलों जानिये, चिहन चारु चौवीस ये॥८१॥

१ शीतल। २ बैल। ३ चन्द्रमा। ४ मकर। ५ कल्पवृक्ष। ६ शूकर। ७ रक्तकमल। ८ सर्प।

श्रीऋषभदेवके पूर्वभव।

कवित्त मनहर।

आदि जयवर्मा दूजे महाबलभूप तीजे, सुरगइ-शान ललितांग देव थयो है। चौथे वज्रजंघ एह पांचवें जुगल देह, सम्यक ले दूजे देवलोक फिर गयो है॥ सातवें सुबुद्धिराय आठवें अच्युतइन्द्र, नवमें नरेन्द्र वज्रनाभ नाम भयो है। दशें अहमिन्द्र जान ग्यारवें ऋषभभान, नाभिवंश भूधरके सीस जन्म लयो है॥ ८२॥

श्रीचन्द्रप्रभके पूर्वभव।

गीता।

श्रीवर्म भूपति पाल पुहमी[1], स्वर्ग पहले सुर भयो। पुनि अजितसेन छखंडनायक, इन्द्र अच्युतमें थयो॥ वर परम नाभिनरेश निर्जर, वैजयंति विमानमें। चं-द्राभ स्वामी सातवें भव, भये पुरुषपुरानमें॥८३॥

श्रीशान्तिनाथके पूर्वभव।

कवित्त (३१ मात्रा)

सिरीसेन आरज पुनि स्वर्गी, अमिततेज खेचर पद पाय। सुर रविचूल स्वर्ग आनतमें, अपराजित बलभद्र कहाय॥ अच्युतेंद्र वज्रायुध चक्री, फिर

---

१ पृथ्वी।

अहमिंद्र मेघरथराय। सरवारथसिद्धेश शान्तजिन,
ये प्रभुकी द्वादश परजाय॥ ८४॥

नेमिनाथके पूर्वभव।

छप्पय।

पहले भव वनभील, दुतिय अभिकेतु सेठ घर।
तीजे सुर सौधर्म. चौम चिन्तागति नभचर॥
पंचम चौथे स्वर्ग, छठं अपराजित राजा।
अच्युतेंद्र सातयें, अमरकुलतिलक विराजा॥
सुप्रतिष्ठराय आठम नवें, जन्मजयन्तविमान धर।
फिर भये नेमि हरिवंशशशि, ये दशभव सुधि करहु नर॥

श्रीपार्श्वनाथके भवान्तर।

कवित्त (३१ मात्रा)।

विप्रपूत मरुभूत विचच्छन, वज्रघोष गज गहन मंझार। सुर पुनि सहसरश्मि विद्याधर, अच्युतस्वर्ग अमरिभरतार॥ मनुजइंद्र मध्यम ग्रैवेयिक, राजपुत्र आनंदकुमार। आनतेंद्र दशवें भव जिनवर, भये पासप्रभुके अवतार॥ ८६॥

राजा यशोधरके भवान्तर।

मत्तगयंद सवैया।

राय यशोधर चन्द्रमती, पहले भव मंडल मोर कहाये। जाहक सर्प नदीमध मच्छ, अजा अज भैंस

अजा फिर जाये ॥ फेरि भये कुकड़ा[1] कुकड़ी[2], इन सात भवांतरमें दुख पाये। चूनमई[3] चरणायुध मार, कथा सुन संत हिये नरमाये ॥ ८७ ॥

सुबुद्धिसखीके प्रति वचन।

मनहर कवित्त।

कहै एक सखी स्यानी सुनरी सुबुद्धि रानी, तेरो पति दुखी देख लागै उर आर है। महा अपराधी एक पुग्गल है छहों माहिं, सोई दुख देत दीखै नान-परकार है ॥ कहत सुबुद्धि आली? कहा दोष पुग्गल को, अपनी ही भूल लाल होत आप ख्वार है। "खोटो दाम आपनो सराफ कहा लगै बीर," कोऊको न दोष मेरो भोंदू भरतार है ॥ ८८ ॥

गुजराती भाषामें शिक्षा।

करिखा।

ज्ञानमय रूप रूडो[4] सदा सासतो, ओलखै[5] क्यों न सुखपिंड भोला। वेगळी[6] देहथी[7] नेह तूं शूं[8] करै, एहनी टेव जो मेह[9] ओला ॥ मे मान भवदुक्ख पाम्यो[10] पछी[11], चैन[12] लाध्यो[13] नथी एक तोला। वळी[14] दुख वृच्छनो बीज बावै[15] अने[16], आपथी आपनै आप बोला ॥ ८९ ॥

---

१ मुर्गा। २ मुर्गी। ३ शूल, ४ सुन्दर। ५ पहिचानै। ६ पृथक्। ७ देहसे। ८ क्या। ९ मेरुके प्रमाण। १० पाये। ११ पीछे। १२ मिला। १३ नहीं। १४ फिर। १५ बोता है। १६ और।

द्रव्यलिंगी मुनि ।

मत्तगयंद सवैया ।

शीत सहैं तन धूप दहैं तरुहेट रहैं करुना उर आनैं । झूठ कहैं न अदत्त गहैं वनिता न चहैं लव लोभ न जानैं ॥ मौन वहैं पढ़ि भेद लहैं नहिं, नेम गहैं व्रत रीति पिछानैं । यो निवहैं परमोख नहीं, विन ज्ञान यहैं जिनवीर वखानैं ॥ ९० ॥

अनुभवप्रशंसा ।

कवित्त मनहर ।

जीवन अलप आयु बुद्धिबलहीन तामें. आगम अगाधसिंधु कैसे ताहि डाक है । द्वादशांग मूल एक अनुभौ[1] अपूर्व कला, भवदाघहारी[2] घनसारकी सलाक है ॥ यह एक सीख लीजे याहीको अभ्यास कीजे, याको रस पीजे ऐसो वीरजिन-वाक है । इतनो ही सार येही आतमको हितकार, यहीं लों मदार फिर आगें ढूकढाक है ॥ ९१ ॥

भगवत्प्रार्थना ।

आगम अभ्यास होहु सेवा सरवज्ञ तेरी, संगति सदीव मिलौ साधरमी जनकी । सन्तनके गुनको बखान यह बान परो, मेटो टेव देव! पर औगुन कथ-

१ थांह पावेगा । २ ससाररूपी उष्णताको हरन करनेवाला ।

नकी ॥ सबहीसों ऐन सुखदैन मुखवैन भाखों, भावना त्रिकाल राखों आतमीक धनकी । जौलों कर्म काट खोलों मोक्षके कपाट तौलों, ये ही बात हूजो प्रभु पूजौ आस मनकी ॥ ९२ ॥

जिनधर्मप्रशंसा ।

दोहा ।

छये अनादि अज्ञानसों, जगजीवनके नैन ।
सब मत मूठी धूलकी, अंजन है मत जैन ॥ ९३ ॥
मूल नदीके तिरनको, और जतन कछु है न ।
सब मत घाट कुघाट हैं, राजघाट है जैन ॥ ९४ ॥
तीनभवनमें भर रहे, थावर जंगम जीव ।
सब मत भक्षक देखिये, रक्षक जैन सदीव ॥ ९५ ॥
इस अपार जगजलधिमें, नहिं नहिं और इलाज ।
पाहनवाहन धर्म सब, जिनवरधर्म जिहाज ॥ ९६ ॥
मिथ्यामतके मदछके, सब मतवाले लोय ।
सब मतवाले जानिये, जिनमत मत्त न होय ॥ ९७ ॥
मतगुमानगिरिपर चढ़े, बड़े भये मनमाहिं ।
लघु देखें सब लोककों, क्यों हूं उतरत नाहिं ॥ ९८ ॥
चामचखनसों सब मती, चितवत करत नवेर ।
ज्ञाननैनसों जैन ही, जोवत इतनो फेर ॥ ९९ ॥
ज्यों बजाज ढिग राखिकैं, पट परखै परवीन ।
त्यों मतसों मतकी परख, पावैं पुरुष अमीन ॥ १००
दोय पक्ष जिनमतविषैं, नय निश्चय व्यवहार ।

तिन विन लहै न हंस यह, शिवसरवरकी पार ॥
सीझे सीझैं सीझ हैं, तीनलोक तिहुँकाल
जिनमतको उपकार सब, जिन भ्रम करहु दयाल ॥
महिमा जिनवर वचनकी, नहीं वचनबल होय ।
भुजबलसों सागर अगम, तिरै न तीरहिं कोय१०३
अपने अपने पंथको, पोखै सकल जहाँन ।
तैसैं यह मतपोखना, मत समझो मतिवान॥१०४
इस असार संसारमें, और न सरन उपाय ।
जन्म जन्म हूजो हमें, जिनवरधर्म सहाय ॥ १०५

अन्तप्रशास्ति ।

कवित्त मनहर ।

आगरेमें बालबुद्धि भूधर खंडेलवाल, बालकके ख्यालसो कवित्त कर जाँने हैं । ऐसे ही करत भयो जैसिंघसवाई सूबा, हाकिम गुलाबचंद आये तिहि थानै हैं ॥ हरीसिंघ साहके सुवंश धर्मरागी नर, तिनके कहेसों जोरि कीनी एक ठानै है । फिरि फिरि प्रेरे मेरे आलसको अंत भयो, उनकी सहाय यह मेरे मन मानै है ॥ १०६ ॥

दोहा ।

सतरहसै इक्यासिया, पोह पाख तमलीन ।
तिथि तेरस रविवारको, शतक समापत कीन१०७

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

श्रीशुभमस्तु । कल्याणमस्तु ॥
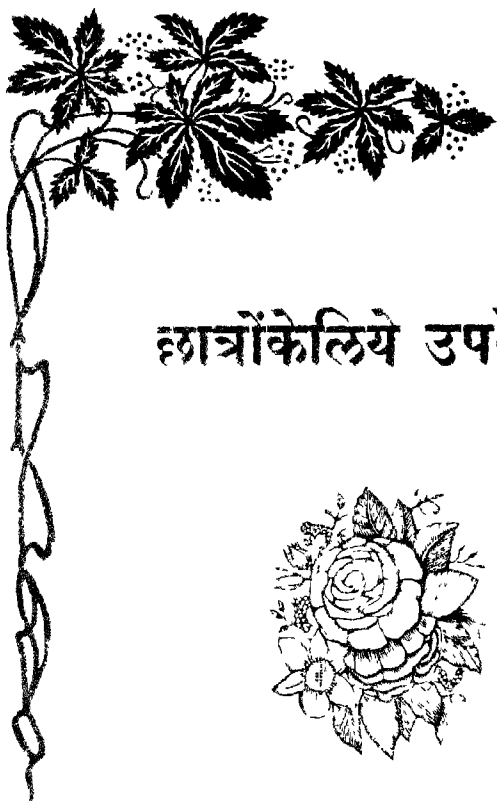
छात्रोंकेलिये उपदेश ।
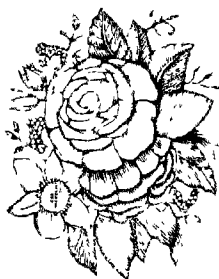
मुंशीलाल एम्. ए.

श्रीः

छात्रोंकेलिये उपदेश ।

जिसे

लाला मुंशीलाल एम्. ए. गवर्नमेंटपेन्शनर

लाहौरने बनाया

और

देवरीनिवासी श्रीनाथूरामप्रेमीद्वारा

बम्बईके निर्णयसागर प्रेसमें बालकृष्ण रामचन्द्र घाणेकरके

प्रबन्धसे छपाकर प्रकाशित किया ।

प्रथमावृत्तिः] जून सन १९१० ई० [मूल्य ।) ॥

छात्रोंकेलिये उपदेश.

१.

शीलका प्रभाव।

किसी देशकी उन्नति इसपर निर्भर नहीं है कि उसकी आय अधिक हो, सीमा दृढ़ हों वा गृह सुन्दर हों, वरञ्च उसकी उन्नति इसपर आश्रित है कि वहांके रहनेवाले लोग सभ्य सुशील और सुशिक्षित हों।

संसारमें शील एक बहुत बड़ी प्रेरक शक्ति समझी जाती है, क्योंकि यह मनुष्यको उच्च पदवीपर पहुंचाकर उत्तमताका आदर्श बना देती है। स्वभावतः जो लोग उत्तम नियमोंपर चलनेवाले हैं वे परिश्रमी सरल और निष्कपट होते हैं और इतर जन उनके कहनेपर चलते हैं। प्रकृति यही चाहती है कि ऐसे मनुष्योंपर भरोसा करना और उनके अनुसार चलना चाहिये। संसारमें सकल गुण और भलाइयां इन्हींके कारण विद्यमान हैं और जबतक ऐसे महात्मा और साधुजन इस संसारमें न हों तबतक यह संसार रहनेके योग्य हो ही नहीं सकता।

यद्यपि धीशक्ति वा बुद्धिमत्ता श्लाघनीय है तथापि सुशीलता सम्माननीय है। बुद्धिमत्ता मस्तकसे और सुशीलता हृदयसे सम्बन्ध रखती है। सच पूछो तो हृदयशक्ति ही इस जीवनमें सर्वत्र प्रबल है। प्रत्येक समाजमें बुद्धिमान् पुरुषका आदर उसकी

तीक्ष्ण बुद्धिके कारण और सुशील पुरुषका सम्मान उसके शुद्ध अन्तःकरण वा संज्ञानके कारण होता है, परन्तु भेद यह है कि बुद्धिमान् पुरुषकी केवल श्लाघा ही श्लाघा होती है और सुशील पुरुषके आचरणको सब लोग ग्रहण करना चाहते हैं।

उच्च पदवीके लोग साधारण मनुष्य जातिसे अलग है और यह पदवी एक दूसरेकी अपेक्षा हीसे प्राप्त हो सकती है। मानुषी जीवनका क्रम प्रत्येक दशामें ऐसा परिमित रक्खा गया है कि बहुत थोड़े लोगोंको उच्च पदवीतक पहुंचनेका अवसर मिलता है, परन्तु प्रत्येक पुरुष आदरसत्कारपूर्वक अपना जीवन सुष्ठु रीतिसे व्यतीत कर सकता है। छोटे २ कामोंमें भी मनुष्य सरलता विशुद्धता और श्रद्धालुताका बर्ताव कर सकता है और अपनी २ दशामें उसके अनुसार कृत्य करता रहता है।

मनुष्यका जीवन बहुधा साधारण कृत्योंके लिए ही है और अधिक करके वही गुण प्रबल है जिनसे नित्यप्रति काम पडता रहता है।

प्रत्येकको अपना कृत्य या कर्तव्य करना चाहिये। जान बूझकर कृत्य न करना एक बड़ा भारी दोष है, इस दोषसे हमें बचना चाहिये और कटिबद्ध होकर इसका सामना करना चाहिये। कृत्यके करनेमें आनन्द है और उसके न करनेसे दुःख प्राप्त होता है। प्रत्येकको, चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, अपने २ कृत्य वा कर्तव्य धर्मका जानना अवश्य है। धर्म वा कृत्य मनुष्यके साथ यहां भी है और इस जीवनके अन्तमें भी साथ रहेंगे।

बुद्धिमत्तासे मनुष्य अधिक चमत्कारी और आश्चर्यजनक काम कर सकता है, प्रचुर धनसे बहुतसे अद्भुत काम निकल सकते है, परन्तु जो काम दृढ़ श्रद्धालु और धार्मिक पुरुषोंसे प्रकट होते हैं वे बहुत

ही हृदयंगम और योग्य होते हैं। देखो तीक्ष्णबुद्धि बिरलोंहीके भाग्यमें होती है और धनसम्पदा भी किसी २ को मिलती है, परन्तु यह सब लोग कर सकते है कि वे अपने २ अङ्गीकार किये हुए कृत्यको पूरे २ बल और हृदयसे करें। अपना २ कृत्य करना लोगोंका परम धर्म है; इस कृत्यका करना, चाहे एक छोटीसी बात प्रतीत हो, अवश्य है और जो कोई अपना कृत्य करता है वह इसके बदलेमें किसी प्रकारकी श्लाघा वा पारितोषिकका अधिकारी नहीं है, परन्तु केवल कृत्य और निष्काम कृत्य होनेके कारण आप ही आप उसका उत्तम फल मिलेगा। भक्त और श्रद्धालुका परिश्रम कभी वृथा नहीं जाता, उसका फल अवश्य उसको मिलेगा, विपरीत इसके तीक्ष्णबुद्धिवालोंके हार कुम्हलाकर मुरझा जाते है और निरे भाग्यवालोंके पारितोषिक वृथा आडम्बर हैं।

इस संसारमें, उसकी रचनाके अनुसार, प्रत्येक मनुष्यके जीवनकी, सामाजिक और गृहस्थी होनेके कारण, अपनी अलग २ दशा है। कुछ पुरुष तो राज्य करते है, कुछ सेवक हैं, कुछ शिक्षक वा गुरु है और कुछ शिष्य वा चेले है इत्यादि। इन कई प्रकारके सम्बन्धोंसे अनेक प्रकारके ऋण और कृत्य उत्पन्न होते हैं। जीवनका बड़ा उद्देश्य और लाभ यह है कि अपने ही आनन्दको न बढ़ाया जाए वरञ्च औरोंके आनन्द और सुखको अधिक किया जाए और यह तब ही हो सकता है जब हम अपने २ कृत्योंको श्रद्धा और भक्तिसे पूरा करें।

यहां हम छात्रसम्बन्धी कुछ कृत्य वर्णन करते हैं। छात्रोंको ये कृत्य करने योग्य है—१. आज्ञानुवृत्तिः २. कालानुवृत्तिः (कालानुवर्तिता) ३. परिश्रम ४. परस्पर एकता और प्रेम जो नीतिके

अनुसार हों और न्यायपर आश्रित हों ५. निष्कपटता, सरलता और सत्यवादिता ।

१. आज्ञानुवृत्ति या वश्यताके अर्थ पाठशालाके बनाए हुए नियमोंके अनुसार चलना है । इस कृत्य वा गुणका होना मनुष्य-सम्बन्धी समाजके सकल भागोंमें आवश्यक है । इसके विना समाज ही नहीं रह सकती । फ़ौजी सिपाहियोंके लिए भी यह सबसे उत्तम गुण है; उन्हें चाहिये कि चुप चाप होकर अपने अफ़सरका हुकम मानें और तनिक भी चूं न करें, नहीं तो सारा प्रबन्ध उलट पुलट हो जायगा और खलबली मच जाएगी । देखो अपने माता पिताके कहेमें चलना अच्छे बालकोंका सबसे पहला कृत्य है । वश्यता ईश्वरका सर्वोपरि न्याय है । इसी प्रकार छात्रोंमें वश्यताका होना अतीव आवश्यक है, क्योंकि इसके विना पाठ-शालाका प्रबन्ध और शासन रखना बड़ा कठिन है, और जहां शासन नहीं वहां किसी प्रकारकी ठीक २ शिक्षा हो नहीं सकती । पाठशालामें इस गुणका होना अतीव श्लाघनीय है, क्योंकि और सब गुण इसीपर निर्भर हैं और इसीसे उत्पन्न होते है । सोचो यदि तुम अपने गुरु वा शिक्षककी आज्ञा न मानोगे, तो फिर तुम उसके उपदेशका कुछ भी आदर न करोगे और उसकी उत्तमसे उत्तम और उपयोगी शिक्षापर तनिक भी ध्यान न दोगे । इससे तुम्हें आज्ञा उल्लंघन करनेकी बान पड़जाएगी और तुम अपना समय वृथा खोने लगोगे, और इस प्रकार शिक्षासे तुम्हारे आचरण नहीं सुधरेंगे, वरञ्च शिक्षाका तुमपर उलटा प्रभाव पड़ेगा और तुम समाजके लिए भार और कष्टका कारण होगे ।

फिर यह भी याद रखना चाहिये कि आज्ञाभङ्ग करनेसे हमारा

आत्मसम्मान जाता रहता है। यदि हम सुशील और नियमोंके अनुसार चलनेवाले हैं, तो हमपर उत्तम रीतिसे शासन किया जाएगा; और यदि हम नियमोंको उलंघन करेंगे और इस कारण दुर्विनीत और दुराचारी बनेंगे, तो हमपर कुरीतिसे शासन किया जाएगा और हमें दण्ड मिलेगा। किसी विभागके अध्यक्षको अत्यन्त ताड़ना करनी और कठोर नियम बनाने पड़ेंगे, यदि जिन लोगोंमे उसे बरतना है वे अन्यायी दुराचारी और दुर्दान्त हों। इस लिए आत्ममान रखने और अपनेसे बड़ोंकी आशीर्वाद लेनेके लिए हमें आज्ञाकारी होना चाहिये।

आज्ञानुवर्ती होनेसे तुम आगे जाकर अपने जीवनमें ऋद्धि सिद्धि प्राप्त करोगे। तुम्हें यह भी याद रखना चाहिये कि आज्ञापालन और सकल गुणोंकी नाईं दो परमकोटियोंका मध्यभाग है, अर्थात् इसके एक ओर आज्ञाभंग है और दूसरी ओर दासत्व है और यह इन दोनोंसे भिन्न है और इनके मध्यमें स्थित है। तुम्हें चाहिये कि आज्ञानुवृत्तिके उत्तम गुणको अपनेमें धारण करो और उसके अनुसार चलो।

२. एक और ऐसा ही आवश्यक गुण कालानुवृत्ति है। जीवनके सब कामोंमें इस गुणका होना अवश्य है। यदि यह न हो तो प्रत्येक वस्तुमें खलबली पड़जाए। छात्रोंमें इस गुणका होना अतीव आवश्यक है। कालानुवृत्तिसे हमारा तात्पर्य यह है कि प्रतिज्ञाके समयका ध्यान रक्खा जाए, यह नहीं कि एक बार वा दो बार वा कभी २, वरञ्च सदाके लिए ध्यान रक्खा जाए; यदि वह प्रतिज्ञाकी अवधि कुछ कालतक वा सदाके लिए हो तो उस समयतक बराबर ध्यान रखना चाहिये। यदि कोई छात्र पाठशा-

लामें नित्य और ठीक समयपर नहीं आता, तो वह नियमोंका उल्लंघन करके अपने अध्यापकोंका निरादर करता है; इस लिए एक तो उसके अध्यापक उसको कृपादृष्टिसे नहीं देखते, दूसरे वह शिक्षासे लाभ नहीं उठा सकता और आयुःपर्यन्त मूर्ख रहता है। और यदि यह बुरी बान उसमें सदाके लिए पड़गई और आयुः-पर्यन्त रही, तो उसका शील भङ्ग हो गया और वह किसी सांसारिक काममें नहीं फलता फूलता। तुममें सोच समझ है और आगे जाकर तुम संतानवाले होगे, तुम्हें चाहिये कि आज्ञापालन और कालानुवृत्तिके गुणोंको ग्रहण करो इसलिए कि तुम अपने छोटे भाई बहनों और सन्तानको श्रेष्ठ उदाहरण बताओ और स्वयं उत्तम आदर्श बनकर दिखाओ। तुम अगले वंशके चलानेवाले हो, इस लिए हिन्दुस्तानकी अगली दशाका उत्तम होना बहुत करके तुम्हारे ही उत्तम और धार्मिक शीलपर निर्भर है। कहते है कि जाति व्यक्तियोंसे मिलकर बनी है और यदि किसी जातिकी प्रत्येक व्यक्ति उत्तम सज्जन और धार्मिक है तो वह सारी जाति उत्तम सज्जन और धार्मिक कहलाई जा सकती है। अपने समयको बहुमूल्य समझनेमे तुम अपने आपको जीते जी बहुत कुछ सुधार सकते हो और तुम्हारे पीछे लोग तुमको भलाईसे याद करेंगे और तुम्हारा यश और कीर्ति इस संसारमें रहेगी और लोग तुम्हारा अनुकरण करेंगे।

३. अब हम परिश्रमका वर्णन करते है। प्रत्येक मनुष्यको अपना २ काम करना पड़ता है और यह काम करनेकी शक्ति सर्वोत्तम दान है जो ईश्वरने मनुष्यको दी है। जीवनका सबसे अधिक दुःख उन लोगोंको दिया गया है जो अच्छे और पवित्र

कामके करनेमें लगे हुए है । निकम्मे और आलसी मनुष्य अपने लिए भार हैं और उनको अपने जीवनमें कुछ भी स्वाद नहीं आता । इस कारण परिश्रम शाप वा हानि नहीं है वरञ्च एक महादान और लाभ है । जो कुछ कि मनुष्य कर सकता है वह उसका सबसे बड़ा भूषण है और उस कामके करनेसे वह अपना ही मान और हर्ष बढ़ाता है अर्थात् काम करनेसे मनुष्यका सब आदर करते हैं और वह उच्च पदवी और आनन्दको प्राप्त होता है ।

ओ हो! जो लोग परिश्रम करते है और जो यत्न करते है, उनमें एक बड़ी भारी शक्ति आ जाती है । तुम्हें चाहिये कि अपने अमूल्य समयको वृथा न खोओ, उसमें यथाशक्ति उत्तम २ कार्य करते रहो । कामका करना सर्वोत्तम अधिकार है और मनुष्यके लिए बड़ा उत्तम दान है । तुम्हें उचित है कि अपने जन्मके अधिकारपर अपने आपपर और अपनी आत्माओंपर दृढ़ रहो । जो लोग ठाली बैठे रहते हैं और कुछ करना नहीं चाहते, वे अपने जीवनमें क्लान्त और दीन रहते हैं और उनका जीना धिक्कार है ।

परिश्रमका फल अवश्य मिलता है । इस लिए तुम्हें अपने इष्ट मनोरथकी सिद्धिके लिए परिश्रम करना योग्य है । तुम्हें चाहिये कि जो काम करना है उसे तन मन धनसे करो । विद्या बड़े कठिन परिश्रमसे ही प्राप्त हो सकती है और विद्याके प्राप्त करनेके लिए कोई सीधी सड़क वा राजमार्ग नहीं बना हुआ है । जिन लोगोंको तुम पूर्व समयमें धीशक्तिसम्पन्न कहते हो, जिन्होंने बड़ी कीर्त्ति और यश प्राप्त किया है और जो बड़े बुद्धिमान् प्रसिद्ध हुए हैं, उन सबको अपने कार्यमें सिद्धि प्राप्त करने और अपनी की-

र्तिको स्थित रखनेके लिए बड़ा भारी परिश्रम करना पड़ा है और वे आधी २ राततक दीपक जलाकर पढ़ते और सोचते रहे हैं और स्वयंसिद्ध तो इनमेंसे एक ही आध निकलेंगे।

और लो ! परिश्रम करनेसे मनुष्य आलसी और निकम्मा नहीं रहता और अपनी शक्तियोंको वृथा नहीं गंवाता, अर्थात् परिश्रम आलस्यका नाश करनेवाला है। बाल्य और तरुण अवस्थामें हमारी शक्तियां अति प्रबल होती हैं और यदि इनको किसी उपयोगी कार्यमें न लगाया जाए तो ये हमें बुरे कामोंकी ओर ले जाएंगी। अंगरेज़ी भाषामें एक कहावत प्रसिद्ध है जिसका अर्थ यह है कि निकम्मा और आलसी पुरुष वा स्त्री भूत पिशाच को अपनी ओर लुभा लेती है, अर्थात् ठाली बैठेको बुराइयां ही बुराइयां सूझती रहती हैं।

४. चौथी बात परस्पर एकता और प्रेम है। तुममें परस्पर प्यार और प्रीति होनी चाहिये। बहुधा छोटी २ बातोंपर लड़ाई भिड़ाई हो जाती है; तुम्हें चाहिये कि इस उत्तम नियमपर चलो, "तुम औरोंके साथ इसी प्रकार बर्तो, जैसा कि तुम चाहते हो कि और लोग तुम्हारी साथ बर्तें"। तुम्हें एक दूसरेके भावोंका ध्यान रखना चाहिये, और किसीका वृथा जी नहीं दुखाना चाहिये। तुम्हारी एकताकी नीव सच्चे और धार्मिक नियमोंपर होनी चाहिये, क्योंकि जो एकता अधर्मपर आश्रित होती है उसकी जड़ बोदी होती है और वह चाहे जब टूट जाती है। और यह अधर्मसम्बन्धी एकता कभी ठीक नहीं, क्योंकि यह नीतिविरुद्ध है और जलके बुलबुलेके समान झट नष्ट हो जाती है। तुम्हें चाहिये कि ऋजुता और सरलता बर्तो, सज्जन पुरुषोंके सङ्गमें

रहो और दुर्जनोंसे बचो। यदि तुम्हारा साथी वा तुम्हारी श्रेणीका लड़का कोई बुरा काम करे तो तुम झट उस कामको बुरा कहो और अपने साथीको सुधारनेका यत्न करो। तुम्हें चाहिये कि पाठ-शालाका शासन रखने, दुर्जनोंका पता लगाने और उन्हें उचित दण्ड दिलानेमें अपने शिक्षकोंके सहायक बनो। ऐसा करनेसे तुम अपने साथियोंका भला कर रहे हो, क्योंकि तुम इस प्रकार सरलताके पक्षपाती होकर भलाईका बीज बो रहे हो और बुराईको जड़से उखाड़ रहे हो।

५. सबसे पिछली बात यह है कि तुम अपने शीलमें निष्कपट, सरल और सत्यवादी बनो। निष्कपटता वा ऋजुता सर्वोत्तम गुण है। कई एक निकम्मे और दुष्ट छात्र परीक्षामें सफल होनेके लिए अनुचित उपाय करते हैं, पाठशालासे छुट्टी लेनेके लिए अपने पिता वा रक्षकके झूठे हस्तलेख बना लेते हैं वा सच्चा हेतु छोड़कर झूठा हेतु घड़ लेते हैं, इस भयसे कि सच्ची वार्ता लिखनेसे उन्हें छुट्टी नहीं मिलेगी। तुम्हें कदापि ऐसा नहीं करना चाहिये और आशा है कि तुम अपना मनोरथ सिद्ध करनेके लिए अनुचित उपाय काममें लाना बहुत ही बुरा समझोगे और अपने सारे बर्तावमें सचाई और साधुतासे काम लोगे।

सबसे उत्तम बात यह है कि तुम ईश्वर परमात्माको पहचानो, उससे प्यार करो और उसीकी आज्ञाका पालन करो यहां तक कि तुम्हारे शीलमें परमात्माकेसे गुण आजाएं।

२.

हे छात्रो ! तुम आगे आनेवाले वंशके चलानेवाले हो और तुमहीपर हिन्दुस्तानकी आगामी उन्नति और उच्च दशाका निर्भर है। लड़कपनमें जैसी तुम्हारी बान पड़ जाएगी, वैसी ही बान जवानी और बुढ़ापेमें होंगी। तुम्हें चाहिये कि अपनी बान डालनेमें नियम और रीतिसे काम लो और सज्जन और धार्मिक बनना सीखो। इस संसारमें और विशेष करके युवा अवस्थामें हमारा शील पूरा २ सुधरा हुआ नहीं होता और हमारी बान परिवर्त्तनशील होकर बदलती रहती है उस समय हमारी प्रवृत्ति बुराई ग्रहण करनेकी ओर होती है। परन्तु तुम्हें यह बात जाननी अवश्य है कि आनन्द वा परम सुख सज्जनताईमें ही है। सुखी होनेके लिए हमारा अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र होना चाहिये अर्थात् जब हमारा अन्तःकरण प्रसन्न और संतुष्ट होकर हमारे कामोंको सराहता है तब ही परमसुख प्राप्त होता है। जिस मनुष्यकी वृत्ति सात्विक और धार्मिक है और जो अपना कृत्य भक्तिसे श्रद्धापूर्वक करता है, उसका भीतरी आत्मा वा अन्तःकरण सर्वदा संतुष्ट रहता है। विपरीत इसके पापी मन, जो पछतावेके दुःख और कष्ट सहता रहता है, सदा बेचैन रहता है और कभी भी सुखी नहीं होता। फिर देखो कि आनन्द वा सुख चिरस्थायी और निरन्तर होना चाहिये न कि क्षणिक और थोड़े काल के लिए हो, ऐसा सुख पुण्य वा धर्मसे ही प्राप्त होसकता है क्योंकि धर्म सदा स्थिर है और काल और दशासे बदल नहीं सकता। धार्मिक पुरुषका सुख बाह्य बातोंपर निर्भर नहीं होता, इस लिए प्रायः उसका सुख उससे पृथक् नही होसकता अर्थात्

धार्मिक पुरुष सदा आनन्दमें मग्न रहता है। प्रत्येक वस्तुमें पवित्रताका होना उत्तम है, परन्तु हृदयकी पवित्रता वा विशुद्धताकी सब बड़ाई करते हैं और उसे प्राप्त करना चाहते हैं। पुण्य वा धर्म वा सात्त्विक वृत्ति निर्मल जलकी नाईं है और प्रकाशका चिन्ह है, और पाप वा अधर्म वा तामसिक वृत्ति मैले और गंदले जलके समान है और अन्धकारका चिन्ह है। इस कारण यह बात अतीव आवश्यक है कि हम पवित्र शुद्ध और धार्मिक जीवन व्यतीत करें और तब ही हमको अपने जीवनमें ऋद्धि सिद्धि और परम सुख मिल सकता है।

इससे पहले हम उन गुणोंका वर्णन कर चुके हैं जिनका बीज हमें अपने हृदयमें बोना चाहिये। वे गुण आज्ञापालन, समयानुसरण (कालानुवृत्ति), परिश्रम, एकता और प्रेम, निष्कपटता, सरलता और सत्यवादिता है। इनके अतिरिक्त हमारे आचरण भी उत्तम होने चाहिये और हमें एक दूसरेके साथ मित्रता रखनी चाहिये।

१. कभी २ ऐसा होता है कि तुम अपनी श्रेणीके किसी लड़केसे एक पुस्तक वा लेखिनी मांगी लेते हो और वह तुम्हें कृपा करके दे देता है, परन्तु तुम उस पुस्तकको लेते समय और उलटा देने समय उसके अनुग्रहीत नहीं होते अर्थात् दोनों समय यह नहीं कहते कि मै आपका बड़ा अनुग्रहीत हूं। कभी २ तुम ऐसे अक्खड़ और अविनीत हो जाते हो कि उस वस्तुको दूरसे ही उसकी ओर फेंक देते हो तथा उस वस्तुको जहांका तहां पड़ा रहने देते हो और उसे लौटाकर नहीं देते। इस कारण वह वस्तु खोई जाती है और उसके खोए जानेका दोष तुमपर होता है।

याद रक्खो कि छोटेसे छोटे कामके लिए भी तुम्हें अनुग्रहीत होना चाहिये ।

२. कभी २ तुम वृथा अभिमानके मारे अपने आपेमें फूले नहीं समाते और मनमें यह समझने लगते हो कि हमें औरोंसे अधिक ज्ञान है; पर तुम्हें यह जानना चाहिये कि शून्य थैला सीधा नहीं खड़ा हो सकता । औरोंको दोष लगानेसे पहले अपने ही दोषोंपर दृष्टि डालो । बुद्धिमान् और नम्र बनो । इस निम्नलिखित श्लोकके अनुसार चलो—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥

३. अवधान और वश्यता, अर्थात् ध्यान और नम्रता विद्या-प्राप्तिके लिए आवश्यक हैं । यदि श्रेणिमें कोई बात सिखलाई जाए और तुम पाठको सुनो ही नहीं वरञ्च अपनी श्रेणिमें पास बैठे हुए लड़केसे चुपके २ बातें करने और कानाफूसी करने लगो तो तुम और तुम्हारी श्रेणीके लड़के भी शिक्षासे लाभ नहीं उठा सकते । फिर यह देखो कि पढ़ते समय बातें करना और पाठपर ध्यान न देना उत्तम आचरणके विरुद्ध है, क्योंकि ऐसा करनेसे तुम अपने शिक्षकका निरादर करते हो और अपना और उसका समय भी वृथा खोते हो । जब तुम्हारा शिक्षक श्रेणीमें नहीं है या कुछ और काम कर रहा है तो तुम्हें चाहिये कि तुम सब चुप चाप रहो और वृथा कोलाहल न करो, क्योंकि यह बात उत्तम आचरणके विरुद्ध है कि जब तुम अकेले हो तो कव्वोंकी नांई कांएं २ करने और चिल्लाने लगो ।

४. आज कल उन्नतिका समय है । हिन्दुस्तानके सकल भागों-

में समाजें बन रही हैं और हमारे बहुतसे भाई नई २ बातें सीखने, विद्या और कला प्राप्त करने, डिगरियां लेने इत्यादि कामोंके लिए अंगरेजोंकी विलायत और अन्य देशोंमें जाते हैं । तुममेंसे बहुतसे अनेक धर्मसम्बन्धी समाजों और सभाओंके सभासद हो और देशके सुधारके लिए बहुधा जो उपदेश दिए जाते हैं उन्हें सुनने जाते हो । निस्संदेह ये सब अच्छे समयके चिन्ह हैं और इनसे विदित होता है कि आगे उन्नतिका काल शीघ्र ही आनेवाला है । हमें केवल इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि हम आपसमें फूट न डालें और पृथक् २ भेद न बना लें और हमें चाहिये कि जो नई बात ग्रहण करें उसे पहले भली भांति सोच समझलें और भेड़ाचालकी नाईं अंधाधुंद काम न करें ।

५. तुम्हें छात्रोंकी नाईं सर्वहितकारी पुस्तकालयोंमें जाना चाहिये । वहां जाकर पुस्तकें पढ़ो, जो कुछ पढ़ो उसे सोचो और अपने शब्दोंमें वर्णन करनेका यत्न करो । महान् और कुलीन पुरुषोंके जीवनचरित्र पढ़ो और उनके वृत्तान्तसे धर्म और नीतिकी शिक्षा ग्रहण करो ।

६. आज कल लोगोंमें जो दूषण फैल गए है उनका अनुकरण न करो । हमारे कुछ भाइयोंको कोरी बातें बनाने और मदिरा पीनेका चस्का पड़ गया है । बड़े खेदकी बात है कि आज कल ज्यों २ सभ्यता बढ़ती जाती है लोगोंमें मदिरापान करनेकी बुरी बान फैलती जाती है। विपरीत इसके तुम्हें चाहिये कि धैर्य और दृढतासे अपना काम किए जाओ और शांतस्वभाव और संयत रहो; क्योंकि जबतक धीरता, लगातार परिश्रम, और संयमसे काम न किया जाए, तो कुछ भी श्लाघनीय कर्म नहीं हो सकता ।

यही प्रार्थना करो कि परमात्मा तुमको बुद्धि दे और तुम्हारी प्रवृत्ति उत्तम और धार्मिक कामोंमें हो और तुम अपने जीवनमें परिश्रम और सोच विचारसे काम लो और परमेश्वरपर भरोसा रक्खो।

३.

(क) हिन्दुस्तानकी अगली दशा, भली वा बुरी, बहुत कुछ तुम्हारी ही शक्ति पर निर्भर है। तुम जो आज कलके वंशकी नई पौद वा बच्चे हो अगले वंशके पिता हो। इसलिए तुम्हें विचारना चाहिये कि तुम्हारा बाल्यावस्थामें क्या कृत्य है। बहुतसे लोग यह कहते हैं कि आज कलकी अंग्रेज़ी पाठशालाओंकी शिक्षासे उत्तम और व्युत्पन्न पुरुष बनकर नहीं निकलते जैसे कि पुरानी देशी पाठशालाओंसे पढ़कर निकलते थे; वरञ्च अब जो युवा पुरुष पढ़कर निकलते हैं उनमें पल्लवग्राही पांडित्य होता है, वे निरे अभिमानसे भरे होते हैं और अपने शील और गुणोंकी वृथा बड़ाई करते रहते है। आज कलकी विद्यासे उनमें निरर्थक स्वतन्त्रता उत्पन्न हो जाती है, वे अपने बड़ोंका ठीक २ सम्मान और आदर नहीं करते, उनके आचरण बिगड़ जाते है और वे पुरुषार्थहीन और सहजचकित हो जाते हैं। हम ठीक २ निर्णय नहीं कर सकते कि ये दूषण कहां तक ठीक हैं, परन्तु हम यह कह सकते हैं कि अंग्रेजी और नागरी पुस्तकें जो लड़कोंको मिडल और हाईस्कूलों-में पढ़ाई जाती है उनमें इतनी नीतिशिक्षा और उत्तम भाव भरे हुए हैं कि यदि वे लड़कोंको भली प्रकार समझाकर पढ़ाई जाएं और यदि शिक्षक आप आदर्श बनकर दिखाएं और उन पुस्तकोंके

लेखोंको भली भांति हृदयस्थ करके उनके भाव और तात्पर्यका उत्तमता जतलाएँ तो अवश्य इन युवा पुरुषोंके मनपर हितकारी और उत्तम प्रभाव पड़ेगा। ये ऊपर लिखे हुए दूषण भी कहीं २ पाए जाते हैं, पर बहुधा ये दूषण निर्मूल हैं। परन्तु हमें इन दूषणोंको योंही नहीं समझना चाहिये; विपरीत इसके हम सबको एक एक करके इन बातोंको सोचना चाहिये और अपना शील सुधारनेका यत्न करना चाहिये और धीरे २ ऐसा यत्न करना चाहिये कि हममें लेशमात्र भी दूषण न रहे। देखो जो लोग हमें हमारे दूषण बताते हैं उनको हमें अपना शत्रु नहीं जानना चाहिये वरञ्च उन्हें अपना हितैषी, परम मित्र और नीतिशिक्षा करनेवाले जानना चाहिये। इस लिए हमें किसी बातको साधारण दृष्टिसे नहीं पढ़ना वा देखना चाहिये और उसको भुसपर नहीं लीपना चाहिये वरञ्च उसको ठीक २ विचारना और उसके गुण और दोषको समझना चाहिये। हमें चाहिये कि अपनेमें वश्यता, परिश्रम, अध्यवसाय, कालानुवर्तिता, अर्थशुचित्त्व और सत्यशीलताकी बान डालकर अपने छोटे भाई, बहन और बच्चों और अपने पड़ोसी मित्र और सहपाठियोंके साम्हने अपने आपको उत्तम आदर्श बनाकर दिखाएं; सबके साथ सुजनता और शिष्टाचारसे बर्तें; अपने बड़ोंका सम्मान करें और उनके उत्तम उपदेशको कान देकर सुनें और उसके अनुसार चलें; लज्जा और आत्मसम्मानको ग्रहण करें अर्थात् अवमानना और अभिमानितासे बचें। हमें अपने शीलमें शुद्ध और पवित्र होना चाहिये। हम यह तो जानते हैं कि बाह्य वस्तुओंमें पवित्रताका होना कैसा अवश्य है। यथा हम सदा पवित्र और निर्मल जल पीना, स्वच्छ और उज्ज्वल

वस्त्र पहनना और शुद्ध और सरल भोजन खाना चाहते हैं। पर इससे अवश्यतर यह है कि हमारा मन और हमारे आचरण पवित्र हों। सच है 'साचे राचे राम' अर्थात् जिनका हृदय शुद्ध और मन पवित्र है वे साक्षात् ईश्वरके दर्शन करके कृतार्थ होंगे। इसके लिए 'पवित्र जीवन और नीतिशिक्षा,' 'शान्तिसार,' और 'शील और भावना' नामकी पुस्तकें पढ़ो जिनका मूल्य केवल डेढ़ २ आना है।

(ख) हमें जड़ और मूढ़ होकर विद्याके केवल ग्राहक नहीं होना चाहिये। अर्थात् हम ऐसे थैले वा पात्र नहीं हैं कि जिसमें विद्या ठूस २ कर बिना सोचे समझे भर लें, विपरीत इसके हमें अतन्द्रित और व्यवसायी बनना चाहिये और सच्चे ज्ञान और विद्यासागरको जहांसे मिले सोच समझकर प्राप्त करना चाहिये। हमें अपनी उपलम्भन और अवेक्षणशक्तियोंको बढ़ाना और उन्नति देना चाहिये। अवेक्षण और तुलनाके विना केवल पुस्तकीय विद्यासे हमारी मानसिक शक्तियां उन्नत नहीं हो सकती। शिक्षाका मुख्य उद्देश्य यह है कि मनुष्यको मनुष्य बनाया जाए, उसकी स्वाभाविक शक्तियोंको उन्नति दी जाए, और साथ ही उसे नीरोगता विद्यासार ज्ञान और नीतिकी बड़ी २ बातें सिखाई जाएं, इस लिए कि वह इस संसारमें आनन्दमय धार्मिक और पवित्र जीवन व्यतीत कर, आगेके लिए उच्च और उत्तम आशाएं रक्खे जैसा कि उसके मानसिक संतोष और शुद्ध अन्तःकरणसे प्रकट है। स्कूलमें तुम्हें 'ड्राइंग' अवश्य सीखना चाहिये, क्योंकि उससे हाथ जमता है, अवेक्षण और तुलनाकी शक्तियां बढ़ती हैं, हमारा वस्तुओंका ज्ञान जो पहले अनिश्चित और संदिग्ध था अब ठीक २ और

विशेष (विशिष्ट) हो जाता है और धीरे २ अनेक आकृतियोंके देखने और मिलाने जुलानेसे नई आकृतियां बना लेते और नई २ बातें निकाल सकते है। इस कारण 'ड्राइंग' बड़ा उपयोगी है। ड्राइंगका व्यवहारिक लाभ यह है कि इससे वस्तुओंमें सौन्दर्य विदित करने और उनको क्रम देनेकी शक्ति बढ़ती है और हस्त-लेख सुधरता है। ड्राइंगके सीखनेसे कुछ छात्र दफतरोंमें क्लार्क और नक़शे-नवीस (लेखक वा चित्रकार) बन सकेंगे। एक प्रसिद्ध मनुष्यका लेख है, —"स्वेच्छालेख (Free-hand Drawing), आदर्शलेख (Model Drawing), यथादृश्यचित्रालेख (Perspective Drawing) सब स्कूलोंमें सिखाने चाहिये, क्योंकि यह विषय शिक्षाके विचारसे बहुमूल्य है अर्थात् यह हस्त-चक्षुसाधन है और इसके सिवा ड्राइंग प्रत्येक शिल्पकारके लिए भी बड़ा उपयोगी है"।

(ग) मानसिक शिक्षाके साथ २ शारीरिक शिक्षा भी होनी चाहिये। स्कूलोंमें शारीरिक शिक्षाके फैलानेके लिए बहुत कुछ किया जाता है। आधा घंटा प्रतिदिन ड्रिल और जिमनैस्टिक्सके लिए दिया जाता है और शिक्षाकी इस अतीव आवश्यक शाखामें छात्रोंकी उन्नति विदित करनेके लिए विशेष २ शिक्षक नियत है। प्रतिवर्ष व्यायाम और गेंदबल्लाके खेल होते रहते हैं और इन खेलोंके कारण सरकारी, इमदादी (साहाय्यकारी) और निजकी पाठशालाओंमें मित्रतापूर्वक स्पर्धा बढ़ती जाती है। इन खेलोंमें तुम्हें सदा निष्कपटतासे बर्तना चाहिये और सरलतापूर्वक यथाशक्ति औरोंसे बढ़नेका यत्न करना चाहिये और फिर यदि हम हार जाएं तो कुछ बात नहीं। हार जानेसे तुम्हें किसी प्रकार अपना जी नहीं छोड़ बैठना

चाहिये विपरीत इसके तुम्हें आगेके लिए दुगने उत्साह और साहससे काम करना चाहिये। व्यायाम बड़ी अच्छी वस्तु है, इससे मनुष्य नीरोग रहता है, शरीर सुडौल और सुन्दर निकल आता है, भूख अधिक लगती है, जो खाओ सो पच जाता है और जी प्रसन्न रहता है।

इसके अतिरिक्त एक बात और है जिसका तुम्हें अवश्य ध्यान रखना चाहिये। कुछ लड़के हट्टे कट्टे होते हैं पर और कुमार्गगामी लड़के उन्हें बिगाड़ देते हैं और इस कारण उनका सारा यौवन और सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और इसी लिए उनका बुद्धिचातुर्य भी जाता रहता है। तुम जानते हो कि सुस्थ मनके लिए सुस्थ शरीरका होना अवश्य है। ये सब बातें सोचकर तुम्हें चाहिये कि बुरी संगतसे बचो और उन सब बातोंसे दूर रहो जिनसे आचरण बिगड़े और जीवन अपवित्र हो जाए। इस संसारमें बहुतसी वस्तुएँ ऐसी हैं जो हमें बुराईकी ओर ले जाती हैं और उनसे बचनेकी सबसे उत्तम रीति यही है कि हमें सदा अच्छे काम करनेमें लगे रहना चाहिये।

(घ) सबसे पिछली पर सबसे उत्तम शिक्षा यह है कि हम धर्मसम्बन्धी कृत्योंको अर्थात् वश्यता परिश्रम आदिकको भली भांति समझें और उनको अपने जीवनमें बर्तें, और सभ्य जातिकी नांई अच्छे आचरण सीखें और सुशील बनें। इन सब बातोंकी आवश्यकता हम पहले तुम्हारे आगे वर्णन कर चुके है और बहुधा तुम्हारी पढ़ाईकी पुस्तकोंमें भी इन बातोंका व्याख्यान दिया हुआ है और तुम्हारे शिक्षक भी प्रायः तुम्हें यही बातें सिखाते रहते हैं। तुम्हारे जैसे छात्रोंके लिए सर्वोत्तम उपदेश यह है कि

अपना काम आदिसे ही क्रमानुसार विधिवत् और सुन्दरतासे करो, अपने ही बनाए हुए संक्षेप और सारसंग्रहपर भरोसा रक्खो और दूसरोंने जो रुपया कमानेके लिए पुस्तकोंके संक्षेप किये हैं उनको मोल लेकर न पढ़ो और न कण्ठ करो, अपने कृत्य करनेमें बराबर लगे रहो और अपनी नीरोगता और आचरणका ध्यान रखकर प्रयत्नसे पढ़ते लिखते रहो।

४.

(क) जीवनके सरल नियम।

अब हम कुछ प्रस्ताव वर्णन करते है जिनके अनुसार काम करनेसे श्रेय प्राप्त होता है। ये एक प्रकारकी पगडंडियां हैं जिन-पर चलनेसे मनुष्य उत्तम पद प्राप्त कर लेता है। आध्यात्मिक पगडंडियोंमें सबमे उत्तम पगडंडी यह है कि मनुष्य जीवनके सीधे सादे नियमोंको भले प्रकार समझे। जो मनुष्य इन नियमोंको समझकर उनके अनुसार चलता है, उसे परम सुख और शान्ति प्राप्त होती है, लोभ जाता रहता है, संशय भ्रम और घबराहट मिट जाती है और सकल दुःखोंसे निवृत्ति हो जाती है। जो नियम सांसारिक वा भौतिक वस्तुओंमें हैं वे ही आध्यात्मिक वस्तुओंमें भी पाए जाते हैं।

सांसारिक वस्तुओंमें यह एक नियम है कि प्रत्येक मनुष्य अपना पालन पोषण आप करे, अपनी जीविका आप कमाए, और जो काम नहीं करेगा उसे भोजन भी नहीं मिलेगा। लोग इस नियमको ठीक और अच्छा जानकर इसपर चलते हैं और

इस प्रकार अपनी रोज़ी कमाते हैं। परन्तु वे आध्यात्मिक वस्तुओंमें इस नियमके व्यापारको नहीं मानते। उनका विचार है कि भौतिक वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए तो कमाना अवश्य है और जो कोई संसारमें इस नियमके विरुद्ध करेगा, वह भूखा नंगा फिरेगा। उनके मतमें आध्यात्मिक वस्तुओंके लिए भीख मांगना उचित है। क्योंकि उनका विचार है कि आध्यात्मिक वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए परिश्रम करने या उनके लेनेके लिए अपने आपको योग्य बनानेकी आवश्यकता नहीं अर्थात् ये आध्यात्मिक श्रेय आप ही आप प्राप्त हो जाएंगे। इसका फल यह है कि बहुतसे लोग अध्यात्मविद्यासे रहित होकर यों ही भीख मांगते फिरते हैं, दुःख और कष्ट सहते हैं और अध्यात्मसम्बन्धी आनन्द ज्ञान और शान्ति उनको नहीं मिलती।

यदि तुम्हें किसी सांसारिक वस्तु भोजन वस्त्रादिकी आवश्यकता होती है तो तुम बेचनेवालेसे भीख नहीं मांगते: उससे इनके दाम पूछते हो और अपने पाससे दाम देकर वस्तु ले लेते हो। मूल्य देकर ही वस्तुका लेना ठीक समझते हो और इससे भिन्न कुछ करना नहीं चाहते। यही नियम आध्यात्मिक वस्तुओंमें भी प्रचलित है। इसी प्रकार यदि तुम्हें किसी आध्यात्मिक वस्तु आनन्द विश्वास या शान्तिकी आवश्यकता हो तो उसके बदलेमें कुछ देकर ही उसे लेना चाहिये अर्थात् उसके दाम दे देने चाहियें। जैसे तुम्हें किसी सांसारिक वस्तुके लिए अपना भौतिक धन देना पड़ता है, इसी प्रकार आध्यात्मिक वस्तुके लिए भी कोई न कोई अमूर्त वस्तु अवश्य दान करनी होगी। तुम्हें पहले किसी बुरी कामना व्यसन विषयभोग अभिमान या लालसाका

त्याग करना होगा और फिर तुम्हें उसके बदलेमें आध्यात्मिक सुख मिल सकता है। देखो जबतक कृपण अपना रुपया हाथसे नहीं छोड़ता उसे कोई सांसारिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता, धन दौलत होनेपर भी सदा कष्ट भोगता रहता है। इसी प्रकार जो मनुष्य भोग विलास नहीं छोड़ता और जो क्रोध, निर्दयता, विषयभोग, अभिमान, अहंकार आदिमें आसक्त होकर इनहीमें निमग्न रहता है वह मानो आध्यात्मिक कृपण है, उसे कोई आत्मसम्बन्धी सुख प्राप्त नहीं हो सकता और वह सांसारिक आनन्दका धन होनेपर भी सदा आत्मसम्बन्धी दुःख भोगता रहता है।

जो मनुष्य सांसारिक कामोंमें चतुर है वह न तो भीख मांगता है, न चोरी करता है, वरञ्च परिश्रम करता है और प्रत्येक वस्तुको मोल देकर लेता है और संसार उसकी इस ऋजुताके लिए उसका आदर सत्कार करता है। जो मनुष्य आध्यात्मिक रीतिमें चतुर है वह भी न तो भीख मांगता है न चोरी करता है, वरञ्च अपने भीतरी संसारमें परिश्रम करता रहता है और अपनी आध्यात्मिक वस्तुओंको त्यागद्वारा मोल लेता रहता है। सारा संसार इसकी धर्मपरायणता और न्यायके कारण इसका सन्मान करता है।

सांसारिक वस्तुओंमें यह एक और नियम है कि जो मनुष्य दूसरेके लिए कुछ कर्म वा सेवा करता है उसे जो वेतन ठहर गया है उसपर संतुष्ट रहना पड़ता है। यदि सप्ताहभर काम करने और अपना वेतन लेनेके अनन्तर वह अपने स्वामीसे कुछ और अधिक रुपया मांगे और यह कहे कि यद्यपि मेरा अधिक मांगना ठीक नहीं है और न मैं वस्तुतः इसका अधिकारी हूं तथापि मैं आपसे कुछ अधिक लेनेकी आशा रखता हूं, तो उसे अधिक तो कुछ

भी नहीं मिलेगा वरञ्च वह अपने कामसे अलग कर दिया जायगा। परन्तु आध्यात्मिक वस्तुओंमें लोग वह श्रेय सम्पत्ति अर्थात् आध्यात्मिक वेतन मांगते हैं जो उन्होंने पहले नियत नहीं किया था, न जिसके लिए परिश्रम किया और न जिसके वे अधिकारी थे और यह नहीं समझते कि ऐसा करना हमारी मूर्खता या स्वार्थपरता है। कामके अनुसार ही वेतन मिलता है और प्रत्येक विचार और कर्मका ठीक २ बदला मिलता है यह जानकर ही ज्ञानी पुरुष सदा संतुष्ट और शान्त रहता है। वह जानता है कि मुझे अपने कियेका ही बुरा या भला फल मिलेगा। यह सर्वोत्तम नियम किसीका ऋण या अधिकार नहीं रखता, जितना जिसका है वह अवश्य उसको मिलेगा। इस लिए प्रत्येक दशामें संतुष्ट रहना चाहिये, कष्ट और दुःखमें बुड़बुड़ना कदापि उचित नहीं, क्योंकि यह सब कुछ हमारी ही कमाईका फल है। जैसा किया वैसा पाया।

फिर यदि कोई मनुष्य सांसारिक धन सम्पत्ति इकट्ठी करके धनाढ्य बनना चाहता है तो उसे चाहिये कि विवेकसे व्यय करे और अपनी आयको इस प्रकार काममें लाए कि उससे पर्याप्त धन इकट्ठा कर ले और फिर इस धनको सोच समझकर किसी अच्छे काममें लगाए, इससे उसकी सांसारिक बुद्धि और सांसारिक धन दोनो बढ़ेंगे। जो मनुष्य निकम्मा है और वृथा खर्च कर डालता है, वह कभी धनवान् नहीं बन सकता; वह तो अतिव्ययी और प्रभूतभक्ष्यपेयी है। इसी प्रकार जो आध्यात्मिक वस्तुओंसे भरपूर होना चाहता है, उसे भी विवेकसे काम करना चाहिये और अपनी मानसिक विभवसे ठीक २ काम लेना चाहिये। उसे

अपनी जिह्वा और मनकी प्रेरणाओंको वशमें रखना चाहिये, निकम्मी बातें नहीं बनानी चाहिये, न झूठी युक्ति देनी चाहिये, और क्रोध अहंकारादिककी अतिसे बचना चाहिये । इस प्रकार वह कुछ ज्ञानका भण्डार इकट्ठा कर लेगा और यही उसका आध्यात्मिक मूलधन होगा, और फिर वह इस आध्यात्मिक ज्ञानसे संसारके लोगोंको लाभ पहुंचा सकता है, और जितना वह इसे खर्च करेगा उतना ही धनाढ्य अर्थात् श्रेयवान् होगा। इस प्रकार मनुष्य स्वर्गीय ज्ञान और स्वर्गीय धन इकट्ठा कर सकता है । जो मनुष्य अपनी तामसी वृत्तिके वशमें होकर विषयभोग और अनुचित कामनाओंके अनुसार चलता है और अपने मनको वशमें नहीं रख सकता वह आध्यात्मिक अतिव्ययी है: उसे दैवी श्रेय और स्वर्गीय सम्पत्ति कदापि नहीं प्राप्त हो सकती ।

यह एक शारीरिक वा भौतिक नियम है कि यदि हम किसी पहाड़की चोटीपर चढ़ना चाहते हैं तो हमें उस ओर चढ़ना चाहिये । पगडण्डी ढूंढ़कर सावधानीसे उसपर चलना चाहिये और चढ़नेवालेको परिश्रम कठिनाइयों और थकनके कारण साहस नहीं छोड़ना चाहिये और न उल्टा हटना चाहिये । यदि ऐसा करेगा तो उसका प्रयोजन पूरा नहीं होगा । आध्यात्मिक नियम भी यही है । जो मनुष्य नीति या ज्ञानकी पराकाष्ठाको पहुंचना चाहता है, उसे वहां अपने ही उद्योगसे चढ़ना चाहिये । उसे मार्ग या पगडण्डी ढूंढ़कर परिश्रम करके उसपर चलना चाहिये । उसे चाहिये कि धैर्यको हाथसे न जाने दे और न उल्टा फिरे, वरञ्च सारी कठिनाइयोंका सामना करे और कुछ कालके लिए सब प्रकारके प्रलोभन, मनोव्यथा और हृदयपीड़ाको सह ले और अन्तमें वह

उत्तम नीतिकी पराकाष्ठा या सबसे ऊंची चोटीपर जा खड़ा होगा, सांसारिक विषयभोग मोह और दुःख आदिको नीचे छोड़ जाएगा और उसे अपने सिरके चारों ओर ऊपरकी तरफ़ अथाह स्वर्ग ही स्वर्ग दिखाई देगा।

यदि कोई मनुष्य किसी दूरके शहर या किसी अभीष्ट स्थानमें पहुंचना चाहता है, तो उसे वहां विचरण करना होगा। कोई ऐसा नियम नहीं है कि वह झट वहां जा बैठे, वह वहांपर अवश्य परिश्रम करके ही पहुंच सकता है। यदि वह पांव २ चले तो उसे बहुत कुछ परिश्रम करना पड़ेगा, पर उसे रुपया नहीं खरचना पड़ेगा; यदि वह बग्गी या रेलगाड़ीमें बैठकर जाए तो उसे परिश्रम कम करना पड़ेगा पर रुपया देना पड़ेगा जो रुपया उसने परिश्रम करके कमाया है। इस लिए किसी स्थानपर पहुंचनेके लिए परिश्रमकी आवश्यकता है; परिश्रम विना कुछ नहीं हो सकता; यह नियम है। आध्यात्मिक नियम भी यही है। जो मनुष्य किसी आध्यात्मिक स्थान यथा शुद्धता, दया, ज्ञान, या शान्तिपर पहुंचना चाहता है तो उसे पर्य्यटन करना चाहिये और वहां पहुंचनेके लिए परिश्रम करना चाहिये। कोई ऐसा नियम नहीं है कि वह इन सुन्दर आध्यात्मिक स्थानोंमें विना परिश्रम किए झट जा बैठे। पहले उसे अत्यन्त सीधा मार्ग ढूंड़ लेना चाहिये और फिर वहां पहुंचनेके लिए परिश्रम करना चाहिये और अन्तमें वह अपने अभीष्ट स्थानपर अवश्य पहुंच जाएगा।

जो कुछ होता है शुभ ही शुभ है, क्योंकि सब कुछ नियमानुसार होता है और इसी कारण प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनमें पवित्र शुद्ध और सीधा मार्ग विदित कर सकता है और ऐसा मार्ग

विदित करके प्रसन्न रह सकता है और सच्चा आनन्द प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि इस संसारमें बहुत कुछ पाप और अज्ञान भरा हुआ है, बहुत कुछ कष्ट और दुःख सहना पड़ता है और बहुतसे आंसू बहाने पड़ते हैं; तथापि यह संसार बहुत कुछ पवित्रता और ज्ञानसे भरपूर है और इसमें बहुत कुछ शान्ति और प्रसन्नता विद्यमान है। देखो प्रत्येक पवित्र विचार और निष्काम कार्यका बहुधा शुभ परिणाम हुए विना नहीं रहता और यह परिणाम इस जीवनका प्रशस्त प्रयोजन है। मीठा बोलना, प्यारसे रहना, श्रद्धापूर्वक सुष्ठु रीतिसे अपने २ कृत्यको करना, कलह मेटना, पुराना विरोध छोड़ देना, कठोर वचनोंको क्षमा कर देना, मित्रका मित्रसे मिलाप होना, पापरूपी अन्धकारसे निकलकर धर्मके उज्वल मार्गमें आ जाना, बहुत कुछ देख भाल करके और ठोकरें खाकर पवित्र जीवन ग्रहण करना, अर्थात् दिव्य मार्गको प्राप्त कर लेना, ये सब सुखावह और मनोज्ञ प्रयोजन हैं। प्रत्येक मनुष्यको ऐसे प्रशस्त कार्य करनेका यत्न करना चाहिये।

५.

(ख) गुप्त त्याग या उत्सर्ग।

त्यागके समान कोई वस्तु नहीं। त्यागसे तात्पर्य धर्म या पुण्यका त्याग नहीं है, वरञ्च अधर्म या पापका त्याग है। स्वार्थपूर्वक सुख और पापके ह्रासमें धर्मकी वृद्धि, प्रमादके त्यागमें सत्य मार्गकी प्राप्ति होती है। देखो पुराने वस्त्र उतारकर ही नए वस्त्र

पहन सकते हैं; माली घास पात उखाड़कर ही पेड़ोंको बढ़ा और फैला सकता है; मूर्खताके दूर करनेसे ही बुद्धिमत्ता आती है। इसी प्रकार पवित्र जीवन भी स्वार्थ और विषयभोगके त्यागनेसे ही प्राप्त हो सकता है।

पहले पहल यह त्याग और हानि बड़ी भारी और दूभर प्रतीत होती है और इस त्यागसे अन्तमें जो लाभ और परमसुख प्राप्त होता है, मनुष्य उसे स्वार्थ और मोहके वशमें होकर इस समय अनुभव नहीं कर सकता। देखो जब कोई मद्यप (शराबी) मद्य पीनेका त्याग करना चाहता है, तो उसे कुछ कालतक कैसा भारी दुःख होता है और वह अनुभव करता है कि अब मेरा बड़ा सुख चला; परन्तु जब उसकी पूर्ण जीत हो जाती है, जब मद्यपानकी इच्छा सर्वथा नष्ट हो जाती है और जब उसका मन शान्त होकर मद्यपानमें तनिक भी प्रवृत्त नहीं होता, तब जाकर उसे यह जान पड़ता है कि मैंने अपना स्वार्थविषयक सुख त्याग करनेसे अनगिनत और अनन्त लाभ उठाए हैं। अर्थात् उसने वह वस्तु तज दी है जो पाप और मिथ्या थी और जो पास रखनेके योग्य नहीं थी, वरन् उस वस्तुके रखनेमें निरन्तर दुःख ही दुःख मिलता था; अब उसके स्थानमें सुशीलता, वश्यता, मनकी शान्ति और संयम प्राप्त किया है, और यह नई वस्तु पुण्य और सत्य ही है, जिससे उसको अत्यन्त लाभ पहुंचा है।

सच्चा त्याग यही है। और जितने सच्चे त्याग हैं, वे सब पहले पहल दुःखदायी होते हैं, और इसी कारण मनुष्य इस सच्चे त्यागसे डरते और परे भागते हैं। वे अपने स्वार्थसम्बन्धी भोगके त्यागने और उसको पराजय करनेमें कुछ भी लाभ और प्रयोजन

नहीं देखते; उन्हें उसका त्याग ऐसा भासता है जैसे कि किसी मिष्टान्न या सुखका खोया जाना, विष या दुःखका ग्रहण करना और सर्व प्रकारके आनन्दको हाथसे दे बैठना।

मनुष्यको चाहिये कि बड़ी प्रसन्नता और नम्रतासे और लोगोंको सुख पहुंचानेके लिए अपनी स्वार्थसम्बन्धी बान और रीतोंको त्याग दे और इसके बदलेमें अपना लाभ न चाहे और अपने भलेकी आशा न रक्खे, अर्थात् औरोंको निष्काम लाभ पहुंचानेके आशयसे अपने स्वार्थको छोड़ दे; वरञ्च अपना आनन्द और अपने प्राणतक भी देनेके लिए उद्यत रहे, यदि ऐसा करनेसे वह संसारको अधिक सुन्दर, रमणीय और परम आनन्दका धाम बना सके। अब प्रश्न यह है क्या उसे इस त्यागसे सचमुच हानि पहुंचती है? क्या कृपणको स्वर्णकी लालसाका त्याग करनेसे हानि पहुंचती है? क्या चोरको चोरी करनेकी बान छोड़नेसे हानि पहुंचती है? क्या लुच्चे या व्यभिचारीको अपने निकम्मे विषयभोगोंके छोड़ देनेसे हानि पहुंचती है? स्वार्थके सर्वथा वा एकदेश त्यागनेसे किसी मनुष्यको हानि नहीं पहुंचती; फिर भी वह यह विचार करता है कि मुझे ऐसा करनेसे हानि पहुंचेगी और इसी विचारके कारण उसे दुःख और कष्ट सहने पड़ते हैं। इस दुःख सहनेमें ही त्याग है और इस हानिमें ही लाभ है।

सम्पूर्ण सच्चा त्याग भीतरी त्याग है; यह आत्मोत्सर्ग और गुप्त त्याग है और हृदयकी अतीव नम्रतासे उत्पन्न होता है। आत्मोत्सर्ग या आपको त्यागनेसे ही कुछ लाभ पहुंच सकता है और जो मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हैं उनकी कभी न कभी यही दशा होगी। अब प्रश्न यह है कि यह आत्मोत्सर्ग किस

बातमें है? इसे किस प्रकार करना चाहिये? यह कहां मिलता है? उत्तर,—यह इस बातमें है कि नित्यप्रति स्वार्थपरताके विचार और कार्य सर्वथा छोड़ दिए जाएं; इसे हमें औरोंके साथ साधारण वार्तालापमें बर्तना चाहिये; और यह अड़ी भीड़ और प्रलोभनके समयमें पाया जाता है।

हृदयसम्बन्धी वा हार्दिक गुप्तत्याग भी हैं जिनसे दोनोंको अर्थात् त्यागीको और उनको जिनके लिए वे त्याग किए जाते हैं बहुत कुछ लाभ पहुंच सकता है, यद्यपि इन त्यागोंके करनेमें बहुत कुछ यत्न करना और कष्ट उठाना पड़ता है। मनुष्य कोई बड़ी बात करनी चाहते है और कुछ ऐसे महान् त्यागके करनेकी इच्छा रखते हैं जो उनके वितसे बाहर है, परन्तु वे कोई अवश्य काम करना नहीं चाहते और वे उस वस्तुको जो उनके पास है और जो त्यागनेके योग्य है कदापि त्यागना नहीं चाहते। जो बात तुम्हारे भीतर अतिदोषयुक्त है, जिम बातमें तुम्हारी मूर्खता प्रतीत होती है और जिस बातके करनेकी तुम्हें अत्यन्त लालसा होती है, सबसे पहले तुम उसे त्याग दो। इससे तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी। कदाचित् यह क्रोध या निर्दयता है। क्या तुम इस बातके लिए उद्यत हो कि क्रोधका भाव और वचन, निर्दयताका विचार और कार्य त्याग दो? क्या तुम इस बातके लिए उद्यत हो कि जो तुम्हें बुरा भला कहे, तुमपर आक्रमण करे, दोष लगाए और तुम्हारी साथ निर्दयतासे बर्ते, इस सबको चुपकेसे सह लो और उस मनुष्यसे कुछ बदला न लो? वरञ्च क्या तुम इस बातके लिए उद्यत हो कि इन बुरे मूर्खताके कामोंके बदले उसके साथ दया और प्यारसे बर्तो और उसकी रक्षा करो? यदि ऐसा है, तो

फिर हम यह कह सकते हैं कि तुम परम आनन्ददायक गुप्त त्याग करनेके लिए प्रस्तुत हो।

इस लिए तुम्हें क्रोध और निर्दयता छोड़कर भारी भरकम होना चाहिये; अपने आपेको अपने वशमें रक्खो और निरन्तर पुण्य और धर्मके काम करनेसे अपराधीपर दया और क्षमा करनी सीखो। चण्ड स्वभाव, असहिष्णुता और अक्षमाको त्याग दो। इसी प्रकार और स्वार्थसम्बन्धी विषयभोग और क्षणभङ्गुर आनन्दोंको त्याग दो; उत्तम और उत्कृष्ट सुखमें अपने चित्तको लगाओ, और विषयातीत होकर परमात्मामें मग्न हो और सच्चा आनन्द अनुभव करो। किसीसे द्वेषभाव न रक्खो और सबके साथ प्रीतिसे वर्तो। अपवित्र इच्छाएं, आत्मकरुणा, आत्मश्लाघा और अभिमानको त्याग दो, क्योंकि ये सब मनके बुरे भाव हैं और हृदयके दूषक है।

यह आत्मोत्सर्ग और इस कारण परम ज्ञान और आनन्द किसी एक बड़े कामके करनेसे नहीं मिलता, वरञ्च नित्यप्रति सांसारिक जीवनमें बहुतसी छोटी २ बातोंके त्याग करनेसे और धीरे २ स्वार्थपर सत्यकी जय होनेसे ही मिलता है। जो मनुष्य प्रतिदिन अपने आपेको थोड़ा २ करके वशमें करता रहता है और जो मनुष्य किसी निर्दयताके भाव, किसी अपवित्र बासना और किसी पापकी प्रवृत्तिको सर्वथा जीतकर उसपर प्रबल होता है, वही मनुष्य नित्यप्रति अधिक बलवान्, पवित्र, शुद्धहृदय और बुद्धिमान होता जाता है, और प्रतिदिन सत्यकी उस पराकाष्ठाको पहुंचता रहता है जो प्रत्येक निष्काम और स्वार्थरहित कार्यके द्वारा कुछ २ भासती है।

सत्यके प्रकाश और श्रेयको अपने बाहर और अपने परे न ढूंड़ो, वरञ्च अपने भीतर खोजो; सत्य तुम्हें अपने धर्म या कृत्यके सूक्ष्म और अविस्तृत गोलमें और तुम्हारे अपने हृदयके गुप्त और छोटे २ त्यागोंमें ही मिलेगा।

६.

(ग) आनन्दका मार्ग।

आनन्द संसारमें एक लोकविरुद्ध वस्तु है। आनन्द प्रत्येक भूमिमें उत्पन्न हो सकता है और प्रत्येक दशामें मिल सकता है। आनन्द बाह्य पदार्थोंमें विद्यमान नहीं है, परन्तु भीतरसे ही उपजता है। आनन्द आत्मिक सुख है और भीतरी जीवनका बाह्य विकास है। जैसे कि प्रकाश और तेज प्रकट होकर सूर्यके द्योतक हैं इसी प्रकार परम आनन्द या पूर्ण सुखसे शुद्ध आत्माका ज्ञान होता है। जिसका मन शान्त और हृदय पवित्र है, उसका शरीर कदापि दुर्मतिके तापसे तप्त नहीं होता। जो मनुष्य अपने धर्मपर स्थित है यदि उसको सूलीपर भी चढ़ाया जाए, तो उसको वह आनन्द होगा जो राजाको अपने राज्यसिंहासनपर भी नहीं मिल सकता। मनुष्य आप ही अपने आनन्दका उत्पादक है अर्थात् जो मनुष्य अपने जीवनको परम धर्म और उत्कृष्ट नियमोंके अनुसार व्यतीत करता है, पूर्ण आनन्द उसीको प्राप्त होता है। जो कुछ कि मनुष्य औरोंसे सीखता है वह केवल प्राप्ति या एक प्रकारका लाभ है, पर सच्चा लाभ या उन्नति वही है जो कुछ कि मनुष्य अपने यत्नसे आप ग्रहण करता है। जब आत्मा शुद्ध होकर अपने आ-

पको पहचान लेता है और दुर्ग्रह परमात्माको प्राप्त कर लेता है, वास्तविक आनन्द यही है। इस जीवनमें मनुष्यके लिए अपरिमित और पूर्ण आनन्दका प्राप्त होना कठिन क्या वरञ्च असम्भव प्रतीत होता है। पूर्ण आनन्दसे बुद्धिकी पूर्णता, व्युत्पत्तिका परिपाक और सौभाग्यकी पारदर्शिता अभिप्रेत है। आनन्द लोकविरुद्ध इस लिए है कि वह दुःख कष्ट और दरिद्रता होनेपर भी प्रतीत हो सकता है, क्योंकि आनन्द हृदयकी प्रसन्नता और आत्मिक सुख है और सकल बाह्य दशाओंसे बढ़कर है।

आनन्दकी प्राप्ति इन चार बातोंसे अर्थात् समर्पण, सरलीकरण, विजय या दमन और संज्ञानसे है।

समर्पणसे यह तात्पर्य है कि मनुष्य अपने जीवनको औरोंकी सेवामें, किसी उत्तम कार्यमें, या किसी निष्काम उद्देश्य और परमार्थकी प्राप्तिमें लगा दे। जीवनका अभिप्राय यह नहीं है कि हम घटनाओंके वश होकर अपने दिन किसी न किसी प्रकार पूरे कर दें, परन्तु जीवनका अभिप्राय यह है कि हम दिनपर दिन उन्नति करके परम धर्मकी पराकाष्ठापर पहुंच जाएं। जीवनका उद्देश्य निरा धनोपार्जन नहीं है। जो मनुष्य निष्काम होकर औरोंपर दया करता है, उनसे प्रीति रखता है, उनकी सहायता करता है, उनका दुःख निवारण करता है, कायरों और पतितजनोंको धीर बंधाता है, और औरोंकी सेवा करनेमें कभी २ अपने आपेको भी भुला देता है, वही मनुष्य आनन्दके ठीक मार्गपर चल रहा है। समर्पणमें मनुष्य सदा परोपकारमें रत होकर यथाशक्ति अपना सर्वस्व औरोंके लिए दे डालता है और अपना और औरोंका सुधार करते हुए उत्तम कार्योंके करनेमें व्यग्र रहता है और

अन्य किसी प्रकारसे डरता नहीं है। सत्य है:—"**परोपकाराय सतां विभूतयः।**"

सरलीकरणमें मनुष्यका जीवन अधिक सरल और अधिक गम्भीर हो जाता है। इससे जीवनकी बाहरी टीपटाप और झूठे बखेड़े जाते रहते है और सच्चे गुण रह जाते हैं। इससे घबराहट, डर, व्यर्थ पछतावा और ऐसी बातें जो मन, आत्मा या शरीरको हानिकारक है सब जाती रहती हैं। जीवनका एक बड़ा उद्देश्य जिससे प्रत्येक दिनके विचार एकाग्रित हो जाते हैं और जिससे जीवनके दुःख, शोक और प्रमाद कुछ पीड़ा नहीं पहुंचा सकते, यही उद्देश्य सरलीकरणमें बड़ा सहायक है। देखो लड़ाईके समय सिपाही घायल होकर भी अपने घावोंको भूल जाते हैं या वे अपने घावोंकी पीड़ाको अनुभव ही नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि हम सचके लिए लड़ रहे हैं; इसी प्रकार सरलीकरणसे एक निकृष्ट पदका जीवन भी उन्नत हो जाता है, इससे जीवनमें उत्त-मता और बड़ाई आ जाती है। इससे चित्तमें उदारता आ जाती है, आत्माकी उन्नति होती है और नैतिक शिक्षा मिलती है। इससे मनुष्य निष्काम होकर सरलता और ऋजुताका मार्ग ग्रहण करता है केवल इस लिए कि वह मार्ग सरल है न कि उसमें कुछ लाभ होगा या कोई सांसारिक कार्य सिद्ध होगा। इससे मनुष्यको ऐसी शान्ति और संतोष प्राप्त होगा जिसमें सूर्यरूपी आनन्दकी झलक होगी। सच कहा है:—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसां।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

विजयसे यह तात्पर्य है कि बुरी बानको वशमें कर लें, क्रोध और अन्य कषायोंको जीत लें, और इन्द्रियोंको दमन करके आत्मिक उन्नति प्राप्त कर लें। कभी २ जब तुम इस सांसारिक युद्धमें परास्त होने लगो; जब तुम्हें यह प्रतीत हो कि न्याय एक स्वप्नमात्र है, सरलता भक्ति और सत्यको कोई नहीं पूछता, और भूत चुड़ैल ही स्वामी है; जब आशा घटने और डिगमगाने लगे, यही तो समय है जब तुम्हें इस बातका पूर्ण विश्वास रखना चाहिये कि कुछ ही क्यों न हो **सत्य** अवश्य प्रबल होगा और सत्यहीकी जय होगी और इसी समयमें तुम्हें संदेह और निराशाको अपने मनसे सर्वथा दूर कर देना चाहिये, और तुम्हें इस भवसागरसे पार उतरनेके लिए कटिबद्ध होना चाहिये और इन सांसारिक घटनाओंपर प्रबल होनेके लिए अपने आपेको जीतना चाहिये। यही विजय है और यही एक सर्वोत्तम बात है। बहते पानीकी ओर चलना सुगम है, परन्तु पुरुष वही है जो, बहावके प्रतिकूल चले और कठिनाइयोंका सामना करे। जीवनका सार इसमें है कि जब तुम्हें अपने जीवनमें ईर्ष्या, विरोध, नीचता, विमति और प्रमाद आदि आक्रमण करें, उस समय तुम इन सबपर प्रबल हो जाओ। उस स्थिर दीपकगृहकी नाईं बनो, जो समुद्रकी प्रचण्ड लहरोंमें खड़ा होकर उजाला देता रहता है और उनके तीव्र झकोरोंका धीरतासे सहन करता है। विजय यही है। जब तुम्हें अपनी प्रतिष्ठा या नियमके भङ्ग करनेसे ख्याति, धन हार्दिक इच्छा या मनोकामनाके प्राप्त करनेका अवसर मिले और तुम उसके लोभमें आकर अपना नियम भङ्ग न करो, उस समय

तुम जयी कहलाते हो। यह भी विजय है और विजय आनन्दके राजमार्गका अंश है।

संज्ञानसे सदा आनन्द मिलता है क्योंकि यह अच्छे मन्त्रीका काम देता है और प्रत्येक कार्यमें हमारा उपदेशक और पथदर्शक है। जब कोई व्यक्ति बल या दिखावेकी युक्तिसे काम लिए विना अपने संज्ञान वा अन्तःकरणपर भरोसा करके उसकी सम्मति ग्रहण कर सकता है, तब वह सच्चा आनन्द अनुभव करने लगता है। परन्तु मनुष्यको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि उसका संज्ञान बिगड़ा हुआ न हो, इससे वह बुरे काम करेगा और उसका संज्ञान जो पहले उसको रोकता था अब परास्त हो जाएगा और बुरे कामोंके बार २ करनेसे उसमें बान पड़ जाएगी और अपने संज्ञानके उपदेशपर कुछ भी ध्यान न देगा। जो मनुष्य अपना जीवन समर्पण, सरलीकरण और विजयके अनुसार व्यतीत करना चाहता है और अपने भीतरी शुद्ध अन्तःकरणपर चलनेसे दिनपर दिन उत्तम बननेका यत्न करता है, वह संज्ञानपर पूरा २ भरोसा कर सकता है। वह सांसारिक लोगोंके कहनेकी कुछ परवाह नहीं करता और अपने संज्ञानकी सम्मतिपर चलता है। यह संज्ञान उसका भीतरी आत्मा है जो उसके घटमें बोल रहा है और इसके पट खोलकर देखनेसे उसको सम्यग्ज्ञान हो जाता है।

सच्चा आनन्द व्यक्तिगत नहीं है। सच्चा आनन्द उन्हींको प्राप्त होता है जो दया और प्रेमके द्वारा औरोंको भी उत्तम बनाना चाहते हैं और समष्टिके आनन्दमें ही अपना आनन्द ढूंढ़ते हैं और इतर मनुष्योंके सुखमें ही अपना सुख अनुभव करते हैं।

(घ) किसी कार्यका ठीक २ प्रारम्भ करना।

देखो इस भौतिक संसारमें प्रत्येक वस्तु पहले छोटीसी होती है और फिर धीरे २ बड़ी हो जाती है। देखो एक छोटासा नाला फैलकर एक बड़ी भारी नदी वा दर्या बन जाता है, बूंद २ करके घड़ा और फूइयां २ करके एक तालाब भर जाता है, एक छोटीसी बड़बट्टीसे एक बड़ा भारी बड़का पेड़ ऊगकर बहुत दूर-तक फैल जाता है जो सैकड़ों वर्षसे आंधी और मेहको झेल रहा है और जिसकी छाया तले एक पलटन विश्राम कर सकती है। मेहकी थोड़ी २ बूंदोंसे एक बड़ा भारी जलका प्रवाह वा जलौघ उत्पन्न हो जाता है। एक सुलगती हुई दियासलाईके असावधानीसे गिर जानेसे सारा घर, आसपासके घर, वरञ्च गांव भी जल सकता है।

इसी प्रकार आध्यात्मिक संसारमें भी जो बातें आदिमें छोटी २ प्रतीत होती हैं अन्तमें जाकर उनका प्रादुर्भाव बड़ी २ बातोंमें होता है। देखो एक सूक्ष्म कल्पनासे एक आश्चर्य्यजनक वस्तुका उत्पादन हो सकता है, एक वाक्यके कहनेसे एक देशकी अवस्था पलटा खा जाती है, एक पवित्र विचारसे सारे संसारका उद्धार हो जाता है और एक क्षणभरके इन्द्रियविकार वा कामचेष्टासे घोर पाप बंध जाते हैं।

प्रत्येक मनुष्यका जीवन छोटी २ बातोंसे प्रारम्भ होता है। ये बातें और घटनायें प्रतिदिन और प्रतिक्षण मनुष्यके सामने आती रहती हैं। यद्यपि आदिमें जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है ये बातें छोटी २ हैं और तुच्छ और क्षुद्र प्रतीत होती हैं, परन्तु सच पूछो तो ये ही छोटी २ बातें इस जीवनमें अधिक आवश्यक हैं।

प्रारम्भहीसे सब कुछ होता है। प्रारम्भ कारण है और कारणसे कार्य्यसन्तति उत्पन्न होती है और कार्यमें सदा कारणके गुण होते हैं। प्रारम्भिक वा आदिकी प्रेरणासे उसके फल निश्चित होते हैं प्रत्येक प्रारम्भका अन्त वा उद्देश्य भी होना चाहिये। जैसे कि द्वारसे किसी मार्गको जाते हैं और मार्गसे किसी विशेष स्थानपर पहुंचते हैं इसी प्रकार उद्योग वा प्रारम्भ करनेसे फल प्राप्त होते हैं और फलोंसे कार्यसमाप्ति होती है।

इसी कारण शुद्ध रीतिपर प्रारम्भ करनेसे शुद्ध कार्य और अशुद्ध रीतिपर प्रारम्भ करनेसे अशुद्ध कार्य उत्पन्न होते हैं। तुम्हें चाहिये कि अत्यन्त सोच विचारपूर्वक काम करके अशुद्ध प्रारम्भोंसे बचो और शुद्ध प्रारम्भोंसे काम लो और इस प्रकार बुरे फलोंसे बचो और उत्तम फल भोगो।

कुछ प्रारम्भ ऐसे भी हैं जो हमारे वशमें नहीं है। ये प्रारम्भ हमसे बाहर हैं, चराचर जगत्में है, हमारे चारोंओर इस स्वाभाविक संसारमें है, और इतर जनोंमें हैं जो हमारी नाईं स्वतन्त्र और स्वाधीन हैं।

इस प्रकारके प्रारम्भोंसे तुम्हारा कुछ प्रयोजन नहीं, वरञ्च तुम्हें अपनी शक्ति और ध्यान उन प्रारम्भोंकी ओर लगाना चाहिये जिनपर तुम्हारा पूरा २ वश है और जिनसे तुम्हारे जीवनमें तुम्हें अनेक प्रकारके फल उत्पन्न होते हैं। ये प्रारम्भ तुम्हारे ही विचार और कर्मोंमें पाए जाते हैं, अनेक घटनाओंमें तुम्हारी ही मनोवृत्तियां उपस्थित हैं, तुम्हारे नित्यके व्यवहारमें दीख पड़ती हैं अर्थात् तुम्हारे जीवनमें विद्यमान हैं और तुम्हारा जीवन ही तुम्हारे कार्य्योंके अनुसार तुम्हारा उत्तम वा अधम संसार है।

नित्यप्रति प्रातःकाल उठो और शौचादिकसे निवृत्त होकर और नहा धोकर प्रार्थना करो और ईश्वरका धन्यवाद कहो कि उसने अबतक तुम्हारी रक्षा की। फिर वायुसेवनके लिये कुछ दूर बाहर जाओ, कहीं ऊंचे टीलेपर चढ़कर सूर्यको निकलते देखो।

नित्यप्रति उत्तम बातोंपर विचार करो और श्रेष्ठ कार्य्योंके भाव मनमें सोचो, भद्र पुरुष और महात्माओंसे मिलो जुलो और जहांतक हो सके परोपकार करनेमें तत्पर रहो।

प्रातःकाल उठनेसे मनुष्य सदा प्रसन्न रहता है, नीरोग रहता है और अपने कामकाजमें लगनेसे धन कमाता है। विपरीत इसके जो लोग दिन चढ़ेतक बिछौनोंपर पड़े रहते हैं वे कभी प्रसन्न और प्रफुल्लवदन नहीं रहते, तनिक २ सी बातोंपर लड़ पड़ते हैं, खिजेहुए निराश और घबराए हुए रहते हैं।

एक और बड़ा आवश्यक उद्योग यह है कि कोई विशेष और भारी काम प्रारम्भ करो। देखो! मनुष्य घर किस प्रकार बनाने लगता है? पहले वह उस घरका खाका सोच समझकर बनाता है और फिर पक्की नींव रखकर उस खाकेके अनुसार प्रत्येक काम करता है। यदि वह प्रारम्भमें उपेक्षा करे अर्थात् ठीक २ सोच-कर खाका न बनाए और योंही अंधाधुन्द काम करने लगे, तो उसका परिश्रम वृथा जाएगा। और यद्यपि उसका घर बिना ढए पूरा बन भी जाए तथापि उसकी नींव पक्की न होगी, उसके गिर जानेका भय होगा और वह किसी कामका न होगा। यही नियम प्रत्येक अवश्य कार्यमें प्रचलित है। अर्थात् प्रत्येक कार्यके ठीक २ प्रारम्भ करनेमें पहली आवश्यक बात यह है कि उसके करनेसे

पहले बड़ी २ बातें मनमें सोच लेनी चाहिये अर्थात् वह काम कितना है, उसको किस क्रम और किन २ उपायोंसे किया जाए, उसके करनेका क्या उद्देश्य है और उसकी समाप्तिसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। जो काम विना सोचे समझे किया जायगा, उसके प्रारम्भ करनेमें सोच विचारसे ठीक २ उद्योग नहीं किया जाता और अन्तमें सिद्धि नहीं प्राप्त होती।

(ङ) छोटे २ काम और कृत्य।

हम पहले बता चुके हैं कि प्रत्येक कामका प्रारम्भ ठीक २ और भले प्रकार होना चाहिये; अर्थात् पहले सोच समझकर उस कामके करनेके प्रकार, उपाय और फल जान लेने चाहिये, क्योंकि जो काम पहलेहीसे सोच समझकर किया जाता है उसीमें सिद्धि हो सकती है। जो मनुष्य अपने विचारोंके तत्त्व और महत्वपर ध्यान रखता है और जो बुरे भावोंको दूर करके अच्छे भाव वा विचार मनमें भरता रहता है, अन्तमें वह यह जान लेगा कि जो फल वह भोगता है उसके विचार ही उन फलोंके प्रारम्भ हैं, और विचार ही उसके जीवनकी प्रत्येक घटनामें प्रभाव डालते हैं, और इसी कारण शुद्ध और उत्तम विचारोंसे शान्ति और सुख प्राप्त होता है और अशुद्ध और अधम विचारोंसे घबराहट और दुःख मिलता है।

अब हम यह बताना चाहते हैं, कि छोटे २ कामों और कृत्योंके करनेमें विषाद और हर्ष विद्यमान हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कृत्यमें ही विषाद वा हर्ष उत्पन्न करनेकी कोई शक्ति है।

उस कृत्यके विषय मनकी जो भावना होती है उस भावनामें यह शक्ति है और जिस प्रकार कोई कृत्य किया जाता है उसीपर प्रत्येक वस्तुका आश्रय है। देखो छोटे २ कामोंको निष्कामता, बुद्धिमत्ता और पूर्णतासे करनेसे परम आनन्द वा हर्ष ही नहीं प्राप्त होता वरञ्च एक बड़ी शक्ति वा सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि सम्पूर्ण जीवन छोटी २ बातोंसे ही मिलकर बना है। बुद्धिमत्ता इसीमें है कि जीवनके सारे काम जो नित्य प्रति होते रहते हैं सोच विचारकर किये जाएं और जब किसी वस्तुके भाग पूरे २ बनाए जाएंगे तो वह सम्पूर्ण वस्तु भी अति सुन्दर और निर्दोष होगी।

संसारमें देखो प्रत्येक वस्तु छोटी २ वस्तुओंसे मिलकर बनी है और बड़ी २ वस्तुओंकी पूर्णता छोटी २ वस्तुओंकी पूर्णतापर निर्भर है। छोटे २ कामोंपर ध्यान न देनेसे बड़े २ काम बिगड़ जाते है। यथा ईंटपर ईंट भली प्रकार लगानेसे और लम्बसूत्रको ठीक २ रखकर काम करनेसे एक बड़ा और सुन्दर मन्दिर बन जाता है। इससे स्पष्ट विदित है कि छोटेसे ही बड़े होते हैं और जबतक छोटे २ कण और सामग्री ठीकसिर न मिलाई जाए तब-तक कोई उत्तम वस्तु प्रकट नहीं हो सकती।

जो पुरुष केवल श्लाघाके अभिलाषी हैं और बड़े बनना चाहते हैं वे किसी बड़े कार्यके करनेकी तो इच्छा रखते हैं पर जिन छोटे २ नित्यके कार्योंपर तत्काल ही ध्यान देना चाहिये उनको तुच्छ समझकर छोड़ देते हैं। जैसे नम्रता न होनेके कारण मूर्ख विद्यासे शून्य रहता है और अपने घमण्डमें होकर अपने आपको बड़ा जानता है और अनहोने काम करने चाहता है।

छोटे २ कृत्योंपर ही ध्यान देनेसे धीरे २ बड़ा पुरुष बनता है। श्लाघा और पारितोषिककी अपेक्षा न करके और अभिमान और घमण्डको त्याग करके जो छोटे २ अवश्य कृत्योंको करता रहता है वही बुद्धिमान् और सामर्थ्यवान् होता है। यह मनुष्य बड़ाई नहीं चाहता; केवल आज्ञापालन, निष्कामता, सत्य और सरलताकी अभिलाषा रखता है और छोटे २ कार्यों और कृत्यों-द्वारा इन गुणोंको प्राप्त करके उन्नतिको पहुंच जाता है।

सच पूछो तो बड़ा मनुष्य वह है जो किसी कार्य्यको असावधानीसे नहीं करता और कभी घबराता नहीं, भूल और मूर्खताको छोड़कर और किसी बातसे बचना नहीं चाहता, जो कार्य्य वा कृत्य उसके आगे आता है उसे ध्यान देकर करता है और विलम्ब नहीं लगाता। अपने कार्य और नित्यके कृत्यमें पूरा २ ध्यान लगाता है और उसके करनेमें दुःख सुख दोनोंको भूल जाता है और इस कारण उसमें आप ही आप वह सरलता और सामर्थ्य आ जाती है जिसे बड़ाई कहते हैं।

जो मनुष्य प्रत्येक कृत्यको यथायोग्य पूर्णता और निष्कामतासे ध्यान देकर करता है उसमें काम करनेकी सामर्थ्य बुद्धिमत्ता साधुता और शीलके गुण उत्पन्न हो जाते हैं। बड़ा पुरुष वही है जो आप ही आप धीरे २ लगातार परिश्रम, धैर्य और यत्नसे उन्नति प्राप्त करे जैसे कि एक पेड़में धीरे २ समय पाकर सुन्दर फूल लगते हैं।

याद रक्खो कि जैसे समुद्र बिन्दुओंसे मिलकर बना है, पृथिवी कणोंसे और तारे ज्योतिकी नोकोंसे, उसी प्रकार यह जीवन भी

विचारों और कार्योंसे मिलकर बना है। जैसे किसीके विचार और कार्य होंगे वैसे ही उसका जीवन होगा। जैसे कि वर्ष क्षणोंसे मिलकर बना है, उसी प्रकार मनुष्यका शील भी उसके विचार और कार्योंसे मिलकर बना है और पूर्ण वस्तुमें उसके भागोंका चिन्ह अवश्य होगा। छोटे २ कृपा दान और उत्सर्गके काम करनेसे एक दयालु और दानी शील बनता है। छोटे २ कष्ट और दुःख सह लेने अपने आपको वशमें करने और इन्द्रियोंको जीत लेनेसे एक दृढ़ और उत्तम शील बनता है। पक्का सरल और अर्थशुचि (हाथका सच्चा) मनुष्य वही है, जो अपने जीवनकी छोटी २ बातोंमें सरलता और निष्कपटता बर्तता है। उत्तम और साधु जन वही है जो प्रत्येक बातमें जिसे वह कहता है और करता है साधुतासे काम लेता है।

तुम्हें अपने कृत्य करनेमें जो कष्ट और खेद होता है वह केवल तुम्हारा मनका खेद है। यदि तुम उस कृत्यके विषयमें अपनी मनोभावनाको बदल दो, तो उसी समय टेढ़ा मार्ग सीधा हो जाएगा और दुःख वा खेदके बदले सुख और आनन्द प्रतीत होगा।

इस बातका ध्यान रक्खो कि प्रतिक्षण तुम दृढ़ता शुद्धता और किसी विशेष उद्देश्यसे काम करो; प्रत्येक कर्म और कृत्यमें एकाग्रता और निःस्वार्थसे काम लो; अपने प्रत्येक विचार वचन और कर्ममें मीठे और सच्चे बनो; इस प्रकार अनुभव और अभ्यासद्वारा अपने जीवनकी छोटी २ बातोंको उत्तम समझनेसे तुम धीरे २ चिरस्थायी श्रेय और परम सुख प्राप्त कर लोगे।

(च) कठिनाइयों और संशयोंपर प्रबल होना ।

हम पहले बता चुके हैं कि किसी कामको प्रारम्भ करनेसे पहले आदिमें उसके करनेकी सारी बातें सोच लेनी चाहिये, और कोई कृत्य हो, चाहे छोटा चाहे बड़ा, उसे तन मन धनसे करना चाहिए । नित्यके छोटे २ कृत्योंके करनेमें कदापि असावधानी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इन्हीं कृत्योंको भली प्रकार और सोच समझकर करनेसे ही हमारा शील बनता है । अब हम यह बताना चाहते हैं, कि हमें कठिनाइयों और संशयोंका सामना करना चाहिये ।

सच पूछो तो कठिनाइयां अज्ञान और दुर्बलतासे उत्पन्न होती हैं, और उनसे हमें ज्ञान और बल प्राप्त करनेकी प्रेरणा होती है । भले प्रकार जीवन व्यतीत करनेसे ज्यों २ समझ बढ़ती जाती है, कठिनाइयां घटती जाती हैं, संशय और घबराहट दूर होते जाते हैं, जैसे कि किरणोंके प्रकाशसे धुन्द जाती रहती है ।

वस्तुतः तुम्हारी कठिनाई किसी घटनासे उत्पन्न नहीं हुई, वरञ्च तुम्हारी मानसिक अवस्था ही तुम्हारी कठिनाईका कारण है, क्योंकि जिस प्रकार तुम किसी घटनाको विचारते और सोचते हो उसी सोच विचारसे तुममें कठिनाई उपजती है । देखो जो बात बालकके लिए कठिन होती है, परिपक्व बुद्धिवाले मनुष्यके लिए कठिन नहीं होती, और जिस बातसे मूर्खको विह्वलता उत्पन्न होती है, उससे ज्ञानीके मनमें तनिक भी विह्वलता नहीं होती ।

देखो बालकके अशिक्षित मनको किसी सरल और सुगम पाठके सीखनेमें कितनी भारी २ कठिनाइयां प्रतीत होती हैं । इस कठिनाईका कारण बच्चेकी अज्ञता या अज्ञान है और उसमें समझ

उत्पन्न करने, उसे प्रसन्न रखने और दूसरोंके लिए उपयोगी बनानेके लिए इस अज्ञान और मूर्खताका दूर करना अवश्य है। कठिनाइयोंके विषयमें बड़े लड़कोंकी भी यही दशा है। प्रत्येक कठिनाईकी हमें नई २ बातें विदित होती जाती हैं, हमारा ज्ञान और बुद्धिमत्ता बढ़ती जाती है, इससे बड़ी शिक्षा मिलती है और कठिनाईके साधनमें सफल होनेसे जी बड़ा प्रसन्न होता है।

कठिनाइयोंके विना उन्नति और बुद्धिप्रकाश नहीं हो सकता। जब मनुष्यको किसी काममें कठिनाइयों और रोकका सामना करना पड़ता है, तो इसका यह तात्पर्य है कि वह मूर्खताकी किसी विशेष सीमाको पहुंच गया है, और अब उसे इस कठिनाईसे निकलने और उत्तम मार्ग विदित करनेके लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति और बुद्धिमत्तासे काम लेना होगा, और उसकी भीतरी शक्तियां प्रकाशित होना चाहती हैं।

बहुतसे मार्ग ऐसे है जिनका अन्त घबराहट है, और ऐसे भी मार्ग हैं, जो अवश्य दुःख और कष्टकी टेढ़ी मेढ़ी औखी घाटियोंसे निकाल देते हैं। चाहे मनुष्य दुःखके बन्धनसे कैसा ही जकड़ा हुआ क्यों न हो फिर भी वह चाहे और यत्न करे तो उस बन्धनको तोड़कर निकल सकता है। परन्तु उससे निकलनेकी यह रीति नहीं है, कि निराश होकर बैठा रोने लगे, या बुड़बुड़ाने लगे और बेसोचे समझे यह चाहे कि मेरी तो इससे अन्य दशा हो जाए। उसे चाहिए कि इस दुविधामें सोच विचार और उद्यमसे काम ले, अपने आपको वशमें रक्खे, और पुरुषार्थ और उद्योग करके अपने आपको संभाले, घबराहट और चिंतासे तो अन्धकार

बढ़ता है, और कठिनाई और भी अधिक प्रतीत होती है। यदि वह शान्त स्वभाव होकर उद्यम करने लगे और पिछली बातोंको एक २ करके सोचे तो वह अपनी भूल जान जाएगा, और उसे विदित हो जाएगा कि मैंने कहां २ ठोकरें खाई थीं, और यदि मैं तनिक विचार विवेक नियमावली या आत्मोत्सर्गसे काम लेता, तो सीधे मार्गपर पड़ जाता, और ठोकरें न खाता। जिस प्रकार अज्ञान, स्वार्थ, मूर्खता और अन्धकारके मार्ग हैं जिनका अन्त घबराहट और संशय है, उसी प्रकार ज्ञान, आत्मत्याग, बुद्धिमत्ता और प्रकाशके भी मार्ग हैं जिनसे परम शान्ति और आनन्द प्राप्त होता है। जो मनुष्य इस बातको जानता है, वह साहस और धैर्यसे कठिनाइयोंका सामना करेगा और उसे उनपर प्रबल होनेसे भूल और प्रमादमें सत्य, दुःखमें सुख और मनःक्षोभमें शांति प्राप्त होगी।

अपनी कठिनाइयोंको दुःखदाई न समझो, वरञ्च यह समझो कि इनसे आगे जाकर लाभ होगा। यह भी न विचारो कि तुम इन कठिनाइयोंसे किसी प्रकार बच सकते हो, नहीं ऐसा कदापि नहीं हो सकता। तुम्हें चाहिये कि तुम इन कठिनाइयोंका शान्ति और गम्भीरतासे सामना करो, इनकी ऊंच नीचको देखो, इनके आदि अन्तपर विचार करो, और पूर्वापरपर ध्यान दो, भली भाँति सोचो समझो और अन्तमें इनपर प्रबल हो जाओ। ऐसा करनेसे तुममें बल और ज्ञान उत्पन्न होगा, और इस प्रकार श्रेय और सिद्धि प्राप्त करोगे। सच है:—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति॥

(छ) बोझ सिरसे उतारकर डाल देना।

प्रत्येक मनुष्य यह चाहता है कि मैं बोझ उतारकर हलका हो जाऊं, परन्तु बोझ उतारनेकी उत्तम रीति क्या है? कोई मनुष्य सदाके लिए बोझ उठाना नहीं चाहता, उसका तात्पर्य केवल यह होता है कि इस बोझको थोड़ी दूर जाकर डाल दूं। युक्ति नहीं चाहती कि तुम निरन्तर दुःखका बोझ उठाते रहो। जिस प्रकार भौतिक वस्तुओंमें बोझ इसलिए उठाते हैं कि उसे एक स्थानसे लेकर दूसरे स्थानमें रख दें, इसी प्रकार आध्यात्मिक वस्तुओंमें भी बोझ उठाने वा दुःखके सहनेसे यही तात्पर्य होता है कि उससे अन्तमें कोई भलाई प्रतीत हो और इस भलाईके प्राप्त होनेपर हम उस बोझको अलग कर देते हैं, फिर इस बोझका उठाना आनन्ददायक होगा।

इस कारण कई एक तपस्वी और साधु जो अपने शरीरको अनेक प्रकारके कष्ट पहुंचाते है, यह सब वृथा है और इसी प्रकार मानसिक कष्ट भी वृथा है। ऐसा कोई बोझ नहीं जिससे खेद पहुंचे। यदि तुम कोई काम करना चाहते हो तो उसे हंसी खुशीसे करो, बुड़बुड़ाते हुए न करो। यदि कोई आवश्यक समय तुमपर आ पड़े वा कोई आवश्यक काम करना पड़े तो तुम्हें उसे अपना मित्र और सहायक समझना चाहिए, और यह तुम्हारी बड़ी भारी मूर्खता है जो तुम उस आवश्यक समय और कामको अपना शत्रु समझकर उससे बचना चाहते हो। देखो जो कृत्य हमें करने हैं यदि हम उनको प्रसन्नतापूर्वक न करें तो वह हमारे

लिए बोझ और कष्टका कारण होंगे । तुम्हें चाहिए कि अपने जीवनके कामोंको बड़ी प्रसन्नता निःस्वार्थ और ध्यानसे करो ।

तुम कहते हो, कि तुम्हें किसी विशेष कार्य्य वा कृत्यके करनेमें दुःख होता है और तुम यह कहकर उसे करते हो, "मैं यह कृत्य करता तो हूं, पर यह एक बड़ा भारी, कठिन और दुःखदाई काम है"। अब प्रश्न यह है कि क्या वह काम सचमुच दुःखदाई है या तुम्हारा स्वार्थ तुम्हें दुःख पहुंचा रहा है। सच पूछो तो जिस कृत्यके करनेको तुम एक शाप, पराधीनता और दुःख समझ रहे हो, वही कृत्य तुम्हारे श्रेय स्वाधीनता और सुखका कारण है। सारी वस्तुएं एक प्रकारके दर्पण हैं जिनमें तुम अपना ही प्रतिबिम्ब देखते हो, और तुम अपने कृत्यमें जो बुराई और कष्ट देखते हो, वह केवल तुम्हारी ही भीतरी वा मानसिक दशाका प्रतिबिम्ब है। यदि तुम उस वस्तु वा कृत्यके विषयमें अपने मन और हृदयमें ठीक और अच्छे विचार सोचो, तो वही कृत्य वा वस्तु तुम्हारी दृढता और कल्याणका कारण होगी और उसमें तुम्हें शुभ ही शुभ भास पड़ेगा।

जिस कृत्यका करना ठीक और आवश्यक है, उसे अवश्य करो। यदि तुम अपने कृत्यसे बचना चाहो, तो वही कृत्य देवताकी नाईं तुम्हें बुरा भला कहेगा, और जिस भोग विलासके पीछे तुम दौड़ना चाहते हो, वही तुम्हारा शत्रु बनकर तुम्हें चाटूक्तियां कहेगा। हे मूर्ख मनुष्यो! तुम्हें कब समझ आवेगी और अपने भले बुरेको कब पहचानोगे?

कौनसी वस्तु है जो दुःख देती है, कष्ट पहुंचाती है और बोझल प्रतीत होती है? यह भोग विलास और तीव्र इच्छावाली

तामसिक वृत्ति है। इस तीव्र अनुराग मूर्खता और स्वार्थको अपने मन और हृदयसे निकाल दो, फिर तुम्हें अपने जीवनमें कष्ट नहीं पहुंचेगा। बोझ उतार डालनेका तात्पर्य यह है कि अपने भीतरी स्वार्थको तज दो और शुद्ध और पवित्र प्रेमको स्थान दो । तुम अपना काम सच्चे प्रेमसे करने लगो, फिर तुम प्रसन्न और आनन्दमय रहोगे ।

सच पूछो तो मन मूर्खताके कारण अपने लिए आप बोझ उत्पन्नकर लेता है, और इस कारण आप ही दण्ड भोगता है । किसी मनुष्यके भाग्यमें सारी उमर बोझ उठाना नहीं लिखा है और दुःख और कष्ट योंही किसीके सिरपर नहीं आन पड़ते। ये सब अपनी ही बनाई हुई वस्तु है । विवेक मनका राजा है, और जब काम प्रबल हो जाता है, तो आध्यात्मिक राज्यमें खलबली मच जाती है ।

यहां हम दृष्टान्त देते हैं,—एक स्त्री है उसका बड़ा कुनबा है और वह प्रत्येक सप्ताहमें पांच रुपएमें गुज़ारा करती है । अपने घरके सारे कृत्य करती है, कपड़ेतक भी आप ही धोती है अपने रोगी पड़ोसियोंको देखने और उनकी दवा दारू करनेके लिए भी समय निकाल लेती है, और न उधार लेती है न कभी निराश होती है। प्रातःकालसे लेकर राततक प्रसन्न रहती है और कभी अपनी दशापर बुड़बुड़ाती नहीं । वह यह सोचकर आनन्दमें है कि मुझसे औरोंको सुख मिलता है । यदि वह यह सोचती कि और लोग तो छुट्टियां मनाते हैं, सुन्दर पदार्थ रखते है, मैं न रङ्गभूमिमें जाकर नाटक देख सकती हूं, न गाना सुन सकती हूं,

न अच्छी पुस्तकें पढ़ सकती हूं, न लोगोंके साथ मेल जोलकर सकती हूं, मुझे कोई आनन्द नहीं, सारे दिन घरके धंधोंमें ही फंसी रहती हूं और कठिनाईसे अपना और अपने बच्चोंका पेट पालती हूं तो उसका जीना बड़ा दूभर हो जाता।

अब एक दूसरी स्त्रीका दृष्टान्त लो। इसकी निजकी आय बहुत अधिक है, इसे समय और ऐश्वर्य सुखकी भी प्राप्ति है, परन्तु जो इसे अपना कुछ थोड़ासा समय सुख और रुपया किसी अवश्य और शुभ कार्य्यमें लगाना पड़ता है, इसीसे वह सदा दुःखी और बेचैन रहती है। सच है कि जिसमें स्वार्थ है, उसको काम करनेमें आनन्द कहां?

ऊपरकी दो घटनाओंसे क्या यह सिद्ध नहीं है, कि इनमें से कोई घटना भी दुःखदायी नहीं है, और दोनों घटनाएं प्रेम वा स्वार्थकी दृष्टिके अनुसार भली वा बुरी हैं। अर्थात् मनमें ही सब कुछ है, बाह्य घटनामें कुछ भी नहीं रक्खा। सच है मनुष्य अपने मनहीके द्वारा स्वर्गका नरक और नरकका स्वर्ग बना सकता है;—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

जिस मनुष्यने वेद, वेदान्त वा मीमांसाको अभी पढ़ना प्रारम्भ किया है, जब वह यह कहता है "यदि मैं ब्याह न करता और इस प्रकार स्त्री और बाल बच्चोंका बोझ अपने सिर पर न लेता, तो मैं बहुत काम कर सकता था, और जो कुछ मैंने अब सीखा है यदि वह बात मैं बरसों पहिले जानता, तो मैं कभी भी विवाह न करता," मेरे मतमें वह मनुष्य ठीक मार्गपर नहीं है, और जो बड़ा काम

वह करना चाहता है उसे करनेके लिये असमर्थ है । क्योंकि यदि किसी मनुष्यको अपने भाइयोंसे इतना गहरा प्रेम है कि वह उनके लिये कुछ बड़ा काम करना चाहता है, तो वह इस अपने प्रेमको सदा और प्रत्येक दशामें रहकर प्रकट कर सकता है ।

सच पूछो तो बोझ थोड़ा ही थोड़ा करके इकट्ठा होता है और धीरे २ ही उसका भार बढ़ता जाता है । देखो ! विना विचारे काम करने, अन्धे अनुरागमें वार २ फँसने, अपवित्र विचारको हृदयमें स्थान देने, कठोर शब्द वा वचन बोलने, मूर्खताका काम वार २ करने और इसी प्रकार वहुतसे बुरे काम करनेका भार दुःसह और कष्टदायी हो जाता है । पहले पहल और कुछ काल तक तो यह भार प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह भार दिन २ बढ़ता जाता है और कुछ कालके अनन्तर यह इकट्ठा भार बड़ा दुःसह और भारी प्रतीत होने लगता है जब कि हम अपने स्वार्थका फल चखते हैं और हमारा हृदय इस कष्टदायक जीवनसे दुःखी हो जाता है । इस समय मनुष्यको चाहिये कि अपनी दशापर भली भांति विचार करे और इस बोझको उतारने अर्थात् इस कष्टको निवारण करनेकी अच्छी रीति ढूंढ़े । और इस रीतिके ढूंढ़नेके अनन्तर वह प्रज्ञा, पवित्र और प्रेमको विदित कर लेगा जिससे वह भली भांति जीवन व्यतीत करेगा, सुखसे रहेगा और उत्तमताईसे बर्तेगा । और इस कष्ट और भारको दूर करके फुर्तीसे काम करेगा और दिन रात आनन्द से बिताएगा ।

(ज) दान ।

दान देने वा दूसरोंको लाभ पहुंचानेकी आठ सीढ़ियां क्रम-सहित निम्नलिखित रीतिसे वर्णन की गई हैं ।

पहली और सबसे निचली सीढ़ी यह है, दान देना पर इच्छा-से न देना, अर्थात् हाथसे देना पर हृदयसे न देना ।

दूसरी सीढ़ी यह है–प्रसन्नतापूर्वक दान देना, परन्तु दुःखी पुरुषके कष्ट वा विपद्के अनुसार दान न देना ।

तीसरी—प्रसन्नतापूर्वक और कष्टके अनुसार दान देना, पर विना मांगे न देना ।

चौथी—प्रसन्नतापूर्वक, कष्टके अनुसार और मांगनेसे पहले ही दान देना पर दरिद्रीके हाथमें आप देना और सबके सामने देना, जिससे उसे लज्जाका दुःख सहना पड़े ।

पांचवीं—इस प्रकार देना कि दुःखी मनुष्य दान ले लें और उन्हें देनेवालेका पता विदित न हो । कितने एक पूर्वले पुरुष अर्थात् हमारे पिता और पितामह अपनी चादरके पिछले अंचल वा दुपट्टेके पल्लेमें रुपया बाँध दिया करते थे इस लिए कि द-रिद्री जन उसे अलक्षित रीतिसे खोलकर ले लें ।

छठी सीढ़ी—जो इससे कुछ बढ़कर है यह है कि जिनको हम दान देते हैं उनको तो जान लेना परन्तु अपने आपको उन्हें न जताना ।

सातवीं—इस प्रकार दान देना कि दाता और ग्रहीता दोनों-मेंसे कोई किसीको न जाने । प्रायः करके कहीं २ मन्दिरोंमें गुप्त स्थान होता है वहांपर भले और सज्जन पुरुष कुछ द्रव्य, जो

उनका जी चाहे चुपकेसे रख देते हैं और इस द्रव्यसे दरिद्रों-का पालन पोषण होता है और उन्हें भी यह प्रतीत नहीं होता कि कौन उनका पालन पोषण करता है। हम आगे जाकर इस विषयमें एक कहानी लिखेंगे। इसीको गुप्तदान महादान भी कहते हैं।

आठवीं—सबसे पिछली और अत्युत्तम सीढ़ी यह है कि दान-का ऐसा प्रबन्ध करना जिससे दरिद्रता आने ही न पाए, अर्थात् जिस भाईपर विपत् पड़ी है उसकी इस प्रकार सहायता करना कि उसको कुछ व्यापार सिखा दें या उसे किसी काममें डाल दें, जिससे वह निष्कपटतासे परिश्रम करके आप अपनी जीविका और उदरपूरणा कर सके और उसे दान लेनेके लिये दूसरोंके आगे हाथ पसारना न पड़े। वस्तुतः सर्वोत्तम दान इसीको कहते हैं। इसीलिये हमारा सबका यह कृत्य है कि दीन मनुष्यों, याचकों, भिखारियों और विधवा और दुःखी स्त्रियोंको काम सिखावें और अन्धों और अपाहजोंके लिये भी यथायोग्य काम सिखानेका प्रबन्ध करें और हट्टे कट्टे आज कलके साधुओंको भी पढ़ने लिखने धर्मोपदेश देनेमें प्रवृत्त करें, जिससे सबका उपकार हो और सारे संसारका उद्धार हो।

हे परम पिता, परमेश्वर, परमात्मा! ऐसी कृपा कर कि हम सब उत्तम २ कार्य्य करनेमें प्रवृत्त हों, अपने आचरण और शील सुधारें, एक दूसरेकी सहायता करें, और तेरे परम भक्त होकर तेरे गुणानुवाद सदा गाते रहें।

(झ) उत्तम शिक्षा। (गुप्त दान महादान)

हमारे एक विश्वविद्यालयमें एक युवा विद्यार्थी एक आचार्य्य-के साथ बाहर जा रहा था। यह आचार्य विद्यार्थियोंका मित्र कहलाता था। क्योंकि जो इससे किसी प्रकारकी शिक्षा ग्रहण करने आते थे, उनसे यह बड़ी दयालुतासे बर्तता था और उनका हित चाहता था। जब वे दोनों चले जा रहे थे, उन्होंने मार्ग-में एक पुरानी जूतियोंका जोड़ा पड़ा देखा और विचार किया कि यह जोड़ा किसी दीन दरिद्री वा धनहीन मनुष्यका है जो पास-के खेतमें काम कर रहा है और जो अपना दिनका काम लग-भग पूरा कर चुका है।

विद्यार्थीने आचार्यसे कहा "आओ हम इस मनुष्यसे दाव खेलें, अर्थात् हम इसकी जूतियां छुपा देते हैं और आप इन झा-ड़ियोंकी ओझलमें हो जाते हैं। फिर वहां खड़े होकर यह देखेंगे कि जब वह मनुष्य यहां आकर अपनी जूतियां न देखेगा, तब कैसा घबरायगा" आचार्यने उत्तरमें यह कहा, "हे मित्र! हमें दीनों और निर्धनोंसे कभी ऐसी हंसी नहीं करनी चाहिये जिसमें उनको कुछ हानि पहुंचे। देखो! तुम तो धनवान् हो और इस निर्धनके कारण तुम इस प्रकार काम करनेसे और भी अधिक हर्ष लाभ कर सकते हो। अर्थात् प्रत्येक जूतीमें एक २ अठमाशी या अशरफी डाल दो और फिर देखो कि अशरफी देखकर इस निर्धनकी क्या दशा होती है"। विद्यार्थीने ऐसा ही किया और फिर वे दोनों पास ही झाड़ीके पीछे छुप कर खड़े हो गए।

वह निर्धन शीघ्र ही अपना काम पूरा करके खेतके उस मार्गमें आया जहां यह अपना कोट और जूतियां उतार कर रख गया था। कोट पहनते समय पहले उसने एक जूतीमें पैर रक्खा, परन्तु किसी कठिन वस्तुके लगनेसे वह उसे टटोलनेके लिये झुका और उसे एक अशरफी मिली। फिर तो उसके मुखपर आश्चर्य और विस्मयके चिह्न प्रकट हुए। उसने उस मोहरको गाढ़ दृष्टिसे देखा, उलट पुलट किया और बार २ ध्यान देकर देखा। फिर उसने अपने चारों ओर देखा, पर कोई मनुष्य दिखाई न दिया। अब उसने अशरफी अपनी पाकटमें डाल ली और फिर दूसरी जूती पहनने लगा, परन्तु दूसरी अशरफी देख कर तो उसे और भी अधिक आश्चर्य हुआ।

अब उसका जी हर्ष और कृतज्ञतासे भर आया। घुटनोंके बल होकर उसने ऊपर आकाशकी ओर देखा और बड़े उत्साहसे ईश्वरका धन्यवाद किया। इस प्रार्थनामें उसने अपनी रोगी और दीन स्त्रीका वर्णन किया और यह भी कहा कि मेरे बालक भूखे हैं, वे सब इस यथासमयके दानद्वारा, जो किसी अनजाने मनुष्यने कृपा करके दिया है, मरनेसे बच जाएंगे। परमात्मा उसका भला करे।

विद्यार्थीपर इस बातका बड़ा प्रभाव पड़ा और उसकी आखोंमें आंसू भर आए। तब आचार्यने कहा—यह बताओ कि तुम अब अधिक प्रसन्न हुए या अपना दाव खेलकर अधिक प्रसन्न होते? विद्यार्थीने कहा—मैं आपकी शिक्षाको कदापि नहीं भूलूंगा। अब यह निम्नलिखित वाक्य भली भांति मेरी समझमें आ गया,

जिसे मैं पहले नहीं समझा था कि;—'लेनेकी अपेक्षा देना बढ़ा लाभकारी और सुखदायक है।"

(ञ) संतोष।

निस्संदेह बहुतसे मनुष्योंका यह विचार है कि संतोष केवल संकल्पमात्र है, और वस्तुतः कोई सत्य पदार्थ नहीं, क्योंकि वर्षों संतोषका पीछा किया फिर भी वह हाथ न आया।

ऐसे भी मनुष्य हैं जिन्होंने रुपयेके लिए सब कुछ खो दिया, इस आशासे कि अन्तमें हमें संतोष प्राप्त होगा, परन्तु जब उन्होंने अपने शेष जीवनको सुखसे व्यतीत करनेके लिए पर्याप्त धन इकट्ठा कर लिया तब भी उन्हें संतोष न आया, वरन पहलेसे अधिक असंतोषी हो गए। उनका धन व सुवर्ण उनके लिए ऐसा हुआ जैसे कि प्यासे मनुष्यके लिए खारी जल—अर्थात् जितना अधिक धन हुआ उतनी ही उनकी प्यास वा धनोपार्जनकी कामना बढ़ती गई। और मनुष्योंने इसके विपरीत सम्पूर्ण धनका त्याग कर दिया, सामाजिक जीवनसे अलग होकर लोगोंसे मिलना जुलना छोड़ दिया, केवल धार्मिक रीतियोंमें प्रवृत्त होकर नियम और व्रत रखने लगे, और जप तप करने लगे, इस आशासे कि इसप्रकारसे तो संतोष अवश्य मिलेगा; पर अन्तमें उन्होंने यह विदित कर लिया कि हमने भी ऐसी ही भूल की है जैसी कि धन इकट्ठा करनेवालोंने की थी।

अब प्रश्न यह है कि संतोष कहां मिल सकता है? धन उसे मोल नहीं ले सकता, ढूंढ़नेसे वह मिल नहीं सकता, जप तपसे

वह हाथ नहीं आता, तो फिर क्या वह विद्यमान है? हां! एक संतोषी मनुष्य था जो यह कह सकता था कि मैंने प्रत्येक दशामें संतुष्ट रहना सीख लिया है। वह इस लिए संतुष्ट था कि वह जानता था कि सारी वस्तुएं मिलकर भलेके लिए काम करती रहती हैं, अर्थात् जो कुछ होता है सब भलेके लिए ही होता है। यही नीव है जिसपर 'संतोषरूपी मन्दिर' बनना चाहिये,—अर्थात् एक दृढ विश्वास कि इस सकल ब्रह्माण्डमें प्रेम और प्रज्ञाका राज्य है और जो शक्ति सबपर शासन करती है वह एक श्रेष्ठ शक्ति है। जब मनकी यह भावना हो जाए, तब नीव पड़जाती है और जो लोग ऐसी नीवपर गृह बनाएंगे, उनके गृह वा प्रासाद शान्तिमय बनेंगे।

इससे यह न समझना कि जो मनुष्य संतुष्ट है, वह आगे उन्नति नहीं कर सकता और न उसमें किसी प्रकारकी मनोकामना और उच्चपदकी आकांक्षा रही। ऐसी अवस्थाका नाम तो स्थिरता वा निश्चलता है। संतोषके यहांपर इससे अधिक विस्तृत अर्थ लिए गए है। शुभ [धर्म] सत्य और सौन्दर्यकी कामना कभी नहीं घटनी चाहिये, उच्चपदको प्राप्त करनेका यत्न कभी नहीं छोड़ना चाहिये। जब एक मनुष्यने प्रत्येक दशामें संतुष्ट रहना सीख लिया है या यह कहो कि जब एक मनुष्य अपने आपको सारी घटनाओंके अनुसार बना सकता है, तो फिर मनको शान्त रखनेके लिए किसी विशेष घटनाकी आवश्यकता नहीं, फिर इस बातका भी भय नहीं रहा कि उन्नतिसे संतोष जाता रहेगा। ऐसी भीतरी रमणीय दशा वा अध्यात्मज्ञान प्राप्त करनेसे हमें उन्नतिकी ओर अधिक प्रेरणा होती है। यदि

हमारी बाह्य घटना न बदले, तो फिर हमें किस प्रकार विदित हो कि हम इस उच्चपदको पहुंच गए हैं? यदि हम दशा परिवर्तन-को अनुभव न करें, तो फिर कौनसी वस्तु है जिससे हमारी परीक्षा हो सके कि हम सारी अवस्थाओंमें शान्त संतुष्ट रहते हैं।

आलस्य, उदासीनता, हर्ष, विषयासक्ति आदिमें संतोष नहीं है ये सब असन्तोषके कारण हैं। ये झूठे सिद्ध हैं, जो प्रतिज्ञा कुछ करते हैं और देते कुछ और हैं। जो मनुष्य यह सोचते हैं कि जो मनकी भावना हमने ऊपर वर्णन की है संतोष उस से कोई अलग वस्तु है, उससे वे धोखेमें पड़े हुए हैं और मानो मूर्खताके मन्दिरमें विश्राम कर रहे हैं और कभी न कभी अ-पनी भूलको जान लेंगे। पुण्य, उपकार वा भलाईहीमें सब प्रकारकी शक्ति है, यदि इस मतमें दृढ विश्वास रक्खा जाय तो इससे परम ज्ञान प्राप्त होगा और मूर्खता जाती रहेगी।

यह कहावत प्रसिद्ध है कि "संतोषी नित्य सुखी।" जिन लोगों-का यह विश्वास है कि सारी वस्तुएँ मिल कर भलेके लिए काम कर रही हैं, उन्हें सर्वत्र भलाई ही भलाई दीख पडती है। विषमें भी अमृतकी धाराएं मिली हुई भासती हैं और बादलोंमें भी चाँदीकी सी श्वेत झलक दिखाई देती है। यह लोग सदा शुभ-चिन्तक हैं।

सुना है कि कुछ लोग ऐसे भी हैं कि जब तक वे असन्तुष्ट न हों तब तक वे प्रसन्न नहीं होते। यदि ऐसे मनुष्य हैं तो उन्हें अपने आपसे असन्तुष्ट रहना चाहिए न कि अपनी बाह्य अव-स्थाओं वा घटनाओंसे। कौन जाने कि यदि वह अपने आप-

को बदल दें तो उनकी बाह्य घटनाएं भी बदल जाएं । सम्भव है कि उनकी बाह्य अवस्थाएं वा घटनाएं चाहे वे कैसी ही विरुद्ध हों उनकी भीतरी दशासे इतना गाढ़ सम्बन्ध रखती हों कि यह घटनाएं उनके सुधारके लिए आवश्यक हैं और उनको अन्त-में यह बात विदित हो जायगी कि ऐसी घटनाओंका होना हमारे सुधारनेके लिए अवश्य था।

संतोष प्राप्त करनेके लिए यह भी अवश्य है कि हम चित्त-में किसी प्रकारका संभ्रम वा संशय न लाएं, क्योंकि जब हम दुबिधामें होते हैं तो हमारे भीतर कलह होता रहता है, और हम शान्तिरूपी जलमें हल चल मचाया करते हैं और यदि इस संभ्रम-को दूर न किया जायगा, तो शान्तिरूपी समुद्रकी गहराइयोंके भीतरसे असन्तोषका भयानकरूप जलके ऊपर दिखाई देगा। इस विह्वलता और संभ्रमसे बचनेके लिए मनुष्यको चाहिये कि अपने विचार और स्वभावमें सदा सरलता और निष्कपटता-के अटल नियम बर्तें।

असन्तोषका एक बड़ा भारी कारण यह है कि हम यह सो-चते रहते हैं कि और लोग हमारे विषयमें क्या कहते होंगे। यदि मैं सीधे मार्गपर चल रहा हूं और ऋजुतासे काम ले रहा हूं, तो मुझे इस बातकी क्यों चिन्ता होनी चाहिये कि मेरे पड़ौसी मेरे विषयमें क्या कहते होंगे? लोगोंके मत और वि-चार सदा बदलते रहते हैं परन्तु हमारे चाल चलन वा शीलके विषयमें ईश्वरकी जो न्यायपूर्वक सम्मति है वह तो हमारे ही बदलनेसे बदल सकती है। इस लिए मनुष्योंकी सम्मतियोंसे

बढ़कर ईश्वर परमात्मापर ही भरोसा रक्खूंगा और जो काम उसको पसन्द होगा, वही करूंगा।

संतोषी मनुष्यके पास ईर्षा विरोध द्वेष और क्रोध कदापि नहीं फटकते; यद्यपि ये उसके हृदयके पास आकर उसके भीतर प्रवेश करना चाहें तथापि वह दृढमति होकर इनको स्वीकार नहीं करता, क्योंकि यदि ये एक वार भी संतोषरूपी गृहमें प्रविष्ट हो जाएं, तो इनके रहते समय शान्ति कहां? पर यदि विश्वास आशा और प्रेम भीतर उपस्थित हैं तो फिर इन विना बुलाये आनेवालोंसे कुछ भी खेद न होगा।

संतोष बड़ी उत्तम वस्तु है, इससे स्त्री पुरुषोंके चरित्र बड़े शोभायमान हो जाते हैं। उनके मुखोंपर तेज और उनके जीवनमें मनोहारिता प्रतीत होती है। उनके वाक्यमें बड़ी शान्ति भासती है और इससे उनकी भीतरी शान्ति प्रकट होती है। उनके रूपसे भी शान्ति बरसती है, वे उन्मत्तोंकी नाईं संकेत नहीं करते और न घबराकर बातें करते हैं। वे बनावटी कष्ट और दुःखकी बातें सुनाकर इतर जनोंके वृथा कर्णछेद नहीं करते, वरञ्च जो लोग उनको जानते हैं उन सबके लिए वे बड़े आनन्ददायी और ब्रह्मस्वरूप हैं।

(ट) सहानुभूति।

जब तक कि हम अपने आपको वशमें न कर लें, स्वार्थको न छोड़ दें, विद्वेष और अभिमानको न त्याग दें, और जब तक हम अपनी ही बड़ाई और रक्षाका ध्यान रखते हैं, तब तक हम

दूसरोंके दुःख सुखमें अंश नहीं ले सकते। सहानुभूति इसीमें है कि हम आपेको भूल जाएं और दूसरोंका ध्यान रक्खें।

दूसरोंके साथ उनके दुःख सुखको अनुभव करनेके लिए यह अवश्य है कि पहले हम उनको अच्छी तरह जानें, अपने आपको कल्पनाशक्ति द्वारा उनकी अवस्थामें प्रवेश कर सकें, उनके साथ एक हो जाएं और उन्हींकी मानसिक दृष्टिसे देखें। मनुष्य एक दूसरेके अभिप्रायको भले प्रकार नहीं समझते, इस लिए वे एक दूसरेको बुरा कहते हैं और उससे अलग रहना चाहते हैं।

जीवन बराबर बढ़ता और उन्नति करता रहता है और पापी और धर्मात्मामें वस्तुतः कोई भेद नहीं है, केवल पदका अन्तर है। धर्मात्मा पहले किसी कालमें पापी था, और पापी किसी न किसी दिन धर्मात्मा बन जाएगा। पापी अभी बालक है; धर्मात्मा बड़ा मनुष्य है। जो मनुष्य पापियोंसे अलग होना चाहता है इस विचारसे कि वे दुष्ट हैं और उनसे अलग रहना अच्छा है, तो वह ऐसे मनुष्यके समान है जो छोटे बच्चोंसे मिलना नहीं चाहता, क्योंकि वे मूर्ख और उद्धत हैं और खिलौनोंसे खेलते रहते हैं।

जब मनुष्य विषयभोगकी इच्छासे रहित हो जाता है और स्वार्थ और अपनी आत्मश्लाघामय इच्छाओंको वशमें कर लेता है, तब वह सब प्रकारके पाप कष्ट और दुःखोंके मर्मको जानता है और नीतिसम्बन्धी भीतरी नियमको पूरा २ समझता है। अपने आपेको सर्वथा वशमें कर लेनेसे पूरा २ ज्ञान और पूरी २ सहानुभूति प्रकट होती है, और जो पुरुष इतर जनोंको शुद्ध हृदयसे देखता

है वह उनकी अवस्थापर करुणादृष्टिसे विचार करता है, उनको अपना ही अंश समझता है और अपनेसे भिन्न और अपवित्र नहीं समझता, वरञ्च अपना ही आत्मा जानकर यह कहता है कि वे भी मेरी ही तरह पाप कर रहे हैं, कष्ट उठा रहे हैं और दुःख भोग रहे हैं और इसपर भी यह जानकर प्रसन्न होगा कि वे भी अन्तमें मेरी तरह पूर्ण शान्तिको प्राप्त करेंगे।

सहानुभूति परम सुख है; इसमें उत्तम श्रेय विद्यमान है। यह स्वर्गीय अवस्था है, क्योंकि इसमें स्वार्थ नष्ट हो जाता है और दूसरोंके साथ शुद्ध सुख और आध्यात्मिक आनन्द अनुभव करते हैं। जिस समय कोई मनुष्य सहानुभूति करना छोड़ देता है, तो यह जानो कि अब उसमें जीव नहीं रहा मानो वह मरेके समान है और देखना समझना और जानना भी छोड़ देता है'।

यह भी याद रक्खो, सहानुभूतिकी आवश्यकता धर्मात्माओं और सन्तोंको नहीं होती। आवश्यकता पापियों, मूर्खों और विकलोंहीको होती है अर्थात् उन लोगोंको जिन्होंने पाप करके बहुत कुछ कष्ट सहा है और चिरकाल तक दुःख उठाया है।

सहानुभूति कई प्रकारसे प्रगट हो सकती है:—उसका एक प्रकार करुणा है, अर्थात् जो लोग कष्ट या दुःखमें ग्रस्त हैं उनपर दया करना इस आशयसे कि उनका दुःख थोड़ा हो जाए या वे उस दुःखको सह सकें। यह जब ही हो सकता है कि मनुष्य निष्ठुरता, क्रोध और वृथा दोषारोपणको अपने हृदयसे दूर कर दे और दया और करुणाभाव रक्खे।

सहानुभूतिका एक और प्रकार यह है कि जो लोग अपने

कामों और मनोरथोंमें सफल हुए हैं, हम भी उनके साथ प्रसन्न हों मानो उनकी सफलता हमारी ही सफलता है । अर्थात् दूसरों-को अच्छी अवस्थामें देखकर वा सुनकर प्रसन्न हों और किसी प्रकारका द्वेष और ईर्ष्या न रक्खें ।

तीसरा प्रकार यह है कि जो अपनेसे दुर्बल हैं और अपने आपको बचा नहीं सकते उनकी रक्षा करना। देखो जो प्राणी और जन्तु गूंगे हैं और अपने भाव जिह्वासे प्रकट नहीं कर सकते उन बेचारोंकी रक्षा करना परम धर्म है । हमें सामर्थ्य और शक्ति इस लिए दी गई है कि दुर्बलोंकी रक्षा करें न कि उनको मार डालें। प्राण सबमें एक हैं चाहे छोटा प्राणी हो चाहे बड़ा, इस लिए जीवमात्रकी रक्षा करनी उचित है ।

दूसरोंपर सहानुभूति दिखानेसे हम औरोंकी सहानुभूतिको अपनी ओर आकर्षण करते हैं । सहानुभूति करना कभी वृथा नहीं जाएगा । यदि नीचसे नीच प्राणीपर भी सहानुभूति करोगे, तो उससे भी तुम्हें लाभ पहुंचेगा । मैंने कारागारमें एक अप-राधीकी सच्ची कहानी सुनी है। यह अपराधी बड़ा ही निर्दयी और कठोर हृदय था, उसके संशोधनकी कोई आशा नहीं रही थी और कारागारवालोंने भी उसे दुर्दम्य और दुर्दान्त समझ रक्खा था । एक दिन इसी अपराधीने एक डरपोंक और डरी हुई चूही-को पकड़ लिया और उसकी बेबसीकी अवस्था देखकर उसके मनमें दया आगई । और पहले कभी मनुष्योंको देखकर उसके कठोर हृदयमें ऐसी दया उत्पन्न नहीं हुई थी ।

उसने चूहीको अपनी कोठड़ीके भीतर एक पुरानी जूतीमें

रक्खा, वहीं उसको खाना खिलाता रहा और पानी देता रहा। वह उसे बड़ा प्यार करने लगा। इस प्रकार वह दुर्बल और विवश जनोंको प्यार करने लगा और प्रबल जनोंकी ओर उसका द्वेष जाता रहा। अब वह अपने हृदय और अपने हाथसे अपने भाइयोंका बुरा न चाहकर, भला चाहने लगा। वह अतीव वश्य और आज्ञाकारी हो गया। सब उसके इस परिवर्तनपर आश्चर्य करने लगे। उसका रूपरंग भी बदल गया, वह हंसमुख हो गया, अब उसकी आकृति भयानक नहीं रही, उसके मुख और आंखोंसे करुणा और दया बरसने लगी। अब वह अपराधी नहीं रहा और उस के हृदयके भाव शुद्ध और पवित्र हो गए। जब वह कारागारसे छूटा तब उस चूहीको अपने साथ ले गया।

(ठ) सहानुभूति और निष्काम परोपकारमें ही सुख है।

कहते हैं कि जब युधिष्ठिर स्वर्गमें आए, तो विस्मित होकर इधर उधर देखने लगे। पर वे प्यारी आकृतियां जो संसारमें उनकी मित्र थीं अर्थात् नकुल, सहदेव, भीम, अर्जुन आदि कोई भी दिखाई नहीं दिया। इतनेमें दुर्योधन दिखाई पड़ा। युधिष्ठिरको आश्चर्य हुआ कि जिस मनुष्यके कारण महाभारतमें बहुतसे लोग मारे गए, और सारा भारत नष्ट हो गया और जो राज्येक बिगाड़ने, कुटुम्बियोंके मरवा डालने और करोड़ों शूरवीर राजपूतोंके सिर कटवानेका मूल कारण हुआ था, वह यहां भी उपस्थित है। यह देखकर राजाने घृणासे अपनी दृष्टि उस ओरसे फेर ली और कहा "मैं वहां जाना चाहता हूं जहां अर्जुनादिक हैं"। नारद ऋषिने मुसकराकर कहा,—"हे राजन्! यह

आपकी भूल है; यह स्वर्ग है, यहांपर मित्रता और शत्रुताके सम्बन्ध दूर हो जाते हैं और दुर्योधन रणभूमिमें मारे जानेके कारण स्वर्गमें आया है"। युधिष्ठिर बोले "यह सब ठीक है; पर मैं अपने भाइयोंके साथ रहना चाहता हूं। बताइये, कर्ण कहां है, द्रौपदी कहां है, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव कहां हैं, विलम्ब न कीजिए; मुझको वहां ले चलिये, मेरी आंखोंको उन प्यारी आकृतियोंको देखकर सुख मिलेगा। मै सच कहता हूं, मैं यहां न ठहरूंगा; यदि मेरे भाई साथ नहीं हैं, तो यह स्वर्ग भी मेरे लिए स्वर्ग नहीं है"।

देवताओंने एक दूतको आज्ञा दी कि, जाओ इनको इनके प्यारे मित्रोंके पास ले जाओ। युधिष्ठिर उस दूतके साथ चल पड़े।

रास्तेमें कुछ भी दिखाई नहीं देता था और बड़ा अन्धेरा छाया हुआ था यहां तक कि हाथको हाथ नहीं सूझता था। ज्यों २ वे आगे बढ़े चले गए, त्यों २ अन्धेरा और भी बढ़ता जाता था। पैरों तले मनुष्योंकी खोपरियां पड़ी हैं, सड़े हुए शवोंसे अत्यन्त दुर्गन्ध आ रही है, धरती रुधिरके कारण चिकनी हो गई है, प्रतिक्षण पैरोंके फिसलनेका डर है। कहीं तो नुकीले कांटे हैं कहीं चुभनेवाली पैनी झाड़ियां हैं, कहीं झुलसनेवाली रेत है और कहीं अंगारोंकी नांई उष्ण पत्थरोंके टुकड़े पैरोंके नीचे आते हैं। युधिष्ठिर बहुत घबरा गए और कहने लगे,—"यहां सांस घुटता है और दुर्गंधके मारे प्रकृति घबरा गई है"। दूत बोला,— "मुझे केवल यहां तक आनेकी आज्ञा थी; यदि आपकी इच्छा हो या आप घबरा गए हों तो उलटे चलिये"।

युधिष्ठिरका हृदय वशमें नहीं रहा था, उन्होंने मुंह फेर

लिया; पर अभी कठिनतासे उनको आगे बढ़नेका अवसर मिला होगा कि मृत्युकी हाय २ उनके कानमें आई और रोने चिं-ल्लानेका शब्द सुनाई दिया—"महाराज! तनिक ठहर जाओ! हे धर्मात्मा! आपके शरीरके हर्षदायक पवनके झोकोंसे हमको सुख मिला है। हम महाकष्टमें पड़े हैं। हमारे दुःखोंका यहां कोई अन्त नहीं है। हम महादुःखी हैं। हाय! हमने संसारमें जो बुराइयां की थीं, उनका कैसा बुरा दण्ड मिल रहा है। आपके आनेसे तनिक सुख मिला है और कुछ चैन आया है, क्योंकि आप धर्मात्मा हो। आपके शरीरकी भांपसे हमको ठंडक पहुंच रही है। महाराज! दया करो, कुछ कालके लिए ठहर जाओ, आपके कारण हम दीनोंको शान्ति प्राप्त हुई है"।

धर्मात्मा और दयालु युधिष्ठिर खड़ा हो गया और प्रेम और दयाके भावसे पूछने लगा,—"हे दुःखसे सताए हुए लोगो! तुम कौन हो"? भिन्न २ प्रकारके शोक भरे शब्द कानमें सुनाई दिए,—"महाराज! मैं कर्ण हूं, मैं भीम हूं, मैं अर्जुन हूं, मैं नकुल हूं, मैं सहदेव हूं, मैं द्रौपदी हूं, हम द्रौपदीके पुत्र हैं"।

"हे परमात्मन्! इन निरपराधियोंने क्या अपराध किया था? स्वर्गमें भी यह अन्धेर कि दुष्ट दुर्योधन तो सुख भोगे और ये साधु जन इस प्रकार दुःख उठाएं"। शोक क्रोध और आश्चर्य-ने एक २ करके राजाके हृदयपर आक्रमण किया। युधिष्ठिरने तेवर बदलकर दूतसे कहा,—"अभी उन देवताओंके पास लौट जा, जिनका तू दूत है और उनसे स्पष्ट कह दे कि मेरे भाइयोंको मेरे यहां रहनेसे सुख मिलता है, इस लिए मैं यहां ही रहूंगा। मुझे अपने सुखकी चिन्ता नहीं है। ये दुःखसे

सताई हुई आत्माएं मेरे यहां रहनेसे शान्ति पाती हैं, इस लिए मैं यहांसे पीछेको नहीं मुड़ूंगा और यही रहूंगा"।

वाह री भक्ति और श्रद्धालुता! इस निर्भय पुरुषार्थको धन्य है। इस आत्मत्याग इस निष्काम प्रेम और इस सच्चे पुरुषत्वकी कोई क्या महिमा वर्णन कर सकता है।

उसी समय एक बड़ा भारी शब्द हुआ, अन्धेरा जाता रहा, चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश हो गया, न कहीं दुर्गन्ध है न कहीं कांटे हैं, हर्षमें मग्न होकर देवता राग गाने लगे और इन्द्र अपने दिव्य मित्रोंको साथ लिए हुए वहां आकर उपस्थित हो गया और शान्तिदायक शब्दोंमें कहने लगा,—"हे मृत्युंजय युधिष्ठिर! यह नरकका दृश्य केवल भ्रम था, इसकी कोई सत्ता नहीं है। तुमने कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें अपनी इच्छाके विरुद्ध झूठ बोला था जिस कारण द्रोण मारा गया था। यह अचिरस्थायी नरकका दृश्य केवल तुमको उस थोड़ेसे झूठ बोलनेके कारण देखना पड़ा। अब आप मंगल मनाइये, चलिये सच्चे स्वर्गमें ठहरिये जहां आपके सारे भाई अपने कर्मोंका सुख भोग रहे हैं"।

इससे विदित हुआ कि नरक और स्वर्ग क्या हैं। जहां मनुष्यसम्बन्धी सहानुभूति प्रचुर कार्य करती है, वहां स्वर्ग होता है; जहां स्वार्थपरता होती है, वहां नरक रहता है। जो लोग बुरी बानको छोड़कर सबके लिए सहानुभूति रखते हैं, वे केवल आप ही स्वर्गमें नहीं जाते वरञ्च स्वर्गमें दूसरोंको भी जगह देते हैं। और केवल आप ही मृत्युपर जयी नहीं होते वरञ्च

उनके कारण औरोंको भी अमृतत्वका पद प्राप्त होता है । धन्य हैं वे पुरुष जो इस प्रकारके गुणोंसे युक्त हैं ।

(ड) सबसे प्रेम रखना और बुरी संगतिसे बचना ।

बुद्धिमान् और सिद्ध पुरुषोंकी सदासे यही शिक्षा रही है और संसारके सारे धर्म भी यही शिक्षा देते चले आए हैं कि हमें सबके साथ प्रेमभाव रखना चाहिये और साथ ही बुरे पुरुष और बुरी स्त्रियोंसे बचना चाहिये । ये दोनों बातें एक दूसरेके विरुद्ध नहीं हैं वरञ्च अनुकूल हैं ।

सबके साथ प्रेम रखनेसे निरा भाव ही अभिप्रेत नहीं है वरञ्च प्रेमकी व्यावहारिक रीति भी अनुगत है और भलाई करने और प्रेमकी व्यावहारिक रीतिके लिए यह अवश्य है कि बुराई और द्वेषसे बचें ।

जिस मनुष्यमें हमारा प्रेम है यदि हम उसके भले या बुरे कामोंका विचार न करें तो उस मनुष्यके विषय हमारा निरा प्रेमभाव चाहे जब द्वेषमें बदल सकता है और सम्भव है फिर हम उससे घृणा करने लगें । इस प्रकारके भावमें दूसरे मनुष्यकी भलाई और उसके सुधारका विचार नहीं किया जाता वरञ्च अपने ही भावकी तुष्टिका ध्यान रक्खा जाता है परन्तु प्रेमके दृढ नियममें दूसरे मनुष्यकी भलाईका अवश्य विचार किया जाता है और यदि हम बुरे मनुष्यके साथी हो जाएं और उससे प्रीतिभाव रखकर भी उसे बुरे काम करनेसे न रोकें वरञ्च बुरे काम करने दें तो यह गाढ़ प्रीति नहीं है और दृढ प्रेम करनेके सच्चे नियमके विरुद्ध है ।

बुरे मनुष्योंसे बचनेमें एक और भी बात है और वह बात वस्तुओंमें योग्यताका स्पष्ट रीतिसे जान लेना है। कई एक मूल पदार्थ ऐसे हैं कि स्वभावहीसे उनका रसायनसंयोग हो नहीं सकता; इस लिए उन्हें मिलानेका यत्न करना केवल मूर्खता है। इसी प्रकार कई एक आध्यात्मिक मूल पदार्थ भी ऐसे हैं जो आपसमें मिल नहीं सकते और उनके संयोगका यत्न करना मूर्खता-का द्योतक है। भलाई और बुराई पुण्य और पाप, राग और द्वेष, पवित्रता और अपवित्रता, शुद्धि और अशुद्धि, ये सदासे विरुद्ध और पृथक् हैं। इनका संयोग असम्भव है। सम्भव नहीं कि ये आपसमें एक हो जाएं मिल जाएं और एक दूसरेके सहायक हों। इस लिए पवित्र और महात्मा मनुष्यका अपवित्र और दुरात्माके साथ मेल नहीं हो सकता। इनमें मेल तब ही हो सकता है जब कि सज्जन दुष्ट बन जाए या दुष्ट सज्जन हो जाए।

बुरे मनुष्यके पछताने और सुधर जानेका एक सबसे पक्का चिन्ह यह है कि वह अपने पहले साथियोंकी संगति सर्वथा छो-ड़ दे। जब कोई मनुष्य मद्यपानकी बुरी बानका त्याग कर देता है तो वह फिर कभी मदिरागृहमें अपने मदिरा पीनेवाले स-ङ्गियोंके साथ नहीं दिखाई देता। यही दशा प्रत्येक प्रकारकी बुराईकी है अर्थात् जब हम किसी बुराईसे बचते हैं तो उस बुराईके करनेवालोंसे भी परे रहते हैं। यह कहावत प्रसिद्ध है कि "जैसेको तैसा मिलता है," और "रुपयेको रुपया खें-चता है" और बुरे और भले पुरुषोंमें परस्पर मेल हो नहीं सकता।

यह एक बड़ी उत्तम बात है कि जो कोई पवित्र जीवन व्य-तीत करना चाहता है उसे कदापि दुष्टोंकी संगतिमें नहीं रहना

चाहिये। उसे अपवित्र और पापी मनुष्योंके पास उन्हें लाभ पहुं-चानेके लिए भी नहीं जाना चाहिये जबतक कि वह आप ऐसा पवित्र और दृढ न बन जाए कि बुरी संगतिके वशमें न आ-सके और बुरेका प्रभाव तनिक भी उसपर न पड़ सके वरञ्च बु-राई और पापको सर्वथा दूर कर दे। उसे भले और सज्जन पुरुषों-की ही संगतिमें रहना चाहिये इस लिए कि वह उनके उत्तम प्रभावके कारण बहुत शीघ्र उन्नति कर सके।

बुरे मनुष्योंके सुधारनेवाले भी बुरे मनुष्योंके संग नहीं रहते; वे भलाई करनेवालोंको ही अपना संगी बनाते हैं। पवित्र और शुद्ध हृदयवालोंके संग रहनेके लिए यह अवश्य है कि आप भी पवित्र और शुद्धहृदय बन जाए।

जिन लोगोंका मन पवित्र है वे बुराई करनेवालोंके पास तक नहीं फटकते और न उनकी ओर झांकते हैं। यह द्वेष नहीं है; यह बुद्धिमत्ता है।

जो मनुष्य चिरकाल तक किसी बुराईमें लगा रहता है, इस-का परिणाम यह होगा कि सब लोग उसको त्याग कर और वह दुःखी रहेगा, कोई उसको पूछेगा नहीं और वह अकेला रह-जाएगा। यह बात उसके लिए अच्छी है। इस अकेले रहनेके दण्डसे वह ठीक मार्गपर आजाएगा और सुधर जाएगा। यह अच्छी बात है कि बुराई करनेवाला पछताए और भलाई करने लगे; इससे वह फिर प्रसन्न हो जाएगा और बिगड़े हुए मित्र फिर आकर उससे मिलेंगे।

यही नहीं कि सज्जन दुष्टोंसे बचते हैं और परे रहते हैं; व-रञ्च दुष्ट भी सज्जनोंके पास आनेसे झिजकते हैं क्योंकि स-

ज्जनोंकी भलाई विना कहे ही दुष्टोंपर प्रकाशित हो जाती है और उनके पापका बुरा चित्र उनकी आंखोंके सामने खेंच देती है ।

जब कोई मनुष्य किसी बुराईके मार्गमें प्रविष्ट होता है तो वह अपने आपको झट उन लोगोंकी संगतिमें देखता है जिन्होंने वही मार्ग ग्रहण किया है। जब कोई मनुष्य उत्तम मार्गपर चलता है तो वह उस उत्तम मार्गमें चलनेवालोंके संग हो जाता है। मानुषी स्वभावका यही नियम है।

जब कोई मनुष्य अपनी भीतरी भलाईसे अलग हो जाता है तो वह भले लोगोंसे भी अलग हो जाता है और अपने ही जैसे लोगोंके साथ चलने फिरने लगता है। यह एक कारण है जिससे दुष्ट मनुष्य इस संसारमें या किसी और मनुष्यमें भलाई नहीं देखते । इन लोगोंने अपने आपको भलाईसे अलग कर-लिया और भलाई तक पहुंच नहीं सकते । पर बुराईकी ओर इनकी आंखें और मन खुले हुए हैं इस लिए इन्हें बुराई ही बुराई दिखाई देती है. क्योंकि उन्हींके विचारवाले लोग इन्हें सदा बुराईकी वार्त्ता सुनाते रहते हैं ।

जब एक बुरा मनुष्य अच्छे मनुष्यमे मिलता है तो वह उससे अपने बुरे विचार और कामोंके छुपानेका यत्न करता है; पर ज्यों ही वह किसी दूसरे बुरे मनुष्यके संग मिलता है त्यों ही वह अपने हृदयका सारा मर्म निर्लज्ज होकर उसके आगे खोल देता है और इस बातसे प्रसन्न होता है कि मुझे मेरा साथी मिल-गया है ।

संसारमें एक ओर तो चोरों, जुआरियों और अपराधियोंके

सङ्घ हैं आरै दूसरी ओर महात्माओं धर्मात्माओं और बुद्धिमानों-की सभाएं हैं; इससे सिद्ध है कि मनुष्य स्वभावसे ही अपनी २ संगतिमें मिलना चाहते हैं और अपने ही जैसोंसे अपना भेद प्रगट करना चाहते हैं और दुष्टों और सज्जनोंमें कितना धरती आकाशका अन्तर है ।

ऋषि मुनि लोगोंने उत्तम जीवनकी एक सुन्दर नगरसे उपमा दी है; पर दुष्ट जीवनकी किसी नगरसे उपमा नहीं दी जा सकती; दुष्ट जीवन नगर रहित है; इसमें संलग्नशील, शिष्ट और मधुर मूल पदार्थ नहीं हैं जिनसे सभ्य नगरके रहने-वालोंकी अवस्था उत्पन्न हो सके; यह जातिसे बाहर है और सब-ने इसे छोड़ रक्खा है; इसका कोई स्थान नहीं जहां यह शरण ले सके और ठहर सके ।

धर्मात्मा और पवित्र मनुष्य ऋजुताके सुन्दर नगरमें बसते हैं और वे दुष्ट और पापी लोगोंसे अलग हैं जो उस नगरकी भित्तियोंके बाहर फिरते रहते हैं । क्योंकि जहां पुण्य है वहां पाप नहीं आ सकता; पर इस नगरके द्वार सदा खुले रहते हैं द्वारपाल देखते रहते हैं और प्रत्येक पछतानेवाले पापीको प्रसन्नतासे भीतर आने देते हैं; क्योंकि यद्यपि पाप तो भीतर नहीं आ सकता, पर पापी पुण्यवान् होकर भीतर प्रवेश कर सकता है ।

यद्यपि सज्जन पुरुष दुष्टोंसे नहीं मिलते, तथापि वे उनसे कम प्रेम नहीं रखते और उनको सुधारनेका यत्न करते रहते हैं; पर इन दोनोंमें अन्तर अवश्य रहेगा, क्योंकि स्वर्ग और नरक

मिल नहीं सकते और सज्जनोंका दुष्टोंसे अलग रहना एक आध्यात्मिक आवश्यकता और एक दैवी नियम है ।

(ढ) सत्संगकी महिमा ।

हिन्दीमें एक कहावत है कि "खर्बूज़ा खर्बूज़ेको देखकर रङ्ग पकड़ता है," इसी प्रकार संसारमें भली और बुरी संगतिका प्रभाव पड़ता है । मनुष्य जिस जलवायुमें पलता है और जिन घटनाओंके वशमें रहता है, वैसे ही गुण उसमें उत्पन्न हो जाते हैं । उसकी संगति निश्चय करके इस बातका निर्णय कर दती है कि वह क्या है और क्या होगा और उसका अगला जीवन किस सांचेमें ढलेगा । संसारमें आप जो जो कुछ नई २ बातें देखते हैं वे सब परस्पर मिलाप और संगतिके फल हैं । भावोंकी दृढ़ता, हृदयकी धीरता, राज्योंके परिवर्तन, सभाकी उत्तम और नीच दशा, युवा पुरुषोंका पुरुषार्थ, बूढ़ोंकी बुद्धिमत्ता, रहने सहनेकी अच्छी और बुरी अवस्था, उन्नति और अवनतिके क्रम, बोल चाल, ये सब परस्पर संगतिके फल हैं; और मनुष्य जैसे पुरुषोंके साथ रहता है, वैसे ही उनके विचार और भावोंको अपने भीतर ले लेता है और उसकी आकृति और चाल ढाल वैसी ही बन जाती है । इस लिए सच कहा है,—

साधुकी जिन संगत लीनी ।
उन्हां कमाई पूरी कीनी ॥

यूनानके एक वैद्यका लड़का जुवारियोंके सङ्ग बैठा करता था । बापने कई बार रोका और बुरी संगतिके बुरे परिणाम भी

समझाए; पर लड़का सदा यही कहता रहा कि मैं थोड़ी देरके लिए जाता हूं उनकी संगतिसे मेरा क्या बिगाड़ हो सकता है। बाप बहुत दुःखी था। एक दिन उसने लड़केसे कहा,—"तू तनिक इस कोयलेको अपने हाथपर रख ले"। बेटेने वैसा ही किया। बाप ने कहा,—"अच्छा अब फेंक दे"। लड़केने उसको फेंक दिया। तब बापने कहा,—"देख तेरी हथेलीपर काला धब्बा है वा नहीं?" लड़का बोला "हां जी"। तब उस वैद्यने समझाया,—"देख! कोयला केवल एक पल भर तेरे हाथमें रहा, पर उसने भी अपना प्रभाव दिखा दिया; इसी प्रकार यद्यपि कोई मनुष्य थोड़ी देरके लिए बुरी सगतिमें जाए तथापि उसके प्रभावसे नहीं बच सकता"। उस दिनसे फिर लड़केने जुवारियोंके संग बैठना उठना बिल्कुल छोड़ दिया।

वाल्मीकिका वर्णन करते हैं कि पहले वह डाकू था, डाका मारना और लूट मार करना उसका काम था, मनुष्योंको जानसे मार डालना उसके बाएं हाथका कर्तब था, जो कुछ उसे इस प्रकार मिलता था उसीसे उसके सम्बन्धी अपना पेट भरते थे। उमर बीत गई, उसका हृदय बड़ा कठोर हो गया, पथिक उसका नाम सुनकर कांपते थे और उसके डरसे कोई जंगलमें नहीं आ सकता था। एक दिन एक साधु अकस्मात् उधरसे गुजरा, वह घातमें दबक रहा था, छलांग मारकर झट उसके सिरपर पहुंचा और कहने लगा,—"जो कुछ तेरे पास है मुझे सौंप दे, नहीं तो अच्छा नहीं होगा"। साधुने हंसकर कहा,—"मेरे पास क्या है जो तुझको दूं; पर यदि तू मेरे प्रश्नका उत्तर देगा, तो मैं तेरा उपकार करूंगा"। वाल्मीकिको उसकी निर्भयता

देखकर आश्चर्य हुआ और यह देखकर तो वह दंग रह गया कि एक साधारण मनुष्य और वाल्मीकिसे इस बेपर्वाहीके साथ बात करे। वाल्मीकिने विस्मित होकर उसकी आकृतिको देखा, मुखकी कान्ति चारों ओर फैल रही थी, ईश्वरकी भक्तिका प्रकाश सर्वत्र दैदीप्यमान था, मानों वह साधु शान्तिका अवतार था, न किसी-से राग न किसीसे द्वेष। इस दमकती हुई आकृतिने उसके हृदयपर बड़ा प्रभाव डाला, उसने पूछा,—"कहो क्या कहते हो"। उत्तर मिला,—"तुम मुझको केवल इतना बता दो कि लूट मार करके तुम जिन कुटुम्बियोंका पालन पोषण करते हो, वे तुम्हारे इस कार्यके फलमें अंश लेंगे या नहीं?" वाल्मीकि कहते हैं कि "मेरे जीवनमें यह पहली घटना थी कि यह सीधा सादा प्रश्न किया गया, मुझे पहली ही बार इसके सोचनेका समय मिला, इस लिए मैं इसका कुछ उत्तर न दे सका। मैंने यह कहा,—"मैं नहीं जानता, पर यदि कहो तो घरपर जाकर सब-से पूछ आऊं"। साधुने कहा,—"जा, मैं यहां तेरे उपकारके विचारसे ठहरा रहूंगा"।

वाल्मीकि गया और अपने माता, पिता, भ्राता, बन्धु सबसे पूछने लगा,—"लूट मार करना पाप है, जान मारना बुरा कर्म है, यह हम तुम्हारे पालनके लिए करते हैं, क्या तुम इस पापके दण्ड-में भी मेरे साथी होगे?" सबने एक वचन होकर कहा,—"इस जगत्में प्रत्येक मनुष्य अपने २ कामका उत्तरदाता है"। उन-का उत्तर सुनकर वाल्मीकिके अवसान जाते रहे, काटो तो श-रीरमें लहू नहीं, मुखकी छबि जाती रही। वाल्मीकिने फिर कोई बात नहीं कही, सीधा उस साधुके पास चला आया और

उसने वहां अपने घरके लोगोंका सारा वृत्तान्त कह सुनाया। साधु बोला,—"रे मूर्ख! अब तुझको समझ आई या नहीं? देख! संसारके प्यारे सम्बन्धी कैसे स्वार्थपर हैं। क्या अब भी तू उनके लिए पाप किए ही जाएगा?"

वाल्मीकि चुप हो गया और चित्रकी नाईं होकर विस्मयके साथ उसकी ओर देखा किया। वाल्मीकि ऋषि कहते हैं कि "वह साधु मेरे चुप रहनेका लाभ उठाकर देर तक मुझको उपदेश सुनाता रहा और उसकी संगतिकी विभूति और उसकी शिक्षाका प्रभाव यह हुआ कि मेरा जीवन सर्वथा पलट गया"।

नारद ऋषियोंके शिरोमणि, देवताओंमें पूजनीक, मुनियोंमें श्रेष्ठ, एक दासीके लड़के थे। उनकी मां एक साधुकी सेवा किया करती थी। नारद भी अपनी माताके साथ सदा साधुके भवनमें उपस्थित रहकर उसकी वाणी सुनते और उसकी टहल सेवा करते थे। साधुके सतसङ्गका यह फल हुआ कि वह इस उच्च पदवीको पहुंच गए।

इसी प्रकार अच्छे साधु महात्माओंके पास जानेसे मनुष्यमें साधु भाव और पवित्रता आती है, इसी लिए कबीर साहिबने कहा है,—

ऋद्धि सिद्धि मांगूं नहीं, मांगूं तुमसे एह।
निस दिन दर्शन साधुका; कहै कबीर मोहि देह॥
सुख देवें दुखको हरें, दूर करें अपराध।
कहै कबीर वे कब मिलें, परम स्नेही साध॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः ।

जैनग्रन्थरत्नाकरस्थ— रत्नकणिका न. ३.

श्रीसोमप्रभाचार्यविरचिता

सूक्तमुक्तावली

तथा

स्वर्गीय कविवर बनारसीदासजीकृत

भाषासूक्तमुक्तावली.

जिसको

देवरी जिला सागरनिवासी

श्रीनाथूराम प्रेमी कविने

संशोधन किया.

और

मुम्बयीस्थ

जैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालयके स्वत्त्वाधिकारीने

निर्णयसागर छापखानेमें

छपाकर प्रसिद्ध किया.

वीरसंवत् २४३१ । इस्वी सन १९०४.

प्रथमबार ५०० प्रति] [मूल्य ।) आने.

ॐ

श्रीसोमप्रभाचार्यविरचिता

सूक्तमुक्तावली

तथा

स्वर्गीय कविवर बनारसीदासजीकृत

भाषासूक्तमुक्तावली.

(सिंदूरप्रकर.)

धर्माधिकार ।

शार्दूलविक्रीडित ।

सिन्दूरप्रकरस्तपः करिशिरःक्रोडे कषायाटवी-
दावार्चिर्निचयः प्रबोधदिवसप्रारम्भसूर्योदयः ।
मुक्तिस्त्रीकुचकुम्भकुङ्कुमरसः श्रेयस्तरोः पल्लव-
प्रोल्लासः क्रमयोर्नखद्युतिभरः पार्श्वप्रभोः पातु वः ॥ १ ॥

षट्पद ।

शोभित तपगजराज, सीस सिन्दूर पूरछवि ।
बोधदिवस आरंभ, करण कारण उदोत रवि ॥
मंगल तरु पल्लव, कषाय कांतार हुताशन ।
बहुगुणरत्ननिधान, मुक्तिकमलाकमलाशन ॥
इहिविधि अनेक उपमा सहित, अरुण चरण संताप हर ।
जिनराय पार्श्वनखज्योति भर, नमत बनारसि जोर कर ॥ १ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

सन्तः सन्तु मम प्रसन्नमनसो वाचां विचारोद्यताः
सूतेऽम्भः कमलानि तत्परिमलं वाता वितन्वन्ति यत् ।
किं वाभ्यर्थनयानया यदि गुणोऽस्त्यासां ततस्ते स्वयं
कर्तारः प्रथने न चेदथ यशःप्रत्यर्थिना तेन किम् ॥२॥

दोधकान्तबेसरीछन्द ।

जैसे कमल सरोवर वासै । परिमल तासु पवन परकाशै ।
त्यों कवि भाषहिं अक्षर जोर । संत सुजस प्रगटहि चहुँओर ॥
जो गुणवन्त रसाल कवि, तौ जग महिमा होय ।
जो कवि अक्षर गुणरहित, तौ आदरै न कोय ॥ २ ॥

इन्द्रवज्रा ।

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य ।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तं विना यद्भवतोऽर्थकामौ ॥

दोधकान्तबेसरीछन्द ।

सुपुरुष तीन पदारथ साधहिं । धर्म विशेष जान आराधहिं ।
धरम प्रधान कहैं सब कोय । अर्थ काम धर्महितैं होय ॥
धर्म करत संसारसुख, धर्म करत निर्वान ।
धर्मपंथसाधनविना, नर तिर्यंच समान ॥ ३ ॥

यः प्राप्य दुष्प्रापमिदं नरत्वं धर्मं न यत्नेन करोति मूढः ।
क्लेशप्रबन्धेन स लब्धमब्धौ चिन्तामणिं पातयति प्रमादात् ॥

कवित्त मात्रिक. (३१ मात्रा)

जैसे पुरुष कोइ धन कारण, हींडत दीपदीप चढ़ यान।
आवत हाथ रतनचिन्तामणि, डारत जलधि जान पापान॥
तैसे भ्रमत भ्रमत भवसागर, पावत नर शरीर परधान।
धर्मयत्न नहिं करत 'बनारसि' खोवत वादि जनम अज्ञान ४

मन्दाक्रान्ता।

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पादशौचं विधत्ते
पीयूषेण प्रवरकरिणं वाहयत्यैंधभारम्।
चिन्तारत्नं विकिरति कराद्वायसोड्डायनार्थं
यो दुष्प्रापं गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्तः॥ ५॥

मतगयन्द. (सवैया)

ज्यों मतिहीन विवेक विना नर, साजि मतङ्गज ईंधन ढोवै।
कंचन भाजन धूल भरै शठ, मूढ़ सुधारससों पगधोवै॥
वाहित काग उड़ावन कारण, डार महामणि मूरख रोवै।
त्यों यह दुर्लभ देह '**बनारसि**', पाय अजान अकारथ खोवै५

शार्दूलविक्रीडित।

ते धत्तूरतरुं वपन्ति भवने प्रोन्मूल्य कल्पद्रुमं
चिन्तारत्नमपास्य काचशकलं स्वीकुर्वते ते जडाः।
विक्रीय द्विरदं गिरीन्द्रसदृशं क्रीणन्ति ते रासभं
ये लब्धं परिहृत्य धर्ममधमा धावन्ति भोगाशया॥

कवित्त मात्रिक. (३१ मात्रा)

ज्यों जरमूर उखारि कलपतरु, बोवत मूढ़ कनकको खेत।
ज्यों गजराज बेच गिरिवर सम. कूर कुबुद्धि मोल खर लेत ॥
जैसे छांड़ि रतन चिन्तामणि. मूरख काचखंडमन देत।
तैसे धर्म विसार **'बनारसि'** धावत अधम विषयसुखहेत ॥६॥

शिखरिणी।

अपारे संसारे कथमपि समासाद्य नृभवं
न धर्मं यः कुर्याद्विषयसुखतृष्णातरलितः।
ब्रुडन्पारावारे प्रवरमपहाय प्रवहणं
स मुख्यो मूर्खाणामुपलमुपलब्धुं प्रयतते ॥ ७ ॥

सोरठा।

ज्यों जल बूड़त कोय, बाहन तज पाहन गहे।
त्यों नर मूरख होय, धर्म छांड़ि सेवत विषय ॥ ७ ॥

द्वार गाथा।

शार्दूलविक्रीडित।

भक्तिं तीर्थकरे गुरौ जिनमते संघे च हिंसानृत-
स्तेयाब्रह्मपरिग्रहव्युपरमं क्रोधाद्यरीणां जयम्।
सौजन्यं गुणिसङ्गमिन्द्रियदमं दानं तपोभावनां
वैराग्यं च कुरुष्व निर्वृतिपदे यद्यस्ति गन्तुं मनः ॥८॥

---

१ धतूरा. २ गर्दभ (गधा).

षट्पद ।

जिन पूजहु गुरुनमहु, जैनमतवैन बखानहु ।
संघ भक्ति आदरहु, जीव हिंसा नविधानहु ॥
झूठ अदत्त कुशील, त्याग परिग्रह परमानहु ।
क्रोध मान छल लोभ जीत, सज्जनता ठानहु ॥
गुणिसंग करहु इन्द्रिय दमहु, देहु दान तप भावजुत ।
गहि मन विराग इहिविधि चहहु, जो जगमैं जीवनमुकत॥८॥

पूजाधिकार ।

पापं लुम्पति दुर्गतिं दलयति व्यापादयत्यापदं
पुण्यं संचिनुते श्रियं वितनुते पुष्णाति नीरोगताम् ।
सौभाग्यं विदधाति पल्लवयति प्रीतिं प्रसूते यशः
स्वर्गं यच्छति निर्वृतिं च रचयत्यर्चार्हतां निर्मिता ॥९॥

३१ मात्रा सवैया छन्द ।

लोपै दुरित हरै दुख संकट; आपै रोग रहित नितदेह ।
पुण्य भंडार भरै जश प्रगटै; मुकति पंथसौं करै सनेह ॥
रचै सुहाग देय शोभा जग; परभव पँहुचावत सुरगेह ।
कुगति बंध दलमलहि **बनारसि;** वीतराग पूजा फल येह ॥९॥

स्वर्गस्तस्य गृहाङ्गणं सहचरी साम्राज्यलक्ष्मीः शुभा
सौभाग्यादिगुणावलिर्विलसति स्वैरं वपुर्वेश्मनि ।
संसारः सुतरः शिवं करतलक्रोडे लुठत्यञ्जसा
यः श्रद्धाभरभाजनं जिनपतेः पूजां विधत्ते जनः १०

देवलोक ताको घर आँगन; राजरिद्धि सेवैं तसु पाय।
ताको तन सौभाग्य आदि गुन; केलि विलास करै नित आय॥
सोनर त्वरित तरै भवसागर: निर्मल होय मोक्ष पद पाय।
द्रव्य भाव विधि सहित बनारसि; जो जिनवर पूजै मन लाय १०

शिखरिणी।

कदाचिन्नातङ्कः कुपित इव पश्यत्यभिमुखं
विदूरे दारिद्र्यं चकितमिव नश्यत्यनुदिनम्।
विरक्ता कान्तेव त्यजति कुगतिः सङ्गमुदयो
न मुञ्चत्यभ्यर्णं सुहृदिव जिनार्चां रचयतः॥११॥

ज्यौं नर रहै रिसाय कोपकर; त्यौं चिन्ताभय विमुख बखान।
ज्यौं कायर शंकै रिपु देखत; त्यौं दारिद्र भाजै भय मान॥
ज्यौं कुनार परिहरै खंडपति, त्यौं दुर्गति छंडै पहिचान।
हितु ज्यौं विभौ तजै नहिं संगत; सो सब जिनपूजाफल जान ११

शार्दूलविक्रीडित।

यः पुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुरस्त्रीलोचनैः सोऽर्च्यते
यस्तं वन्दत एकशस्त्रिजगता सोऽहर्निशं वन्द्यते।
यस्तं स्तौति परत्र वृत्रदमनस्तोमेन स स्तूयते
यस्तं ध्यायति क्लृप्तकर्मनिधनः स ध्यायते योगिभिः॥

जो जिनेंद्र पूजै फूलनसों; सुरनैनन पूजा तिस होय।
बंदै भावसहित जो जिनवर; वंदनीक त्रिभुवनमैं सोय॥

जो जिन सुजस करै जन ताकी; महिमा इन्द्र करैं सुरलोय ।
जो जिन ध्यान करत बनारसि; ध्यावैं मुनि ताके गुण जोय ॥ १२ ॥

गुरु अधिकार ।

वंशस्थविलम् ।

अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्त्तते प्रवर्त्तयत्यन्यजनं च निस्पृहः ।
स सेवितव्यः स्वहितैषिणा गुरुः स्वयं तरंस्तारयितुं क्षमः परम् ॥ १३ ॥

अडिल्ल छन्द ।

पापपंथ परिहरहि; धरहिं शुभपंथ पग ।
पर उपगार निमित्त; बखानहि मोक्षमग ॥
सदा अवंछित चित्त; जु तारन तरन जग ।
ऐसे गुरुको सेवत; भागहिं करम ठग ॥ १३ ॥

मालिनी ।

विदलयति कुबोधं बोधयत्यागमार्थं
सुगतिकुगतिमार्गौ पुण्यपापे व्यनक्ति ।
अवगमयति कृत्याकृत्यभेदं गुरुर्यो
भवजलनिधिपोतस्तं विना नास्ति कश्चित् १४

हरिगीतिका छन्द ।

मिथ्यात दलन सिद्धांत साधक; मुकतिमारग जानिये ।
करनी अकरनी सुगति दुर्गति; पुण्य पाप बखानिये ॥
संसारसागरतरनतारन; गुरु जहाज विशेखिये ।
जगमाहि गुरुसम कह बनारसि; और कोउ न देखिये ॥ १४ ॥

शिखरिणी ।

पिता माता भ्राता प्रियसहचरी सूनुनिवहः
सुहृत्स्वामी माद्यत्करिभटरथाश्वः परिकरः ।
निमज्जन्तं जन्तुं नरककुहरे रक्षितुमलं
गुरोर्धर्माधर्मप्रकटनपरात्कोऽपि न परः ॥१५॥

मत्तगयन्द ।

मात पिता सुत बन्धु सखीजन; मीत हितू सुख कामन पीके ।
सेवक साज मतंगज बाज; महादल राज रथी रथनीके ॥
दुर्गति जाय दुखी विललाय; परै सिर आय अकेलहि जीके ।
पंथ कुपंथ गुरू समझावत; और सगे सब स्वारथहीके ॥ १५ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

किं ध्यानेन भवत्वशेषविषयत्यागैस्तपोभिः कृतं
पूर्णं भावनयालमिन्द्रियजयैः पर्याप्तमाप्तागमैः ।
किं त्वेकं भवनाशनं कुरु गुरुप्रीत्या गुरोः शासनं
सर्वे येन विना विनाथबलवत्स्वार्थाय नालं गुणाः॥

वस्तु छन्द ।

ध्यान धारन ध्यान धारन; विषै सुख त्याग ।
करुनारस आदरन; भूँमि सैन इन्द्री निरोधन ॥
व्रत संजम दान तप; भगति भाव सिद्धंत साधन ॥
ये सब काम न आवहीं; ज्यौं विन नायक सैन ॥
शिवसुख हेतु **बनारसी;** कर प्रतीत गुरुवैन ॥ १६ ॥

जिनमताधिकार ।

शिखरिणी ।

न देवं नादेवं न शुभगुरुमेनं न कुगुरुं
न धर्मं नाधर्मं न गुणपरिणद्धं न विगुणम् ।
न कृत्यं नाकृत्यं न हितमहितं नापि निपुणं
विलोकन्ते लोका जिनवचनचक्षुर्विरहिताः ॥१७॥

कुंडलिया छन्द ।

देव अदेव नहीं लखैं; सुगुरु कुगुरनहिं सूझ ।
धर्म अधर्म गनै नहीं; कर्म अकर्म न बूझ ॥
कर्म अकर्म न बूझ; गुण रु औगुण नहिं जानहिं ।
हित अनहित नहि सधै; निपुणमूरख नहिं मानहिं ॥
कहत **बनारसि** ज्ञानदृष्टि नहिं अंध अबेवहिं ।
जैनबचनदृगहीन; लखै नहि देव अदेवहिं ॥ १७ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

मानुष्यं विफलं वदन्ति हृदयं व्यर्थं वृथा श्रोत्रयो-
र्निर्माणं गुणदोषभेदकलनां तेषामसंभाविनीम् ।
दुर्वारं नरकान्धकूपपतनं मुक्तिं बुधा दुर्लभां
सार्वज्ञः समयो दयारसमयो येषां न कर्णातिथिः ॥

३१ मात्रा सवैया छन्द ।

ताको मनुज जनम सब निष्फल; मन निष्फल निष्फल जुगकान ।
गुण अर दोष विचार भेद विधि; ताहि महा दुर्लभ है ज्ञान ॥

ताको सुगम नरक दुख संकट; अगमपथ पदवी निर्वान ।
जिनमतवचन दयारसगर्भित; जे न सुनत सिद्धंतबखान १८

पीयूषं विषवज्जलं ज्वलनवत्तेजस्तमःस्तोमव-
न्मित्रं शात्रववत्स्रजं भुजगवच्चिन्तामणिं लोष्टवत् ।
ज्योत्स्नां ग्रीष्मजघर्मवत्स मनुते कारुण्यपण्यापणं
जैनेन्द्रं मतमन्यदर्शनसमं यो दुर्मतिर्मन्यते ॥१९॥

षट्पद ।

अंमृतको विष कहै; नीरको पावक मानहिं ।
तेज तिमरसम गिनहिं; मित्रकों शत्रु वखानहि ॥
पहुपमाल कहिं नाग; रतन पत्थर सम तुलहिं ।
चंद्रकिरण आतप स्वरूप; इहि भांत जु भुलहिं ॥
करुणानिधान अमलानगुन; प्रघट बनारसि जैनमत ।
परमत समान जो मनधरत; सो अजान मूरख अपत ॥ १९ ॥

धर्मं जागरयत्यघं विघटयत्युत्थापयत्युत्पथं
भिन्ते मत्सरमुच्छिनत्ति कुनयं मथ्नाति मिथ्यामतिम् ।
वैराग्यं वितनोति पुष्यति कृपां मुष्णाति तृष्णां च य-
त्तज्जैनं मतमर्चति प्रथयति ध्यायत्यधीते कृती ॥२०॥

मरहटा छन्द ।

शुभ धर्म विकाशै, पापविनाशै; कुपथउथप्पनहार ।
मिथ्यामतखंडै, कुनयविहंडै; मंडै दया अपार ॥
तृष्णामदमारै, राग विडारै; यह जिनआगमसार ।
जौ पूजैं ध्यावैं, पढैं पढावैं; सो जगमाहिं उदार ॥२०॥

संघ अधिकार ।

रत्नानामिव रोहणक्षितिधरः खं तारकाणामिव
स्वर्गः कल्पमहीरुहामिव सरः पङ्केरुहाणामिव ।
पाथोधिः पयसामिवेन्दुमहसां स्थानं गुणानामसा-
वित्यालोच्य विरच्यतां भगवतः संघस्य पूजाविधिः ॥

३१ मात्रा सवैया छन्द ।

जैसे नभमंडल तारागण; रोहनशिखर रतनकी खान ।
ज्यों सुरलोक भूरि कलपद्रुम; ज्योंसरवर अंबुज वन जान ॥
ज्यों समुद्र पूरन जलमंडित, ज्यों शशिछबिसमूह सुखदान ।
तैसे संघ सकल गुणमन्दिर, सेवहु भावभगति मन आन २१

यः संसारनिरासलालसमतिर्मुक्त्यर्थमुत्तिष्ठते
यं तीर्थं कथयन्ति पावनतया येनास्ति नान्यः समः ।
यस्मै स्वर्गपतिर्नमस्यति सतां यस्माच्छुभं जायते
स्फूर्तिर्यस्य परा वसन्ति च गुणा यस्मिन्स संघोऽर्च्यताम्

जे संसार भोग आशातज, ठानत मुकति पन्थकी दौर ।
जाकी सेव करत सुख उपजत, तिन समान उत्तम नहिं और ॥
इन्द्रादिक जाके पद वंदत, जो जंगम तीरथ शुचि ठौर ।
जामैं नित निवास गुन मंडन, सो श्रीसंघ जगत शिरमौर ॥२२॥

लक्ष्मीस्तं स्वयमभ्युपैति रभसात्कीर्तिस्तमालिङ्गति
प्रीतिस्तं भजते मतिः प्रयतते तं लब्धुमुत्कण्ठया ।
स्वःश्रीस्तं परिरब्धुमिच्छति मुहुर्मुक्तिस्तमालोकते
यः संघं गुणसंघकेलिसदनं श्रेयोरुचिः सेवते ॥२३॥

ताको आय मिलै सुखसंपति, कीरति रहै तिहूं जग छाय ।
जिनसों प्रीत बढै ताके घट, दिन दिन धर्मबुद्धि अधिकाय ॥
छिनछिन ताहि लखै शिवसुन्दर, सुरगसंपदा मिलै सुभाय ।
बानारसि गुनरास संघकी, जो नर भगति करै मनलाय॥२३॥

यद्भक्तेः फलमर्हदादिपदवीमुख्यं कृषेः सस्यव-
चक्रित्वत्रिदशेन्द्रतादि तृणवत्प्रासङ्गिकं गीयते ।
शक्तिं यन्महिमस्तुतौ न दधते वाचोऽपि वाचस्पतेः
संघः सोऽघहरः पुनातु चरणन्यासैः सतां मन्दिरम् ॥

जाके भगत मुकतिपद पावत, इन्द्रादिक पद गिनत न कोय ॥
ज्यों कृषि करत धानफल उपजत, सहज पयार घास भुस होय॥
जाके गुन जस जंपनकारन, सुरगुरु थकित होत मदखोय ।
सो श्रीसंघ पुनीत **बनारसि**, दुरित हरन विचरन भविलोय २४

अहिंसा अधिकार ।

क्रीडाभूः सुकृतस्य दुष्कृतरजःसंहारवात्या भवो-
दन्वन्नौर्व्यसनाग्निमेघपटली संकेतदूती श्रियाम् ।
निःश्रेणिस्त्रिदिवौकसः प्रियसखी मुक्तेः कुगत्यर्गला
सत्त्वेषु क्रियतां कृपैव भवतु क्लेशैरशेषैः परैः ॥ २५ ॥

घनाक्षरी ।

सुकृतकी खान इन्द्र पुरीकी नसैनी जान
पापरजखंडनको, पौनरासि पेखिये ।
भवदुखपावकबुझायवेको मेघ माला,
कमला मिलायवेको दूती ज्यों विशेखिये ॥

सुगति बधूसों प्रीत; पालवेकों आलीसम,
कुगतिके द्वार दृढ; आगलसी देखिये ॥
ऐसी दया कीजै चित; तिहूँलोकप्राणीहित,
और करतूत काहू; लेखेमें न लेखिये ॥ २५ ॥

शिखरिणी ।

यदि ग्रावा तोये तरति तरणिर्यद्युदयते
प्रतीच्यां सप्तार्चिर्यदि भजति शैत्यं कथमपि ।
यदि क्ष्मापीठं स्यादुपरि सकलस्यापि जगतः
प्रसूते सत्त्वानां तदपि न वधः क्वापि सुकृतम् ॥

अभानक छन्द ।

जो पश्चिम रवि उगै; तिरै पापान जल ।
जो उलटै भुवि लोक; होय शीतल अनल ॥
जो मेरू डिगमिगै; सिद्धि कहँहोय मल ।
तब हू हिंसा करतः न उपजत पुण्यफल ॥ २६ ॥

मालिनी ।

स कमलवनमग्नेर्वासरं भास्वदस्ता-
दमृतमुरगवक्त्रात्साधुवादं विवादात् ।
रुगपगममजीर्णाज्जीवितं कालकूटा-
दभिलषति वधाद्यः प्राणिनां धर्ममिच्छेत् ॥ २७ ॥

घनाक्षरी छन्द ।

अगनिमैं जैसें अरविंद न विलोकियत;
सूर अथवत जैसें बासर न मानिये ।

सांपके बदन जैसें अमृत न उपजत;
कालकूट खाये जैसें जीवन न जानिये ॥
कलह करत नहिं पाइये सुजस जैसें;
बाढ़तरसांस रोग नाश न बखानिये ।
प्राणी बधमांहि तैसैं; धर्मकी निशानी नाहिं,
याहीतें **बनारसी** विवेक मन आनिये ॥ २७ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

आयुर्दीर्घतरं वपुर्वरतरं गोत्रं गरीयस्तरं
वित्तं भूरितरं बलं बहुतरं स्वामित्वमुच्चैस्तरम् ।
आरोग्यं विगतान्तरं त्रिजगति श्लाघ्यत्वमल्पेतरं
संसाराम्बुनिधिं करोति सुतरं चेतः कृपार्द्रान्तरम्॥

३१ मात्रा सवैया छन्द ।

दीरघ आयु नाम कुल उत्तम; गुण संपति आनंद निवास ।
उन्नति विभव सुगम भवसागर; तीन भवन महिमा परकास ॥
भुजबलवंत अनंतरूप छवि; रोगरहित नित भोगविलास ॥
जिनके चित्तदयाल तिन्होंके, सब सुख होंहि **बनारसिदास** ॥

सत्यवचन अधिकार ।

विश्वासायतनं विपत्तिदलनं दैवैः कृताराधनं
मुक्तेः पथ्यदनं जलाग्निशमनं व्याघ्रोरगस्तम्भनम् ।
श्रेयःसंवननं समृद्धिजननं सौजन्यसंजीवनं
कीर्तेः केलिवनं प्रभाववभनं सत्यं वचः पावनम् २९

षट्पद ।

गुणनिवास बिश्वास बास; दारिददुखखंडन ।
देवअराधन योग; मुकतिमारग मुखमंडन ॥
सुयशकेलि आराम; धाम सज्जन मनरंजन ।
नागबाघवशकरन; नीर पावक भयभंजन ॥
महिमा निधान सम्पतिसदन; मंगल मीत पुनीत मग ।
सुखरासि **बनारसि दास** भन; सत्यबचन जयवंत जग २९

शिखरिणी ।

यशो यस्माद्भस्मीभवति वनवह्नेरिव वनं
निदानं दुःखानां यदवनिरुहाणां जलमिव ।
न यत्र स्याच्छायातप इव तपःसंयमकथा
कथंचित्तन्मिथ्यावचनमभिधत्ते न मतिमान् ॥३०॥

३१ मात्रा सवैया छन्द ।

जो भस्मंत करै निज कीरति; ज्यों वनअग्नि दहै वन सोय ।
जाके संग अनेक दुख उपजत; बढै वृक्ष ज्यों सींचत तोय ॥
जामें धरम कथा नहि सुनियत; ज्यों रवि बीच छांहिं नहिं होय ।
सो मिथ्यात्व वचन **बानारसि;** गहत न ताहि विचक्षण कोय ३०

वंशस्थविलम् ।

असत्यमप्रत्ययमूलकारणं कुवासनासद्म समृद्धिवारणम् ।
विपन्निदानं परवञ्चनोर्जितं कृतापराधं कृतिभिर्विवर्जितम्॥

रोडक छन्द ।

कुमति कुरीत निवास; प्रीत परतीत निवारन ।
रिद्धसिद्धसुखहरन; विपत दारिद दुख कारन ॥
परवंचन उतपत्ति; सहज अपराध कुलच्छन ।
सो यह मिथ्यावचन; नाहिं आदरत विचच्छन ॥३१॥

शार्दूलविक्रीडित ।

तस्याग्निर्जलमर्णवः स्थलमरिर्मित्रं सुराः किङ्कराः
कान्तारं नगरं गिरिर्गृहमहिर्माल्यं मृगारिर्मृगः ।
पातालं बिलमस्त्रमुत्पलदलं व्यालः शृगालो विषं
पीयूषं विषमं समं च वचनं सत्याश्चितं वक्ति यः ३२

घनाक्षरी ।

पावकतैं जल होय; वारिधतै थल होय,
शस्त्रतैं कमल होय; ग्राम होय बनतैं ।
कूपतै बिवर होय; पर्वततैं घर होय,
वासवतै दास होय; हितू दुरजनतैं ॥
सिंघतैं कुरंग होय; व्याल स्यालअंग होय,
विषतै पियूष होय; माला अहिफनतैं ।
विषमतैं सम होय; संकट न व्यापै कोय,
एते गुन होंय सत्य; वादीके दरसतैं ॥ ३२ ॥

अदत्तादान अधिकार ।

मालिनी ।

तमभिलषति सिद्धिस्तं वृणीते समृद्धि-
स्तमभिसरति कीर्तिर्मुञ्चते तं भवार्तिः ।

स्पृहयति सुगतिस्तं नेक्षते दुर्गतिस्तं
परिहरति विपत्तं यो न गृह्णात्यदत्तम् ॥ ३३ ॥

रोडक छन्द ।

ताहि रिद्धि अनुसरै; सिद्धि अभिलाष धरै मन ।
विपत संगपरिहरै, जगत विस्तरै सुजसधन ॥
भवआरति तिहिं तजै, कुगति बंछै न एक छन ।
सो सुरसम्पति लहै, गहै नहिं जो अदत्त धन ॥ ३३ ॥

शिखरिणी ।

अदत्तं नादत्ते कृतसुकृतकामः किमपि यः
शुभश्रेणिस्तस्मिन्वसति कलहंसीव कमले ।
विपत्तस्माद्दूरं व्रजति रजनीवाम्बरमणे-
र्विनीतं विद्येव त्रिदिवशिवलक्ष्मीर्भजति तम् ॥३४॥

(३१ मात्रा) सवैया छन्द ।

ताको मिलै देवपद शिवपद, ज्यों विद्याधन लहै विनीत ।
तामैं आय रहै शुभ सम्पति, ज्यों कलहंस कमलसों मीत ॥
ताहि विलोक दुरै दुख दारिद, ज्यों रवि आगम रैन विदीत ।
जो अदत्त धन तजत **बनारसि,** पुण्यवंत सो पुरुष पुनीत३४

शार्दूलविक्रीडित ।

यन्निर्वर्तितकीर्तिधर्मनिधनं सर्वागसां साधनं
प्रोन्मीलद्वधबन्धनं विरचितक्लिष्टाशयोद्बोधनम् ।
दौर्गत्यैकनिबन्धनं कृतसुगत्याश्लेषसंरोधनं
प्रोत्सर्पत्प्रधनं जिघृक्षति न तद्धीमानदत्तं धनम् ३५

मरहटा छन्द ।

जो कीरति गोपहि, धरम विलोपहि, करहि महाअपराध ।
जो शुभगति तोरहि, दुरगति लोरहि, जोरहि युद्ध उपाध ॥
जो संकट आनहिं, दुर्गति ठानहिं, बधबंधनको गेह ।
सब औगुण मंडित, गहै न पंडित, सो अदत्तधन येह ॥३५॥

हरिणी ।

परजनमनःपीडाक्रीडावनं वधभावना-
भवनमवनिव्यापिव्यापल्लताघनमण्डलम् ।
कुगतिगमने मार्गः स्वर्गापवर्गपुरार्गलं
नियतमनुपादेयं स्तेयं नृणां हितकाङ्क्षिणाम् ॥ ३६ ॥

(३१ मात्रा) सवैया ।

जो परिजन संताप केलिवन; जो बध बंध कुबुद्धि निवास ।
जो जग विपतिबेलघनमंडल; जो दुर्गति मारग परकास ॥
जो सुरलोकद्वार दृढ आगल; जो अपहरण मुक्तिमुखवास ।
सो अदत्तधन तजत साधुजन; निजहितहेत बनारसिदास ३६

शीलाधिकार.

शार्दूलविक्रीडित ।

दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चक-
श्चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणारामस्य दावानलः ।
संकेतः सकलापदां शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः
शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्यचिन्तामणिः ३७

(३१ मात्रा) सवैया।

सो अपयशको डंक बजावत; लावत कुल कलंक परधान।
सो चारितको देत जलांजुलि; गुन बनको दावानल दान॥
सो शिवपन्थकिवार बनावत; आपति बिपति मिलनको थान।
चिन्तामणि समान जग जो नर; शीलरतन निजकरत मलान ३७

मालिनी।

हरति कुलकलङ्कं लुम्पते पापपङ्कं
सुकृतमुपचिनोति श्लाघ्यतामातनोति।
नमयति सुरवर्गं हन्ति दुर्गोपसर्गं
रचयति शुचि शीलं स्वर्गमोक्षौ सलीलम्॥ ३८॥

रोडक छन्द।

कुल कलंक दलमलहि; पापमलपंक पखारहि।
दारुन संकट हरहि; जगत महिमा विस्तारहि॥
सुरग मुकति पद रचहि; सुकृतसंचहि करुणारसि।
सुरगन बंदहि चरन; शीलगुण कहत **बनारसि**॥३८॥

शार्दूलविक्रीडित।

व्याघ्रव्यालजलानलादिविपदस्तेषां व्रजन्ति क्षयं
कल्याणानि समुल्लसन्ति विबुधाः सांनिध्यमध्यासते।
कीर्तिः स्फूर्तिमियर्ति यात्युपचयं धर्मः प्रणश्यत्यघं
स्वर्निर्वाणसुखानि संनिदधते ये शीलमाबिभ्रते॥३९॥

मत्तगयन्द।

ताहि न बाघ भुजंगमको भय; पानि न बोरै न पावक जालै।
ताके समीप रहैं सुर किन्नर; सो शुभ रीत करै अघ टालै॥

तासु विवेक बढै घट अंतर; सो सुरके शिवके सुख मालै।
ताकि सुकीरति होय तिहूँ जग; जो नर शील अखंडित पालै॥३९॥

तोयत्यग्निरपि स्रजत्यहिरपि व्याघ्रोऽपि सारङ्गति
व्यालोऽप्यश्वति पर्वतोऽप्युपलति क्ष्वेडोऽपि पीयूषति।
विघ्नोऽप्युत्सवति प्रियत्यरिरपि क्रीडातडागत्यपां-
नाथोऽपि स्वगृहत्यटव्यपि नृणां शीलप्रभावाद्ध्रुवम् ४०

षट्पद।

अग्नि नीरसम होय; मालसम होय भुजंगम।
नाहर मृगसम होय; कुटिल गज होय तुरंगम॥
विष पियूषसम होय; शिखरपाषान खंडमित।
विघन उलट आनंद; होय रिपुपलट होयहित॥
लीलातलावसम उदधिजल; गृहसमान अटवी विकट।
इहिविधि अनेक दुख होहिं सुख; शीलवंत नरके निकट॥४०॥

परिग्रहाधिकार.

कालुष्यं जनयन् जडस्य रचयन्धर्मद्रुमोन्मूलनं
क्लिश्नन्नीतिकृपाक्षमाकमलिनीं लोभाम्बुधिं वर्धयन्।
मर्यादातटमुद्रुजञ्छुभमनोहंसप्रवासं दिशं-
न्किं न क्लेशकरः परिग्रहनदीपूरः प्रवृद्धिं गतः॥४१॥

३१ मात्रा सवैया।

अंतर मलिन होय निज जीवन; विनसै धर्मतरोवरमूल।
किलसै दयानीतिनलिनीवन; धरै लोभ सागर तनथूल॥

उठै बाद मरजाद मिटै सब; सुजन हंस नहिं पावहिं कूल।
बढत पूर पूरै दुख संकट; यह परिग्रह सरितासम तूल ॥४१॥

मालिनी।

कलहकलभविन्ध्यः कोपगृध्रश्मशानं
व्यसनभुजगरन्ध्रं द्वेषदस्युप्रदोषः।
सुकृतवनदवाग्निर्मार्दवाम्भोदवायु-
र्नयनलिनतुषारोऽत्यर्थमर्थानुरागः ॥ ४२ ॥

मनहरण।

कलह गयन्द उपजायवेको विंधगिरि;
कोप गीधके अघायवेको सुम्मशान है।
संकट भुजंगके निवास करवेको विल;
वैरभाव चौरको महानिशा समान है॥
कोमल सुगुनघनखंडवेको महा पौन;
पुण्यबन दाहवेको दावानल दान है।
नीत नय नीरज नसायवेको हिम राशि;
ऐसो परिग्रह राग दुखको निधान है॥ ४२ ॥

शार्दूलविक्रीडित।

प्रत्यर्थी प्रशमस्य मित्रमधृतेर्मोहस्य विश्रामभूः
पापानां खनिरापदां पदमसद्ध्यानस्य लीलावनम्।
व्याक्षेपस्य निधिर्मदस्य सचिवः शोकस्य हेतुः कलेः
केलीवेश्म परिग्रहः परिहृतेर्योग्यो विविक्तात्मनाम् ४३

प्रशमको अहित अधीरजको बाल हित;
महामोहराजाकी प्रसिद्ध राजधानी है ।
भ्रमको निधान दुरध्यानको विलासवन;
विपतको थान अभिमानकी निशानी है ॥
दुरितको खेत रोग शोग उतपति हेत;
कलहनिकेत दुरगतिको निदानी है ।
ऐसो परिग्रह भोग सबनको त्याग जोग;
आतम गवेषीलोग याही भांति जानी है ॥ ४३ ॥

वह्निस्तृप्यति नेन्धनैरिह यथा नाम्भोभिरम्भोनिधि-
स्तद्वल्लोभघनो घनैरपि धनैर्जन्तुर्न सतुप्यति ।
न त्वेवं मनुते विमुच्य विभवं निःशेषमन्यं भवं
यात्यात्मा तदहं मुधैव विदधाम्येनांसि भूयांसि किम् ॥

षट्पद ।

ज्यों नहि अग्नि अघाय; पाय ईंधन अनेक विधि ।
ज्यों सरिता घन नीर; नृपति नहि होय नीरनिधि ।
त्यो असंख्य धन बढत; मूढ संतोष न मानहि ।
पाप करत नहि डरत; बंध कारन मन आनहि ॥
परतछ विलोक जम्मन मरन; अथिर रूप संसारक्रम ।
समुझ न आप पर ताप गुन; प्रगट बनारसि मोह भ्रम ॥४४॥

क्रोधाधिकार.

यो मित्रं मधुनो विकारकरणे संत्राससंपादने
सर्पस्य प्रतिबिम्बमङ्गदहने सप्तार्चिषः सोदरः ।

चैतन्यस्य निषूदने विषतरोः सब्रह्मचारी चिरं
स क्रोधः कुशलाभिलाषकुशलैर्निर्मूलमुन्मूल्यताम्॥४५॥

गीताछन्द ।

जो सुजन चित्त विकार कारन; मनहु मदिरा पान ।
जो भरम भय चिन्ता बढावत, असित सर्प समान ॥
जो जंतु जीवन हरन विषतरु; तनदहनदवदान ।
सो कोपराम विनाश भविजन; लहहु शिव सुखथान ॥ ४५ ॥

हारिणी ।

फलति कलितश्रेयःश्रेणीप्रसूनपरम्परः
प्रशमपयसा सिक्तो मुक्तिं तपश्चरणद्रुमः ।
यदि पुनरसौ प्रत्यासत्तिं प्रकोपहविर्भुजो
भजति लभते भस्मीभावं तदा विफलोदयः ॥ ४६॥

३१ मात्रा सवैया ।

जब मुनि कोइ बोय तप तरुवर; उपशम जल सींचत चितखेत।
उदित ज्ञान शाखा गुण पल्लव; मंगल पहुप मुकत फलहेत ॥
तब तिहि कोप दवानल उपजत, महामोह दल पवन समेत ।
सो भस्मंत करत छिन अंतर, दाहत बिरखसहित मुनिचेत४६॥

शार्दूलविक्रीडित ।

संतापं तनुते भिनत्ति विनयं सौहार्दमुत्सादय-
त्युद्वेगं जनयत्यवद्यवचनं सूते विधत्ते कलिम् ।
कीर्तिं कृन्तति दुर्मतिं वितरति व्याहन्ति पुण्योदयं
दत्ते यः कुगतिं स हातुमुचितो रोषः सदोषः सताम् ॥

वस्तुछन्द ।

कलह मंडन मंडन करन उद्वेग ।
यशखंडन हित हरन, दुखविलापसंतापसाधन ॥
दुरबैन समुच्चरन, धरम पुण्य मारग विराधन ।
विनय दमन दुरगति गमन, कुमति रमन गुणलोप ।
ये सब लक्षण जान मुनि, तजहि ततक्षण कोप ॥ ४७ ॥

यो धर्मं दहति द्रुमं दव इवोन्मथ्नाति नीतिं लतां
दन्तीवेन्दुकलां विधुंतुद इव क्लिश्नाति कीर्तिं नृणाम् ।
स्वार्थं वायुरिवाम्बुदं विघटयत्युल्लासयत्यापदं
तृष्णां घर्म इवोचितः कृतकृपालोपः स कोपः कथम् ॥

षट्पद ।

कोप धरम धन दहै, अग्नि जिम विरख बिनासहि ।
कोप सुजस आवरहि, राहु जिम चंद गरासहि ॥
कोप नीति दलमलहि, नाग जिम लता विहंडहि ।
कोप काज सब हरहि, पवन जिम जलधर खंडहि ॥
संचरत कोप दुख ऊपजै, बढै त्रषा जिम धूपमहँ ।
करुणा विलोप गुण गोप जुत, कोप निषेध मंहत कहँ ॥ ४८ ॥

मानाधिकार.

मन्दाक्रान्ता ।

यस्मादाविर्भवति वितर्तिर्दुस्तरापन्नदीनां
यस्मिञ्शिष्टाभिरुचितगुणग्रामनामापि नास्ति ।

यश्च व्याप्तं वहति वधधीधूम्यया क्रोधदावं
तं मानाद्रिं परिहर दुरारोहमौचित्यवृत्तेः ॥ ४९ ॥

(मात्रा ३१) सवैया ।

जातै निकस विपति सरिता सब; जगमें फैल रही चहुँ ओर ।
जाके ढिग गुणग्राम नाम नहिं, माया कुमतिगुफा अति घोर ॥
जहँवधबुद्धि धूम रेखा सम; उदित कोप दावानल जोर ।
सो अभिमान पहार पटंतर; तजत ताहि सर्वज्ञकिशोर ॥ ४९ ॥

शिखरिणी ।

शमालानं भञ्जन्विमलमतिनाडीं विघटय-
न्किरन्दुर्वाक्पांशून्करमगणयन्नागमसृणिम् ।
भ्रमन्नुर्व्यां स्वैरं विनयवनवीथीं विदलयन्
जनः कं नानर्थं जनयति मदान्धो द्विप इव ॥५०॥

रोडक छन्द ।

भंजहिं उपशम थंभ; सुमति जंजीर विहंडहिं ।
कुवचन रज संग्रहहिं; विनयबनपंकति खंडहिं ॥
जगमें फिरहिं स्वछन्द; वेद अंकुश नहिं मानहिं ।
गज ज्यों नर मदअन्ध; सहज सब अनरथ ठानहिं ॥५०॥

शार्दूलविक्रीडित ।

औचित्याचरणं विलुम्पति पयोवाहं नभस्वानिव
प्रध्वंसं विनयं नयत्यहिरिव प्राणस्पृशां जीवितम् ।
कीर्तिं कैरविणीं मतङ्गज इव प्रोन्मूलयत्यञ्जसा
मानो नीच इवोपकारनिकरं हन्ति त्रिवर्गं नृणाम् ५१

करिखा छन्द।

मान सब उचित आचार भंजन करै;
पवन संचार जिम घन विहंडहि।
मान आदर तनय विनय लोपै सकल;
भुजग विष भीर जिम मरन मंडहि॥
मानके उदित जगमाहि विनसै सुयश,
कुपित मातंग जिम कुमुद खंडहि।
मानकी रीति विपरीति करतूति जिम;
अधमकी प्रीति नर नीत छंडहि॥ ५१॥

वसन्ततिलका।

मुष्णाति यः कृतसमस्तसमीहितार्थं
संजीवनं विनयजीवितमङ्गभाजाम्।
जात्यादिमानविषजं विषमं विकारं
तं मार्दवामृतरसेन नयस्व शान्तिम्॥ ५२॥

(मात्रा १५) चौपाई।

मान विषम विषतन संचरै। विनय विनाशै वाँछितहरै॥
कोमल गुन अम्रत संजोग। विनशै मान विषम विषरोग॥५२॥

मायाधिकार.

मालिनी।

कुशलजननवन्ध्यां सत्यसूर्यास्तसंध्यां
कुगतियुवतिमालां मोहमातङ्गशालाम्।

शमकमलहिमानीं दुर्यशोराजधानीं
व्यसनशतसहायां दूरतो मुञ्च मायाम् ॥ ५३ ॥

रोडक छन्द ।

कुशल जननकों बाँझ; सत्य रविहरन सांझथिति ।
कुगति युवति उरमाल; मोह कुंजर निवास छिति ॥
शम वारिज हिमराशि; पाप संताप सहायनि ।
अयश खानि जग जान; तजहु माया दुख दायनि ॥ ५३ ॥

उपेन्द्रवज्रा ।

विधाय मायां विविधैरुपायैः परस्य ये वञ्चनमाचरन्ति ।
ते वञ्चयन्ति त्रिदिवापवर्गसुखान्महामोहसखाः स्वमेव ५४

वेशरी छन्द ।

मोह मगन माया मति संचहि । कर उपाय औरनको वंचहि ।
अपनी हानि लखें नहिं सोय । सुगति हरै दुर्गति दुख होय५४

वंशस्थविलम् ।

मायामविश्वासविलासमन्दिरं
दुराशयो यः कुरुते धनाशया ।
सोऽनर्थसार्थं न पतन्तमीक्षते
यथा विडालो लगुडं पयः पिबन् ॥ ५५ ॥

पद्धरिछन्द ।

माया अविश्वास विलास गेह । जो करहि मूढ जन धन सनेह ।
सो कुगति बंध नहि लखै एम । तजभय बिलाव पय पियतजेम ५५

वसन्ततिलका ।

मुग्धप्रतारणपरायणमुज्जिहीते
यत्पाटवं कपटलम्पटचित्तवृत्तेः ।
जीर्यत्युपप्लवमवश्यमिहाप्यकृत्वा
नापथ्यभोजनमिवामयमायतौ तत् ॥ ५६ ॥

अभानक छन्द ।

ज्यों रोगी कर कुपथ; बढावै रोग तन ।
स्वादलंपटी भयो; कहै मुझ जनम धन ॥
त्यों कपटी कर कपट; मुगधको धन हरहि ।
करहि कुगतिको बंध; हरष मनमें धरहि ॥ ५६ ॥

लोभाधिकार.

शार्दूलविक्रीडित ।

यद्दुर्गामटवीमटन्ति विकटं क्रामन्ति देशान्तरं
गाहन्ते गहनं समुद्रमतनुक्लेशां कृषिं कुर्वते ।
सेवन्ते कृपणं पतिं गजघटासंघट्टदुःसंचरं
सर्पन्ति प्रधनं धनान्धितधियस्तल्लोभविस्फूर्जितम् ५७

मनहरण ।

सहै घोर संकट समुद्रकी तरंगनिमैं;
कंपै चितभीत पंथ; गाहै बीच बनमैं ।
ठानै कृषिकर्म जामें; शर्मको न लेश कहुं;
संकलेशरूप होय; जूझ मरै रनमैं ॥

तजै निज धामको विराजि परदेश धावै;
सेवै प्रभु कृपणमलीन रहै मनमैं ।
डोलै धन कारज अनारज मनुज मूढ,
ऐसी करतूति करै; लोभकी लगनमैं ॥ ५७ ॥

मूलं मोहविषद्रुमस्य सुकृताम्भोराशिकुम्भोद्भवः
क्रोधाग्नेररणिः प्रतापतरणिप्रच्छादने तोयदः ।
क्रीडासद्मकलेर्विवेकशशिनः स्वर्भानुरापन्नदी-
सिन्धुः कीर्तिलताकलापकलभो लोभः पराभूयताम् ५८

पूरन प्रताप रवि, रोकिवेको धाराधर;
सुकृति समुद्र सोखवेको कुम्भनंदहै ।
कोप दव पावक जननको अरणि दारु,
मोह विष भूरुहको; महा दृढ कंद है ॥
परम विवेक निशिमणि ग्रासवेको राहु;
कीरति लता कलाप; दलन गयंद है ।
कलहको केलिभौन आपदा नदीको सिंधु;
ऐसो लोभ याहूको विपाक दुख द्वंद है ॥ ५८ ॥

वसन्ततिलका ।

निःशेषधर्मवनदाहविजृम्भमाणे
दुःखौघभस्मनि विसर्पदकीर्तिधूमे ।
बाढं धनेन्धनसमागमदीप्यमाने
लोभानले शलभतां लभते गुणौघः ॥ ५९ ॥

परम धरम वन दहै; दुरित अंबर गति धारहि ।
कुयश धूम उदगरै; भूरि भय भस्म विथारहि ॥
दुख फलंग फुंकरै; तरल तृष्णा कल काढहि ।
धन ईंधन आगम; सँजोग दिन दिन अति बाढहि ॥
लहलहै लोभ पावक प्रबल; पवन मोह उद्धत बहै ।
दज्झहि उदारता आदि बहु; गुण पतंग कँवरा कहै ॥५९

शार्दूलविक्रीडित ।

जातः कल्पतरुः पुरः सुरगवी तेषां प्रविष्टा गृहं
चिन्तारत्नमुपस्थितं करतले प्राप्तो निधिः संनिधिम् ।
विश्वं वश्यमवश्यमेव सुलभाः स्वर्गापवर्गश्रियो
ये संतोषमशेषदोषदहनध्वंसाम्बुदं बिभ्रते ॥ ६० ॥

(३१ मात्रा) सवैया ।

विलसै कामधेनु ताके घर; पूरै कल्पवृक्ष सुखपोष ।
अखय भँडार भरै चिंतामणि; तिनको सुलभ सुरग औ मोष ॥
ते नर स्ववश करैं त्रिभुवनको; तिनसों विमुख रहै दुख दोष ।
सबै निधान सदा ताके ढिग; जिनके हृदय बसत संतोष ॥६०॥

सज्जनाधिकार.

शिखरिणी ।

वरं क्षिप्तः पाणिः कुपितफणिनो वक्त्रकुहरे
वरं झम्पापातो ज्वलदनलकुण्डे विरचितः ।
वरं प्रासप्रान्तः सपदि जठरान्तर्विनिहितो
न जन्यं दौर्जन्यं तदपि विपदां सद्म विदुषा ॥६१॥

(१६ मात्रा) चौपाई ।

बरु अहिवदन हत्थ निज डारहिं । अगनि कुंडमै तनपर जारहिं
डारहिं उदर करहिं विष भक्षन । पै दुष्टता न गहहि विचक्षन ६१

वसन्ततिलका ।

सौजन्यमेव विदधाति यशश्चयं च
स्वश्रेयसं च विभवं च भवक्षयं च ।
दौर्जन्यमावहसि यत्कुमते तदर्थम्
धान्येऽनलं क्षिपसि तज्जलसेकसाध्ये ॥ ६२ ॥

मत्तगयन्द (सवैया) ।

ज्यो कृषिकार भयो चितवातुल, सो कृषिकी करनी इम ठानें ।
वीज बवे न करे जल सिचन; पावकसों फलको थल भानें ॥
त्यों कुमती निज स्वारथके हित; दुर्जनभाव हिये महि आनें ।
संपति कारन वंध विदारन; सज्जनता सुखमूल न जानें ॥६२॥

पृथ्वी ।

वरं विभववन्ध्यता सुजनभावभाजां नृणा-
मसाधुचरितार्जिता न पुनरूर्जिताः संपदः ।
कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं
विपाकविरसा न तु श्वयथुसंभवा स्थूलता ॥६३॥

अभानक छन्द ।

वर दरिद्रता होय; करत सज्जन कला ।
दुराचारसों मिलै; राज सो नहिं भला ॥

ज्यों शरीर कृश सहज; सुशोभा देत है ।
सूज थूलता बढै; मरनको हेत है ॥ ६३ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

न ब्रूते परदूषणं परगुणं वक्त्यल्पमप्यन्वहं
संतोषं वहते परर्द्धिषु पराबाधासु धत्ते शुचम् ।
स्वश्लाघां न करोति नोज्झति नयं नौचित्यमुल्लङ्घय-
त्युक्तोऽप्यप्रियमक्षमां न रचयत्येतच्चरित्रं सताम् ॥६४॥

षट्पद ।

नहिं जंपै पर दोष; अल्प परगुण बहु मानहि ।
हृदय धरै संतोष; दीन लखि करुणा ठानहि ॥
उचित रीत आदरहि; विमल नय नीति न छंडहि ।
निज सलहन परिहरहि; राम रचि विषय विहंडहि ॥
मंडहि न कोप दुर बचन सुन; सहज मधुर धुनि उच्चरहि ।
कहि **कवरपाल** जग जाल बसि; ये चरित्र सज्जन करहि॥६४॥

गुणिसंगाधिकार.

धर्मं ध्वस्तदयो यशश्च्युतनयो वित्तं प्रमत्तः पुमा-
न्काव्यं निष्प्रतिभस्तपः शमदमैः शून्योऽल्पमेधः श्रुतम् ।
वस्त्वालोकमलोचनश्चलमना ध्यानं च वाञ्छत्यसौ
यः सङ्गं गुणिनां विमुच्य विमतिः कल्याणमाकाङ्क्षति ॥

मत्तगयन्द (सवैया)।

सो करुणाविन धर्म विचारत; नैन विना लखिवेको उमाहै ।
सो दुर्नीति धरै यश हेतु, सुधी विन आगमको अवगाहै ॥

सो हियशून्य कवित्त करै समता विन सो तपसों तन दाहै ।
सो थिरता विन ध्यान धरै शठ; जो सत संग तजै हित चाहै ६५

हरिणी ।

हरति कुमतिं भिन्ते मोहं करोति विवेकितां
वितरति रतिं सूते नीतिं तनोति विनीतताम् ।
प्रथयति यशो धत्ते धर्मं व्यपोहति दुर्गतिं
जनयति नृणां किं नाभीष्टं गुणोत्तमसंगमः ॥ ६६ ॥

घनाक्षरी ।

कुमति निकंद होय महा मोह मंद होय;
जगमगै सुयश विवेक जगै हियेसों ।
नीतको दिढाव होय विनैको बढाव होय;
उपजै उछाह ज्यों प्रधान पद लियेसों ॥
धर्मको प्रकाश होय दुर्गतिको नाश होय;
वरतै समाधि ज्यों पियूष रस पियेसों ।
तोष परि पूर होय; दोष दृष्टि दूर होय,
एते गुन होहि सत; संगतके कियेसों ॥ ६६ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

लब्धुं बुद्धिकलापमापदमपाकर्तुं विहर्तुं पथि
प्राप्तुं कीर्तिमसाधुतां विधुवितुं धर्मं समासेवितुम् ।
रोद्धुं पापविपाकमाकलयितुं स्वर्गापवर्गश्रियं
चेत्त्वं चित्त समीहसे गुणवतां सङ्गं तदङ्गीकुरु ॥६७॥

कुंडलिया ।

'कौंरा' ते मारग गहै, जे गुनिजनसेवंत ।
ज्ञानकला तिनके जगै, ते पावहि भव अंत ॥
ते पावहिं भव अंत, शांत रस ते चित धारहिं ।
ते अघ आपद हरहिं, धरमकीरति विस्तारहि ॥
होंहि सहज जे पुरुष, गुनी वारिजके भौंरा ।
ते सुर संपति लहैं, गहै ते मारग 'कौंरा' ॥ ६७ ॥

हारिणी ।

हिमति महिमाम्भोजे चण्डानिलत्युदयाम्बुदे
द्विरदति दयारामे क्षेमक्षमाभृति वज्रति ।
समिधति कुमत्यग्नौ कन्दत्यनीतिलतासु यः
किमभिलषतां श्रेयः श्रेयान्स निर्गुणिसंगमः ॥ ६८॥

षट्पद ।

जो महिमा गुन हनहि, तुहिन जिम वारिज वारहि ।
जो प्रताप संहरहि, पवन जिम मेघ विडारहि ॥
जो सम दम दलमलहि, दुरद जिम उपवन खंडहि ।
जो सुछेम छय करहि, वज्र जिम शिखर विहंडहि ॥
जो कुमति अग्नि ईंधनसरिस. कुनयलता दृढ मूल जग ।
सो दुष्टसंग दुख पुष्ट कर, तजहि विचक्षणता सुमग ॥ ६८॥

इन्द्रियाधिकार ।

शार्दूलविक्रीडित ।

आत्मानं कुपथेन निर्गमयितुं यः शूकलाश्वायते
कृत्याकृत्यविवेकजीवितहृतौ यः कृष्णसर्पायते ।

यः पुण्यद्रुमखण्डखण्डनविधौ स्फूर्जत्कुठारायते
तं लुप्तव्रतमुद्रमिन्द्रियगणं जित्वा शुभंयुर्भव ॥ ६९ ॥

हरिगीतिका ।

जे जगत जनको कुपंथ डारहिं, बक्र शिक्षित तुरगसे ।
जे हरहिं परम विवेक जीवन, काल दारुण उरगसे ॥
जे पुण्यवृक्षकुठार तीखन, गुपति व्रत मुद्रा करैं ।
ते करनसुभट प्रहार भविजन, तब सुमारग पग धरैं ॥ ६९ ॥

शिखरिणी ।

प्रतिष्ठां यन्निष्ठां नयति नयनिष्ठां विघटय-
त्यकृत्येष्वाधत्ते मतिमतपसि प्रेम तनुते ।
विवेकस्योत्सेकं विदलयति दत्ते च विपदं
पदं तद्दोषाणां करणनिकुरम्बं कुरु वशे ॥ ७० ॥

घनाक्षरी ।

ये ही हैं कुगतिके निदानी दुख दोष दानी;
इनहीकी संगतसों संग भार बहिये ।
इनकी मगनतासों विभोको विनाश होय,
इनहीकी प्रीतसों अनीत पन्थ गहिये ॥
ये ही तपभावकों बिडारैं दुराचार धारैं,
इनहीकी तपत विवेक भूमि दहिये ।
ये ही इन्द्री सुभट इनहिं जीतै सोई साधु,
इनको मिलापी सो तो महापापी कहिये ॥ ७० ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

धत्तां मौनमगारमुज्झतु विधिप्रागल्भ्यमभ्यस्यता-
मस्त्वन्तर्गणमागमश्रममुपादत्तां तपस्तप्यताम् ।
श्रेयःपुञ्जनिकुञ्जभञ्जनमहावातं न चेदिन्द्रिय-
व्रातं जेतुमवेति भस्मनि हुतं जानीत सर्वं ततः ७१

मौनके धरैया गृह त्यागके करैया विधि,
रीतके सधैया पर निन्दासों अपूठे है ।
विद्याके अभ्यासी गिरिकंदराके वासी शुचि;
अंगके अचारी हितकारी बैन छूटे है ॥
आगमके पाठी मन लाय महा काठी भारी ;
कष्टके सहनहार रामाहुसों रूठे है ॥
इत्यादिक जीव सब कारज करत रीते;
इन्द्रिनके जीते विना सरवंग झूठे है ॥ ७१ ॥

धर्मध्वंसधुरीणमभ्रमरसावारीणमापत्प्रथा-
लङ्कर्मीणमशर्मनिर्मितिकलापारीणमेकान्ततः ।
सर्वान्नीनमनात्मनीनमनयात्यन्तीनमिष्टे यथा-
कामीनं कुपथाध्वनीनमजयन्नक्षौघमक्षेमभाक् ॥ ७२ ॥

धर्मतरुभंजनको महा मत्त कुंजरसे;
आपदा भंडारके भरनको करोरी है ।

१ कुमतेत्यपि पाठः.

सत्यशील रोकवेको पौढ़ परदार जैसे;
दुर्गतिके मारग चलायवेकों धोरी हैं ॥
कुमतिके अधिकारी कुनैपथके विहारी;
भद्रभाव ईंधन जरायवेकों होरी है ।
मृषाके सहाइ दुरभावनाके भाई ऐसे;
विषयाभिलाषी जीव अघके अघोरी हैं ॥ ७२ ॥

कमलाधिकार ।

निम्नं गच्छति निम्नगेव नितरां निद्रेव विष्कम्भते
चैतन्यं मदिरेव पुष्यति मदं धूम्येव धत्तेऽन्धताम् ।
चापल्यं चपलेव चुम्बति दवज्वालेव तृष्णां नय-
त्युल्लासं कुलटाङ्गनेव कमला स्वैरं परिभ्राम्यति ॥७३॥

मत्तगयन्द ।

नीचकी ओर ढरै सरिता जिम, घूम बढ़ावत नींदकी नाईं ।
चंचलता प्रघटै चपला जिम, अंध करै जिम धूमकी झाईं ॥
तेज करै तिसना दव ज्यों मद; ज्यों मद पोषित मूढके तांई ।
ये करतूति करै कमला जग; डोलत ज्यों कुलटा विन सांई ॥
दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मुष्णन्ति भूमीभुजो
गृह्णन्ति च्छलमाकलय्य हुतभुग्भस्मीकरोति क्षणात् ।
अम्भः प्लावयते क्षितौ विनिहितं यक्षा हरन्ते हठा-
द्दुर्वृत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग्बह्वधीनं धनम् ७४

बंधु विरोध करै निशवासर; दंडनकों नरवे छल जोवै।
पावक दाहत नीर बहावत, ह्वै दगओट निशाचर ढोवै ॥
भूतल रक्षित जक्ष हरै करकै दुरवृत्ति कुसंतति खोवै।
ये उतपात उठै धनके ढिग; दामधनी कहु क्यों सुख सोवै ७४

नीचस्यापि चिरं चटूनि रचयन्त्यायान्ति नीचैर्नतिं
शत्रोरप्यगुणात्मनोऽपि विदधत्युच्चैर्गुणोत्कीर्तनम् ।
निर्वेदं न विदन्ति किंचिदकृतज्ञस्यापि सेवाक्रमे
कष्टं किं न मनस्विनोऽपि मनुजाः कुर्वन्ति वित्तार्थिनः॥

घनाक्षरी।

नीच धनवंत ताहि निरख असीस देय;
वह न विलोकै यह चरन गहत है।
वह अकृतज्ञ नर यह अज्ञताको घर:
वह मद लीन यह दीनता कहत है।
वह चित्त कोप ठानै यह वाको प्रभु मानैः
वाके कुवचन सब यह पै सहत है।
ऐसी गति धारै न विचारै कछु गुण दोष;
अरथाभिलाषी जीव अरथ चहत है ॥ ७५ ॥

लक्ष्मीः सर्पति नीचमर्णवपयः सङ्गादिवाम्भोजिनी-
संसर्गादिव कण्टकाकुलपदा न कापि धत्ते पदम् ।

१. राजा.

चैतन्यं विषसंनिधेरिव नृणामुज्जासयत्यञ्जसा
धर्मस्थाननियोजनेन गुणिभिर्ग्राह्यं तदस्याः फलम् ७६

नीचहीकी ओरकों उमंग चलै कमला सो;
पिता सिंधु सलिलस्वभाव याहि दियो है ।
रहै न सुथिर ह्वै सकंटक चरन याको;
वसी कंजमाहिं कंजकैसो पद कियो है ॥
जाको मिलै हितसों अचेत कर डारै ताहि;
विषकी बहन तातैं विषकैसो हियो है ।
ऐसी ठगहारी जिन धरमके पंथडारी;
करके सुकृति तिन याको फल लियो है ॥ ७६ ॥

दानाधिकार.

चारित्रं चिनुते तनोति विनयं ज्ञानं नयत्युन्नतिं
पुष्णाति प्रशमं तपः प्रबलयत्युल्लासयत्यागमम् ।
पुण्यं कन्दलयत्यघं दलयति स्वर्गं ददाति क्रमा-
न्निर्वाणश्रियमातनोति निहितं पात्रे पवित्रे धनम् ७७

३१ मात्रा सवैया छंद ।

चरन अखंड ज्ञान अति उज्जल; विनय विवेक प्रशम अमलान ।
अनघ सुभाव सुकृति गुन संचय; उच्च अमरपद बंध विधान ॥
आगमगम्य रम्य तपकी रुचि; उद्धत मुकति पंथ सोपान ।
ये गुण प्रघट होंय तिनके घट; जे नर देहिं सुपत्तहिं दान ७७

दारिद्र्यं न तमीक्षते न भजते दौर्भाग्यमालम्बते
नाकीर्तिर्न पराभवोऽभिलषते न व्याधिरास्कन्दति ।
दैन्यं नाद्रियते दुनोति न दरः क्लिश्नन्ति नैवापदः
पात्रे यो वितरत्यनर्थदलनं दानं निदानं श्रियाम् ॥७८॥

पट्पद ।

सो दरिद्र दल मलहि; ताहि दुर्भाग न गंजहि ।
सो न लहै अपमानः सु तो विपदा भयभंजहि ॥
तिहि न कोइ दुख देहि. तासु तन व्याधि न बड्ढइ ।
ताहि कुयश परहरहि, सुमुख दीनता न कड्ढइ ॥
सो लहहि उच्चपद जगत महँ. अघ अनरथ नासहि सरब ।
कहै **कुँवरपाल** सो धन्य नर. जो सुखेत बोवै दरब ॥७८॥

लक्ष्मीः कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकते
प्रीतिश्चुम्बति सेवते सुभगता नीरोगतालिङ्गति ।
श्रेयःसंहतिरभ्युपैति वृणुते स्वर्गोपभोगस्थिति-
र्मुक्तिर्वाञ्छति यः प्रयच्छति पुमान्पुण्यार्थमर्थं निजम् ॥

घनाक्षरी ।

ताहिको सुबुद्धि वरै रमा ताकी चाह करै,
चंदन सरूप हो सुयश ताहि चरचै ।
सहज सुहाग पावै सुरग समीप आवै,
बार बार मुकति रमनि ताहि अरचै ॥
ताहिके शरीरकों अलिंगति अरोगताई,
मंगल करै मिताई प्रीत करै परचै ।

जोई नर हो सुचेत चित्त समता समेत,
धरमके हेतको सुखेत धन खरचै ॥ ७९ ॥

मन्दाक्रान्ता ।

तस्यासन्ना रतिरनुचरी कीर्तिरुत्कण्ठिता श्रीः
स्निग्धा बुद्धिः परिचयपरा चक्रवर्तित्वऋद्धिः ।
पाणौ प्राप्ता त्रिदिवकमला कामुकी मुक्तिसंपत्
सप्तक्षेत्र्यां वपति विपुलं वित्तबीजं निजं यः ॥ ८० ॥

पद्मावती ।

ताकी रति कीरति दासी सम, सहसा राजरिद्धि घर आवै ।
सुमति सुता उपजै ताके घट, सो सुरलोक संपदा पावै ॥
ताकी दृष्टि लखै शिव मारग, सो निरबंध भावना भावै ।
जो नर त्याग कपट कुंवरा कह, विधिसों सप्तखेत धन बावै ॥८०

तपप्रभावाधिकार ।

शार्दूलविक्रीडित ।

यत्पूर्वार्जितकर्मशैलकुलिशं यत्कामदावानल-
ज्वालाजालजलं यदुग्रकरणग्रामाहिमन्त्राक्षरम् ।
यत्प्रत्यूहतमःसमूहदिवसं यल्लब्धिलक्ष्मीलता-
मूलं तद्विविधं यथाविधि तपः कुर्वीत वीतस्पृहः ८१

षट्पद ।

जो पूरब कृत कर्म, पिंड गिरदलन वज्रधर ।
जो मनमथ दव ज्वाल, माल सँग हरन मेघझर ॥

जो प्रचंड इंद्रिय भुजँग, थंभन सुमंत्र वर।
जो विभाव संतम सुपुंज, खंडन प्रभात कर॥
जो लब्धि वेल उपजंत घट, तासु मूल दृढता सहित।
सो सुतप अंग बहुविधि दुविधि, करहि विबुधिबंछारहित ८१

यस्माद्विघ्नपरम्परा विघटते दास्यं सुराः कुर्वते
कामः शाम्यति दाम्यतीन्द्रियगणः कल्याणमुत्सर्पति।
उन्मीलन्ति महर्द्धयः कलयति ध्वंसं च यः कर्मणां
स्वाधीनं त्रिदिवं शिवं च भवति श्लाघ्यं तपस्तन्न किम्॥

घनाक्षरी।

जाके आदरत महा रिद्धिसों मिलाप होय,
मदन अव्याप होय कर्म बन दाहिये।
विघन विनास होय गीरवाण दास होय,
ज्ञानको प्रकाश होय भौ समुद्र थाहिये॥
देवपद खेल होय मंगलसों मेल होय,
इन्द्रिनिकी जेल होय मोषपंथ गाहिये।
जाकी ऐसी महिमा प्रघट कहै **कौंरपाल,**
तिहुंलोक तिहुंकाल सो तप सराहिये॥८२॥

कान्तारं न यथेतरो ज्वलयितुं दक्षो दवाग्निं विना
दावाग्निं न यथापरः शमयितुं शक्तो विनाम्भोधरम्।
निष्णातः पवनं विना निरसितुं नान्यो यथाम्भोधरं
कर्मौघं तपसा विना किमपरो हन्तुं समर्थस्तथा॥८३॥

मत्तगयन्द ।

जो वर कानन दाहनकों दव; पावकसों नहि दूसरो दीसै ।
जो दवआग बुझै न ततक्षण; जो न अखंडित मेघ बरीसै ॥
जो प्रघटै नहि जौलग मारुत; तौलग घोर घटा नहिं खीसै ॥
त्यों घटमें तपवज्रविना दृढ; कर्मकुलाचल और न पीसै ॥८३॥

स्रग्धरा ।

संतोषस्थूलमूलः प्रशमपरिकरस्कन्धबन्धप्रपञ्चः
पञ्चाक्षीरोधशाखः स्फुरदभयदलः शीलसंपत्प्रवालः ।
श्रद्धाम्भःपूरसेकाद्विपुलकुलबलैश्वर्यसौन्दर्यभोगः
स्वर्गादिप्राप्तिपुष्पः शिवपदफलदः स्यात्तपः[1]कल्पवृक्षः ॥

षट्पद ।

सुदृढ मूल संतोष; प्रशम गुन प्रबल पेड ध्रुव ।
पंचाचार सु शाख; शील संपति प्रवाल हुव ॥
अभय अंग दलपुंज; देवपद पहुप सुमंडित ।
सुकृतभाव विस्तार; भार शिव सुफल अखंडित ॥
परतीत धार जल सिंच किय; अति उतंग दिन दिन पुषित ।
जयवंत जगत यह सुतपतरु; मुनि बिहंग सर्वहि सुखित ॥ ८४ ॥

भावनाधिकार ।

शार्दूलविक्रीडित ।

नीरागे तरुणीकटाक्षितमिव त्यागव्यपेत[2]प्रभोः
सेवाकष्टमिवोपरोपणमिवाम्भोजन्मनामश्मनि ।

१. तपः पादपोऽयमित्यपि पाठः. २. त्यागव्ययेन प्रभोः इत्यपि पाठः.

विष्वग्वर्षमिवोपरक्षितितले दानार्हदर्चातपः-
स्वाध्यायाध्ययनादि निष्फलमनुष्ठानं विना भावनाम्॥

पद्मावती छन्द ।

ज्यों नीराग पुरुषके सनमुख; पुरकामिनि कटाक्ष कर ऊठी ।
ज्यों धन त्यागरहित प्रभुसेवन; ऊसरमें बरषा जिम छूठी ॥
ज्यों शिलमाहिं कमलको बोवन; पवन पकर जिम बांधिये मूठी ।
ये करतूति होंय जिम निष्फल; त्यों विनभावक्रिया सब झूंठी ८५

सर्वं जीप्सति पुण्यमीप्सति दयां धित्सत्यघं भित्सति
क्रोधं दित्सति दानशीलतपसां साफल्यमादित्सति ।
कल्याणोपचयं चिकीर्षति भवाम्भोधेस्तटं लिप्सते
मुक्तिस्त्रीं परिरिप्सते यदि जनस्तद्भावयेद्भावनाम् ८६

घनाक्षरी ।

पूरब करम दहै; सरवज्ञ पद लहै;
गहै पुण्यपंथ फिर पापमैं न आवना ।
करुनाकी कला जागै कठिन कषाय भागै;
लागै दानशील तप सफल सुहावना ॥
पावै भवसिंधु तट खोलै मोक्षद्वार पट;
शर्म साध धर्मकी धरामैं करै धावना ।
एते सब काज करै अलखको अंग धरै;
चेरी चिदानंदकी अकेली एक भावना ॥ ८६ ॥

पृथ्वी ।

विवेकवनसारिणीं प्रशमशर्मसंजीवनीं
भवार्णवमहातरीं मदनदावमेघावलीम् ।
चलाक्षमृगवागुरां गुरुकषायशैलाशनिं
विमुक्तिपथवेसरीं भजत भावनां किं परैः ॥ ८७ ॥

प्रशमके पोषवेको अम्रतकी धारासम;
ज्ञानवन सींचवेको नदी नीरभरी है ।
चंचल करण मृग बांधवेको वागुरासी;
कामदावानल नासवेको मेघ झरी है ॥
प्रबल कषायगिरि भंजवेको बज्र गदा,
भौ समुद्र तारवेको पौढी महा तरी है ।
मोक्षपन्थ गाहवेको वेशरी विलासतकी,
ऐसी शुद्ध भावना अखंड धार ढरी है ॥ ८७ ॥

शिखरिणी ।

धनं दत्तं वित्तं जिनवचनमभ्यस्तमखिलं
क्रियाकाण्डं चण्डं रचितमवनौ सुप्तमसकृत् ।
तपस्तीव्रं तप्तं चरणमपि चीर्णं चिरतरं
न चेच्चित्ते भावस्तुषवपनवत्सर्वमफलम् ॥ ८८ ॥

अभानक छन्द ।

गह पुनीत आचार, जिनागम जोवना ।
कर तप संजम दान, भूमि का सोवना ॥

---

१. अश्वतरी अर्थात् खच्चरी.

ए करनी सब निफल, होय विन भावना।
ज्यों तुष बोए हाथ, कछू नहिं आवना ॥ ८८ ॥

वैराग्याधिकार।

हारिणी।

यदशुभरजःपाथो दृप्तेन्द्रियद्विरदाङ्कुशं
कुशलकुसुमोद्यानं माद्यन्मनःकपिशृङ्खला।
विरतिरमणीलीलावेश्म स्मरज्वरभेषजं
शिवपथरथस्तद्वैराग्यं विमृश्य भवाभयः ॥ ८९ ॥

घनाक्षरी।

अशुभता धूर हरवेको नीर पूर सम,
विमल विरत कुलवधूको सुहाग है।
उदित मदन जुर नाशवेको जुराकुश,
अक्षराज थंभनको अंकुशको दाग है ॥
चंचल कुमन कपि रोकवेको लोहफन्द,
कुशल कुसुम उपजायवेको बाग है।
सुधा मोक्षमारग चलायवेको नाभी रथ,
ऐसो हितकारी भयभंजन विराग है ॥ ८९ ॥

वसन्ततिलका।

चण्डानिलः स्फुरितमब्दचयं दवार्चि-
र्वृक्षव्रजं तिमिरमण्डलमर्कबिम्बम्।
वज्रं महीध्रनिवहं नयते यथान्तं
वैराग्यमेकमपि कर्म तथा समग्रम् ॥ ९० ॥

अभानक छन्द ।

ज्यों समीर गंभीर, घनाघन छय करै ।
वज्र विदारै शिखर, दिवाकर तम हरै ॥
ज्यों दव पावक पूर, दहै वनकुंजको ।
त्यों भंजै वैराग, करमके पुंजको ॥ ८० ॥

शिखरिणी ।

नमस्या देवानां चरणवरिवस्या शुभगुरो-
स्तपस्या निःसीमक्लमपदमुपास्या गुणवताम् ।
निषद्यारण्ये स्यात्करणदमविद्या च शिवदा
विरागः क्रूरागःक्षपणनिपुणोऽन्तः स्फुरति चेत् ॥

पद्मावती छन्द ।

कीनी तिन सुदेवकी पूजा, तिन गुरुचरणकमल चित लायो ।
सो वनवास वस्यो निशवासर, तिन गुनवंत पुरुष यश गायो ॥
तिन तप लियो कियो इन्द्री दम, सो पूरन विद्या पद आयो ।
सब अपराध गए ताको तज, जिन वैराग्यरूप धन पायो॥८१॥

शार्दूलविक्रीडित ।

भोगान्कृष्णभुजङ्गभोगविषमान्राज्यं रजःसंनिभं
बन्धून्बन्धनिबन्धनानि विषयग्रामं विषान्नोपमम् ।
भूतिं भूतिसहोदरां तृणतुलं स्त्रैणं विदित्वा त्यजं-
स्तेष्वासक्तिमनाविलो विलभते मुक्तिं विरक्तः पुमान् ॥

घनाक्षरी छन्द ।

जाकों भोग भाव दीसैं कारे नागकेसे फन,
राजको समाज दीखै जैसो रजकोष है ।
जाको परवारको बढाव परबंध सूझै,
विषै सुख भोजकों विचारै विषपोष है ॥
लसैं यों विरति ज्यों भसमिकों विभूति कहै,
वनिता विलासमैं विलोकै दह दोष है ।
ऐसो ज्ञान त्यागी यह महिमा विरागताकी,
ताहीको वैराग सही ताकै ढिग मोष है ॥ ९२ ॥

इति २२ अधिकार समाप्तम

अथ उपदेश गाथा ।

उपेन्द्रवज्रा ।

जिनेन्द्रपूजा गुरुपर्युपास्तिः सत्त्वानुकम्पा शुभपात्रदानम् ।
गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य नृजन्मवृक्षस्य फलान्यमूनि ९३

मत्तगयन्द ।

कै परमेश्वरकी अरचा विधि, सो गुरुकी उपसर्पन कीजे ।
दीन विलोक दया धरिये चित, प्रासुक दान सुपत्तहि दीजे ॥
गाहक ह्वै गुनको गहिये, रुचिसों जिन आगमको रस पीजे ।
ये करनी करिये ग्रहमें बस, यों जगमें नरभौफल लीजे ॥ ९३ ॥

शिखरिणी ।

त्रिसंध्यं देवार्चां विरचय चयं प्रापय यशः
श्रियः पात्रे वापं जनय नयमार्गं नय मनः ।

स्मरक्रोधाद्यारीन्दलय कलय प्राणिषु दयां
जिनोक्तं सिद्धान्तं शृणु वृणु जवान्मुक्तिकमलाम् ॥

हरिगीता छन्द ।

जो करै साध त्रिकाल सुमरण, जास जगयश विस्तरै ।
जो सुनै परमागमहि सुरुचिसों, नीति मारग पग धरै ॥
जो निरख दीन दया प्रभुंज, कामक्रोधादिक हरै ।
जो सुधन सम सुखेत खरचै, ताहि शिवसपति बरै ॥ १४ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

कृत्वार्हत्पदपूजनं यतिजनं नत्वा विदित्वागमं
हित्वा सङ्गमधर्मकर्मठधियां पात्रेषु दत्वा धनम् ।
गत्वा पद्धतिमुत्तमक्रमजुषां जित्वान्तरारिव्रजं
स्मृत्वा पञ्चनमस्क्रियां कुरु करक्रोडस्थमिष्टं सुखम् ॥

वस्तु छन्द ।

देव पूजहि देव पूजहिं, रचहि गुरु सेव ।
परमागमरुचि धरहि, तजहि दुष्टसगत ततक्षण ।
गुणि संगति आदरहिं, करहि त्याग दुर्भक्ष भक्षण ॥
देहि सुपात्रहि दान नित, जपै पचनवकार ।
ये करनी जे आचरहिं, ते पावैं भवपार ॥ १५ ॥

हारिणी ।

प्रसरति यथा कीर्तिर्दिक्षु क्षपाकरसोदरा-
भ्युदयजननी याति स्फीतिं यथा गुणसन्ततिः ।
कलयति यथा वृद्धिं धर्मः कुकर्महतिक्षमः
कुशलसुलभे न्याय्ये कार्यं तथा पथि वर्तनम् ॥ १६ ॥

दोहा छन्द ।

गुन अरु धर्म सुथिर रहै, यश प्रताप गंभीर ।
कुशल वृक्ष जिम लह लहै, तिहिं मारग चल बीर ! ॥१६॥

शिखरिणी ।

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणमनं
मुखे सत्या वाणी श्रुतमधिगतं च श्रवणयोः ।
हृदि स्वच्छा वृत्तिर्विजयि भुजयोः पौरुषमहो
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥ १७ ॥

कवित्त छन्द ।

वदन विनय मुकट सिर ऊपर, सुगुरुवचन कुंडल जुगकान ।
अमर शत्रुविजय भुजमंडन, मुकतमाल उर गुन अमलान ॥
त्याग सहज कर कटक विराजत, शोभित सत्य बचन मुख पान ।
भूषण तजहिं तऊ तन मंडित, यौं सत्पुरुष परधान ॥ १७ ॥

भवारण्यं मुक्त्वा यदि जिगमिषुर्मुक्तिनगरीं
तदानीं मा कार्षीर्विषयविषवृक्षेषु वसतिम् ।
यतश्छायाप्येषां प्रथयति महामोहमचिरा-
दयं जन्तुर्यस्मात्पदमपि न गन्तुं प्रभवति ॥ १८ ॥

नोट–नीचे लिखे तीन काव्योंके मूल श्लोक नहीं मिले

घनाक्षरी ।

रहै जे सुजन रीत गुणीसों निबाहै प्रीत,
सेवा साधि गुरुकी विनैसों कर जोरकै ।

१ इस मूल श्लोकका भाषानुवाद किसी भी प्रतिमें नहीं है ।

विद्याको विसनधरैं परतिय संग हरैं,
दुर्जनकी संगतिसों बैठे मुख मोरकैं ॥
तजैं लोकनिन्द्य काज पूजैं देव जिनराज,
करैं जे करन थिर उमंग बहोरकैं ।
तेई जीव सुखी होंय तेई मोख सुखी होंय,
तेई होंहि परम करम फन्द तोरकैं ॥ १ ॥
परनिन्दा त्याग कर मनमें वैराग धर,
क्रोध मान माया लोभ चारों परिहर रे ॥
हिरदेमें तोष गहु समतासों सीरो रहु,
धरमको भेद लहु खेदमें न पर रे ॥
करमको वंश खोय मुकतिको पन्थ जोय,
सुकृतिको बीजबोय दुर्गतिसों डर रे ।
अरे नर ऐसो होहि बार बार कहूं तोहि,
नहि तो भिखार तूं निगोद तेरो घर रे ॥ २ ॥

३१ मात्रा सवैया छन्द ।

आलस त्याग जाग नर चेतन, बल संभार मत करहु विलंब ।
इहां न सुख लवलेश जगतमहिं, निब विरषमें लगै न अंब ॥
तातैं तूं अंतर विपक्ष हर, कर विलक्ष निज अक्षकदंब ।
गह गुन ज्ञान बैठ चारितरथ, देहु मोष मग सन्मुख बंब ॥३॥

मालिनी ।

अभजदजितदेवाचार्यपट्टोदयाद्रि-
द्युमणिविजयसिंहाचार्यपादारविन्दे ।

मधुकरसमतां यस्तेन सोमप्रभेण
व्यरचि मुनिपनेत्रा सूक्तिमुक्तावलीयम् ॥ ९९ ॥

कवित्त छन्द ।

जैन वंश सर हंस दिगम्बर; मुनिपति अजितदेव अति आरज ।
ताके पद वादीमदभंजन; प्रगटे विजयसेन आचारज ॥
ताके पट्ट भये सोमप्रभ; तिन ये ग्रन्थ कियो हित कारज ।
जाके पढत सुनत अवधारत, ह्वै सुपुरुष जे पुरुष अनारज ॥९९॥

इन्द्रवज्रा ।

सोमप्रभाचार्यमभा च लोके वस्तु प्रकाशं कुरुते यथाशु ।
तथायमुच्चैरुपदेशलेशः शुभोत्सवज्ञानगुणांस्तनोति ॥१००॥

भाषाग्रन्थकर्त्ताकी ओरसे नामादि.

दोहा छंद ।

नाम सूक्तिमुक्तावली; द्वाविंशति अधिकार ।
शत श्लोक परमान सब; इति ग्रन्थविस्तार ॥ १ ॥
कुँवरपाल बानारसी; मित्र जुगल इकचित्त ।
तिनहि ग्रन्थ भाषा कियो; बहुविधि छन्द कवित्त ॥ २ ॥
सोलहसै इक्यानवे; ऋतु ग्रीषम वैशाख ।
सोमवार एकादशी; करनक्षत्र सित पाख ॥ ३ ॥

इति श्रीसोमप्रभाचार्यविरचिता सिन्दूरप्रकरापरपर्याया सूक्तिमुक्तावली भाषाछन्दानुवादसहिता समाप्ता ।

१ इस श्लोकका भाषा छंद भी नहीं मिला.

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

राजर्षिरमोघवर्षकृता

प्रश्नोत्तररत्नमालिका ।

जिसको

बेरनीनिवासी श्रीयुत जिनवरदासने

भाषानुवादित किया

और

मुम्बईके-जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालयने

मुम्बईके

श्रीगणेश प्रिंटिंग प्रेसमें छपाकर

प्रसिद्ध किया

वीरनिर्वाण संवत् २४३४ । ईसवी सन् १९०८ ।

प्रथमबार १००० प्रति] [मूल्य दो आने ।

भूमिका।

यह छोटीसी पुस्तक इस लिये प्रकाशित की जाती है कि हमारे समाजके लोगोंमें विशेषकर बालक गणोंमें इसे कंठ करनेकी प्रवृत्ति हो जावे। बालकगण इसे कंठाग्र रखकर यदि परस्पर प्रश्नोत्तर किया करेंगे, तो विनोदके साथ २ अमूल्य २ शिक्षाओंका लाभ भी होगा। महाराज अमोघवर्षकी प्रश्नोत्तररत्नमालाके सिवाय उपयोगी समझकर एक अज्ञान विद्वानकी बनाई हुई प्रश्नोत्तरमाला भी इसमें संग्रह की जाती है। ये दोनों मालायें कुछ दिन पहले जैनमित्रमें पं० लालारामजीके द्वारा सार्थ प्रकाशित हो चुकी हैं। हम उन्हें कुछ फेरफारके साथ ढंग बदलकर प्रसिद्ध करते है। आशा है कि हमारा ढंग पाठकोंको रुचिकर होगा।

प्रश्नोत्तररत्नमालाके कर्त्ता राष्ट्रकूटवंशीय राजा अमोघवर्ष हैं जो कि-परम दिगम्बरजैन थे। आदि पुराणके कर्त्ता भगवज्जिनसेनाचार्य उनके गुरु थे। इस विषयमें हम यहां स्वयं कुछ न लिखकर जैनमित्रके अंक ३ वर्ष ८ में श्रीनाथूराम प्रेमीका लिखा हुआ जो लेख प्रकाशित हुआ है, उसका अन्तिम भाग उद्धृत कर देते हैं। इससे पाठकोंको इस छोटीसी किन्तु अपूर्व पुस्तकका सविशेष परिचय मिलैगा।

सरस्वती सेवकः—

जिनवरदास गुप्त।

प्रश्नोत्तररत्नमाला और राजा अमोघवर्ष ।

यह प्रश्नोत्तररत्नमाला एक २९ श्लोककी छोटीसी कविता है । परन्तु ऐसी सुन्दर और मनोहर है कि, इसे रत्नमाला कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता । प्रत्येक धर्मके अनुयायी इसके उपदेशोंपर प्रसन्नतासे चल सकते हैं । इसका एक एक श्लोक अमूल्य है । " अच्छी वस्तुका स्वामी हर कोई बनना चाहता है " इस न्यायसे आज इसके चार मतवाले स्वामी बनाना चाहते हैं । १ शंकराचार्यके अनुयायी, २ शुकदेवके अनुयायी, ३ श्वेताम्बरी और ४ दिगम्बरी । इनमेंसे पहले दोके अनुयायियोंने तो इसमें अपने मतके पुष्ट करनेवाले छह सात श्लोक नये बनाकर मिला दिये हैं और मंगलाचरण और प्रशस्तिके आदि अन्तके दो श्लोक निकाल दिये हैं । परन्तु ऊपरसे मिलाये हुए श्लोक रत्नोंमें काचखंडकी तरह पृथक् जान पड़ते हैं । यह सम्पूर्ण ग्रन्थ आर्याछन्दमें है परंतु मिलाये हुए श्लोक वसन्ततिलका छन्दमें है, यह बात विचारणीय है । इससे जान पड़ता है कि, उक्त श्लोक पीछेसे कीसीने

---

१ सेव्यं सदा किं गुरुवेदवाक्यं ॥ . ॥ कार्या प्रिया का शिवविष्णु भक्तिः ... ॥७॥ किं कर्म कृत्वा नहि शोचनीयं, कामारिकंसारि समर्चनाख्यम् ॥ २० ॥ उपस्थिते प्राणहरे कृतान्ते किमाशु कार्यं सुधिया प्रयत्नात् । वाक्कायचित्तैः सुखदं यमघ्नं मुरारिपादम्बुजमेव चिन्त्यम् ॥ २४ ॥ .... किं कर्म यत्प्रीतिकरं मुरारेः ... ॥ ३० ॥

२ प्रणिपत्य वर्धमानं प्रश्नोत्तररत्नमालिकां वक्ष्ये ।
नागनरामरवन्द्यं देवं देवाधिपं वीरम् ॥ १ ॥

मिला दिये हैं परंतु मिलानेवालेने बडी गलती की है कि, उनको आर्याछन्दमें नहीं बनाया । प्रशस्तिके श्लोकके स्थानमें दोनोंने गद्य रक्खा है, जिससे भी आभास होता है कि, इसमें जालसाजी की गई है । यदि शंकराचार्य और शुकदेव ही यथार्थ बनानेवाले होते, तो वे इस छोटीसी कवितामें अपना नाम पद्यहीमें देते. गद्यमें देनेकी आवश्यकता नहीं थी । क्योंकि ऐसी कविताओंमें जिन्हें कि लोग कंठस्थ रखते हैं, गद्यमें लिखनेकी परिपाठी कम है ।

तीसरे अधिकारी श्वेताम्बरी भाई हैं वे इसे अपने आचार्य विमलदाससूरिकी बनाई हुई बतलाते हैं और प्रशस्तिमें नीचे लिखा हुआ श्लोक पढते है,---

रचिता सितपटगुरुणा विमला विमलेन रत्नमालेव ।
प्रश्नोत्तरमालेयं कंठगता किं न भूषयति ॥

इस प्रशस्तिके सिवाय उनके पास और कोई प्रमाण श्वेताम्बरीय आचार्यकी कृति सिद्ध करनेका नहीं है । शेष २८ श्लोक वे ज्योंके त्यों मानते है । आचार्य **विमलदास** कब हुए, उन्होंने कौन २ ग्रन्थ बनाये और उन ग्रन्थोंमें उन्होंने इस कविताका जिकर

---

१ इति श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचिता प्रश्नोत्तरमाला समाप्ता । (राजा राजेन्द्रलालमित्र संग्रहीत हस्तलिखित संस्कृतपुस्तकोंकी सूचि जिल्द २ पृष्ट ३५५ और बम्बईकी छपी हुई अनेक आवृत्तियां)

इति श्रीशुकयतीन्द्रविरचिता प्रश्नोत्तरमाला समाप्ता । (बंगाल एशियाटिक सुसायटीका जनरल, जिल्द १६ भाग २ पृष्ट १२३५)

२ इंडियन एण्टिकेरी जिल्द १०, पृष्ठ २७८ और काव्यमाला सप्तमगुच्छक पृष्ट १२३ ।

किया है कि, नहीं इसका संतोषप्रद उत्तर श्वेताम्बरी भाइयोंकी ओरसे नहीं मिलता।

चौथे अधिकारी दिगम्बरी भाई हैं। वे प्रशस्तिमें निम्नश्लोक पढ़ते हैं;—

विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।

रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः ॥ २९ ॥

अर्थात् विवेकसे जिसने राज्य छोड़कर दीक्षा ले ली है, ऐसे राजा **अमोघवर्षने** यह विद्वानोंके लिये सुन्दर आभूषणरूप **रत्नमाला** बनाई है।

अब यह विचार करना चाहिये कि, राजा **अमोघवर्ष** कौन था और कब हुआ। प्राचीन इतिहासोंके देखनेसे जाना जाता है कि, अमोघवर्ष यह नाम नहीं किन्तु पदवी थी. दक्षिणमें राज्य करनेवाले राष्ट्रकूटवंशके (राठौरवंशके) चार राजाओंने और मालवेके परमार वंशीय राजा **मुंजने** धारण की थी। इनमें राठौर राजा अमोघवर्ष प्रथम और परमार राजा मुंज ये दो ही विद्वान् और कवि थे. शेष तीनके विद्वान् होनेमें कोई प्रमाण नहीं मिलता है और उनमेंसे किसीने भी छह वर्षसे अधिक राज्य नहीं किया।

परमार राजा **मुंज** जिसका दूसरा नाम **वाक्पतिराज** भी था, प्रसिद्ध राजा **भोजका** पितृव्य (बड़ा काका) था और उसकी सभामें **अमितगति** (धर्मपरीक्षा—सुभाषितरत्नसंदोह—श्रावकाचार आदि जैनग्रन्थोंके कर्त्ता), **धनपाल** (तिलकमंजरी महाकाव्यके

---

१ इंडियन एण्टिक्वेरी जिल्द १२, पृष्ठ २७८ बम्बई गेजेटिअर जिल्द १ भाग २ पृष्ठ २०१ और दिगम्बरीय भंडारोंकी अनेक प्रतियां।

कर्त्ता श्वेताम्बरीय), **पद्मगुप्त धनंजय** (दशरूपकके कर्त्ता), **धनिक, हलायुध,** आदि अनेक विद्वान् थे। यह स्वयं विद्वानथा परन्तु सुभाषितावली आदि ग्रन्थोंमें थोड़ेसे श्लोकोंके सिवाय और कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उसका आजकल नहीं मिलता है। हो सकता था, कि प्रश्नोत्तररत्नमालाके कर्त्ता यही हों, परन्तु प्रशस्तिके श्लोकमें जो "विवेकसे राज्य छोडनेवाले" ऐसा पद दिया है, वह इसके विषयमें घटित नहीं हो सकता। क्योंकि यह राज्य छोड़के दीक्षित नहीं होने पाया था और **कल्याणके चालुक्य** (सोलंकी) राजा तैलपपर चढाई करनेके समय कैद होकर मारा गया था। अतएव प्रश्नोत्तररत्नमालाका कर्त्ता मुंज नहीं हो सकता।

अब राष्ट्रकूटवंशीय प्रथम **अमोघवर्षके** विषयमें विचार कीजिये। यह दक्षिणके **बनवास** देशका राजा था और **बंकापुर** इसकी राजधानी थी। यह बड़ा भारी विद्वान् थी और **कविराज** इसकी उपाधि थी। इसका बनाया हुआ **कविराजमार्ग** नामका एक अलंकारग्रन्थ कर्णाटकी भाषामें मिलता है। इसने ६० वर्षके लगभग राज्य करके अपने पुत्र **कृष्णराजको** (अकालवर्षको) राज्य देकर जिनदीक्षा ले ली थी।

---

१ बंकापुरे जिनेन्द्राङ्घ्रिसरोजे दिन्दिरोपमः । अमोघवर्षनामाभून्महाराजो महोदयः ॥ (पार्श्वाभ्युदयकाव्यकी सुबोधिका टीका ।)

२ अकालवर्ष शक संवत् ८२० में जब कि जिनसेनके शिष्य श्रीगुणभद्राचार्यने उत्तर पुराण बनाया था, विद्यमान था। उन्होंने उत्तर पुराणकी प्रशस्तिमें लिखा है:—

अकालवर्षभूपाले, पालयत्यखिलामिलाम् ।
तस्मिन् विध्वस्तनिःशेषद्विषि वीध्रयशोजुषि ॥
बनवासदेशमाखिलं भुञ्जति निष्कण्टकं सुखं सुचिरम् ।
तत्पितृनिजनामकृते ख्याते बङ्कापुरेष्वधिके ॥

जिनधर्मका यह परमभक्त था। आदि-पुराणके कर्त्ता भगवान् जिनसेनाचार्य इसके गुरु थे। कहते हैं कि, महाराज कुमारपालके समयमें श्वेताम्बरियोंका जैसा अभ्युदय श्रीहेमचन्द्राचार्यके कारण हुआ था, महाराज अमोघवर्षके समयमें उससे भी कहीं बढकर अभ्युदय दिगम्बरियोंके भगवज्जिनसेनाचार्यके प्रभावसे हुआ था।

मेघदूतकाव्यकर्ता कालिदासने इसी अमोघवर्षकी सभामें जाकर अपने काव्यका गर्व किया था, जिसे दलित करनेके लिये भगवज्जि-नसेनजीने पार्श्वाभ्युदयकाव्य बनाया था। यह काव्य ऐसा अपूर्व और चमत्कारकारि बना है कि, इसे पढकर विधर्मीगण भी वाह २ करते है। इसमें मेघदूत काव्य पूराका पूरा वेष्टित है। कालिदास इसे सुनकर निष्प्रभ हो गया था।

इसप्रकार राठौड़ महाराज अमोघवर्षके विषयमें दोनों बातें सिद्ध होती हैं, एक तो यह कि वे स्वयं विद्वान् और विद्वा-नोंका आदर करनेवाले थे, और दूसरे उन्होंने विवेकसे राज्य छोड़कर जिनदीक्षा ले ली थी। इससे निश्चय होता है कि, प्रश्नोत्त-रत्नमालाके कर्त्ता ये ही अमोघवर्ष थे। परन्तु इतना कहनेसे ही हमारे विद्वान् पाठक कदाचित् इस बातपर विश्वास कर सकेंगे। इस लिये एक अत्यन्त पुष्ट प्रमाण उनके सन्मुख उपस्थित किया जाता है। वह यह कि, ईस्वी सनकी ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें प्रश्नोत्तररत्नमालाका तिब्बती भाषामें एक अनुवाद हुआ है उसमें लिखा है कि, यह ग्रन्थ बड़े राजा अमोघवर्षने संस्कृतमें बनाया था और हमारे (दिगम्बरजैन) भंडारमें मिली हुई पुस्तकोंमें भी यही लिखा हुआ है। इससे अमोघवर्ष दिगम्बरजैनधर्मका अनु-यायी था और उसीने इस पुस्तकका निर्म्माण किया था, इसमें अब कोई सन्देह बाकी नहीं रहा है। धन्यवाद है उस तिब्बती ग्रन्थकर्ताको जिसने एक विदेशी भाषामें अनुवादकरके भी मूल

ग्रन्थका नाम देनेकी आदरणयि उदारता दिखलानेमें त्रुटि नहीं की आज उसीकी उदारतासे हमको यह निश्चय करनेका पुष्ट प्रमाण मिला है कि, यह ग्रन्थ यथार्थमें किसका है। अन्यथा जो जिसके जीमें आता था कहता था। महाराज अमोघवर्षका राज्याभिषेक शक संवत् ७३७ (विक्रम संवत् ८७२) में हुआ था। शक संवत् ७९७ (विक्रम संवत ९३२) से पूर्व उन्होंने राज्य छोड दिया था। और ७९९ (वि० संवत ९३४) तक वे विद्यामान थे। इसके पीछे किसी समयमें उनका देहान्त हुआ होगा। ऐसा प्राचीन लेखों और ताम्रपत्रोंसे निश्चित हुआ है। अतएव यदि राज्य छोडनेके पश्चात् मुनि अवस्थामें उन्होंने प्रश्नोत्तररत्नमाला बनाई हो तो उसका समय विक्रम संवत् ९३२ के लगभग स्थिर हो सकता है।

उपसंहारमें हम उन महाशयोंसे जो प्रश्नोत्तररत्नालाके अधिकारी बनते हैं, प्रार्थना करते हैं कि, महाराज अमोघवर्षने प्रश्नोत्तर-रत्नमाला जगत्के उपकारके लिये बनाई है उसके उपदेशसे लाभ उठानेका ठेका किसी एक सम्प्रदायको नहीं है। इस लिये आप सब लोग प्रसन्नतासे उसका पाठ कीजिये छपाइये परन्तु किसीकी कृतिको नष्ट करके उसके अपना व अपने आचार्योंका स्वत्व स्थापित करना बुद्धिमानोंका कर्तव्य नहीं है। इसलिये जिस रूपमें वह है उसी रूपमें पठनपाठनमें लाइये अन्यथा आपके कारण आपके आचार्योंको इस श्लोकका निशाना बनाना पड़ेगा:—

कृत्वा कृतीः पूर्वकृता पुरस्तात्मत्यादरं ताः पुनरीक्षमाणः।
तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा स काव्यचोरोऽस्तु स पातकी च॥

इत्यलम् विस्तेरण • (यशस्तिलकचम्पुकाव्ये)

चन्दाबाड़ी
६—११—०६

धर्मसेवक—
नाथूराम प्रेमी।

ॐ

श्रीमद्राजर्षिरमोघवर्षकृता ।

प्रश्नोत्तररत्नमालिका ।

आर्या ।

प्रणिपत्य वर्धमानं
प्रश्नोत्तररत्नमालिकां वक्ष्ये ।
नागनरामरवन्द्यं
देवं देवाधिपं वीरम् ॥ १ ॥

भवनवासी कल्पवासी देव—और मनुष्योंकरके बंदनीक, देवाधिदेव वर्धमान श्रीवीरनाथ अर्हन्तदेवको नमस्कार करके मैं (अमोघवर्ष) इस प्रश्नोत्तररत्नमालिकाको कहता हूं ॥ १ ॥

कः खलु नालंक्रियते
दृष्टादृष्टार्थसाधनपटीयान् ।
कण्ठस्थितया विमल-
प्रश्नोत्तर-रत्नमालिकया ॥ २ ॥

प्रत्यक्ष और आगमकथित पदार्थोंके जाननेमें चतुर ऐसा कौन पुरुष है, जो कंठमें धारण की हुई निर्मल प्रश्नोत्तररत्नमालाके द्वारा अपनेको अलंकृत न करै ? अर्थात् कोई नहीं । भावार्थ—इस रत्नमालाके धारण करनेसे सभी श्रृंगारित होंगे ॥ २ ॥

भगवन् किमुपादेयम्
गुरुवचनं हेयमपि च किमकार्यम्।
को गुरुरधिगततत्त्वः
सत्वहिताभ्युद्यतः सततम् ॥ ३ ॥

१ प्रश्न—(**भगवन् उपादेयं किम्**—) हे भगवन् उपादेय (ग्रहण करनेयोग्य) क्या है ? उत्तर—(**गुरुवचनम्**) गुरुके वचन। २ प्रश्न—(**हेयमपि च किम्**-) और हेय अर्थात् त्याग करने योग्य क्या है ? उत्तर—(**अकार्यम्**-) अकार्य (निन्द्यकार्य)। ३ प्रश्न—(**को गुरुः**) गुरु कौन है। उत्तर—(**अधिगततत्त्वः सत्वहिताभ्युद्यतः सततम्**-) जो निरन्तर ही प्राणियोंके हित करनेमें उद्यत हो और जो सम्पूर्ण तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञाता हो ॥ ३ ॥

त्वरितं किं कर्तव्यं
विदुषा संसारसंततिच्छेदः।
किं मोक्षतरोर्बीजं
सम्यग्ज्ञानं क्रियासहितम् ॥ ४ ॥

४ प्रश्न—(**विदुषा त्वरितं किं कर्तव्यं**) विद्वान् पुरुषोंको कौनसा कार्य शीघ्र ही करना चाहिये। उत्तर—(**संसारसन्ततिच्छेदः**) संसारपरंपराका छेद अर्थात् जन्ममरणरूपी परिभ्रमणका नाश शीघ्र ही करना उचित है। ५ प्रश्न—(**मोक्षतरोः बीजं किं**) मोक्षरूपी वृक्षका बीज (कारण) क्या है ? उत्तर—(**क्रियासहितं सम्यग्ज्ञानं**) सम्यक्चारित्रसहित सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान

दोनों सहभावी हैं । बिना सम्यग्दर्शनके सम्यग्ज्ञान नहिं हो सक्ता इसलिये सम्यग्ज्ञानके कहनेसे सम्यग्दर्शनको भी सूचितकर दिया अतः सम्यग्दर्शन, समग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षरूपी वृक्षके बीज हैं ॥ ४ ॥

किं पथ्यदनं धर्मः
कः शुचिरिह यस्य मानसं शुद्धम् ।
कः पण्डितो विवेकी
किं विषमवधीरिता गुरवः ॥ ५ ॥

६ प्रश्न—(**पथिअदनं किं**) परलोककी यात्रा करनेवाले जीवोंको मार्गके लिये पाथेय (कलेवा) क्या है ? उत्तर—(**धर्मः**) एकधर्म । ७ प्रश्न (**कः शुचिः इह**) इस संसारमें शुद्ध कौन है ? उत्तर—(**यस्य मानसं शुद्धम्**) जिसका चित्त शुद्ध है । ८ प्रश्न—(**कः पण्डितः**) पण्डित कौन है । उत्तर—(**विवेकी**) जिसको हित अहितका विवेक है । ९ प्रश्न (**किं विषमं**) विष क्या है । उत्तर—(**अवधीरिता गुरवः**) तिरस्कार किये हुए गुरु अर्थात् गुरुओंका तिरस्कार करना सो विष है ॥ ५ ॥

किं संसारे सारं
बहुशोऽपि विचिन्त्यमानमिदमेव ।
मनुजेषु दृष्टतत्त्वं
स्वपरहितायोद्यतं जन्म ॥ ६ ॥

१० प्रश्न—(**कि संसारे सारं**) इस संसारमें सार क्या है । उत्तर

(बहुशोऽपि विचिन्त्यमानमिदमेव मनुजेषु दृष्टतत्त्वं स्वपर-हितायोद्यतं जन्म) मनुष्ययोनिमें ऐसा जन्म लेना कि, जिसमें सम्पूर्ण तत्त्वोंको देखा और पढा हो तथा जो अपने और दूसरोंके हितमें सदा उद्यत हो यही सार है सो बहुत बार विचार कर आचार्योंने निश्चय कर कहा है ॥ ६ ॥

मदिरेव मोहजनकः
कः स्नेहः के च दस्यवो विषयाः ।
का भववल्ली तृष्णा
को वैरी नन्वनुद्योगः ॥ ७ ॥

११ प्रश्न—(मदिरेव मोहजनकः कः) मदिराके समान मोहको उत्पन्न करनेवाला कौन है । उत्तर—(स्नेहः) स्नेह—प्रेम वा मोह । १२ प्रश्न—(के च दस्यवः) इसजीवके रत्नत्रयोंका चौर कौन है । उत्तर—(विषयाः) इन्द्रियोंके विषय हैं । १३ प्रश्न—(का भववल्ली) संसारके बढानेवाली बेल कौन है । उत्तर—(तृष्णा) भोगोंकी आशा । १४ प्रश्न—(को वैरी) जीवका शत्रु कौन है । उत्तर—(नन्वनुद्योगः) उद्योग न करना ही निश्चयसे इस जीवका बैरी है ॥ ७ ॥

कस्माद्भयमिह मरणा-
दन्धादपि को विशिष्यते रागी ।
कः शूरो यो ललना-
लोचनबाणैर्न च व्यथितः ॥ ८ ॥

१५ प्रश्न-(कस्माद्भयमिह) इस संसारमें भय किससे होता है) उत्तर-(मरणात्) मरणसे। १६ प्रश्न-(अन्धादपि को विशिष्यते। नेत्रान्धसे भी अधिक अन्धा कौन है उत्तर-(रागी) रागयुक्त जीव। १७ प्रश्न-(कः शूरः) शूरवीर कौन है। उत्तर-(यो ललनालोचनबाणैर्न च व्यथितः) जो पुरुष स्त्रीके चंचल नेत्रोंके कटाक्षबाणोंसे व्यथित नहीं हुआ है ॥ ८ ॥

पातुं कर्णाञ्जलिभिः
किममृतमिव बुध्यते सदुपदेशः।
किं गुरुताया मूलं
यदेतदप्रार्थनं नाम ॥ ९ ॥

१८ प्रश्न-(पातुं कर्णाञ्जलिभिः किममृतमिव बुध्यते) कर्णरूपी अंजुलिसे अमृतके समान पीनेयोग्य क्या पदार्थ है । उत्तर-(सदुपदेशः) श्रेष्ठ उपदेश। १९ प्रश्न-(किं गुरुताया मूलं) गुरुताकी (गम्भीरताकी) जड क्या है। उत्तर-(यदेतदप्रार्थनं नाम) जो अपने लिये किसीसे याचना नहिं करना वही गुरुता है ॥ ९ ॥

किं गहनं स्त्रीचरितम्
कश्चतुरो यो न खण्डितस्तेन।
किं दारिद्र्यमसन्तो-
ष एव किं लाघवं याच्ञा ॥ १० ॥

२० प्रश्न-(किं गहनं) गहन दुर्गम-कठिनतासे जानने योग्य क्या है। उत्तर-(स्त्रीचरितं) स्त्री चरित्र। २१ प्रश्न-(कश्चतुरः)

विवेकी कौन है। उत्तर--(**यो न खण्डितस्तेन**) जो उन स्त्रियोंके चरित्रसे खण्डित नहीं हुआ वही चतुर--विवेकी है। २२ प्रश्न--(**किं दारिद्र्यम्**) दारिद्र्य क्या है। उत्तर--(**असंतोष एव**) सन्तोष न करना हीं दरिद्रता है। २३ प्रश्न--(**किं लाघवं**) लघुता क्या है। उत्तर--(**याच्ञा**) अपने लिये ही याचना (किसीसे मांगना) परम लघुता है ॥ १० ॥

किं जीवितमनवद्यं
किं जाड्यं पाटवेऽप्यनभ्यासः ।
को जागर्ति विवेकी
का निद्रा मूढता जन्तोः ॥ ११ ॥

२४ प्रश्न--(**किं जीवितं**) संसारमें जीवित क्या है। उत्तर--(**अनवद्यं**) पापरहित जीना ही जीवन है। २५ प्रश्न--**किं जाड्यं**) मूर्खता क्या है। उत्तर--(**पाटवेऽप्यनभ्यासः**) चतुर होनेपर भी अभ्यास न करना सो मूर्खता है। २६ प्रश्न--(**को जागर्ति:**) संसारमें कौन जागता है। उत्तर--(**विवेकी**) जो बुद्धिमान है वही जागता है। २८ प्रश्न--(**का निद्रा**) निद्रा क्या है। उत्तर--(**मूढता जन्तोः**) मनुष्योंकी मूढता ही बडी निद्रा है ॥ ११ ॥

नलिनीदलगतजललव--
तरलं किं यौवनं धनमथायुः ।
के शशधरकरनिकरा--
नुकारिणः सज्जना एव ॥ १२ ॥

२८ प्रश्न—(**नलिनीदलगतजललवतरलं किं**) कमलिनीके पत्तेपर पडे हुये जलबिंदुके समान चंचल क्षणभंगुर क्या है? उत्तर—(**यौवनं धनमथायुः**)) यौवन, धन, और आयु ये तीनों ही क्षण-स्थायी है। २९ प्रश्न—(**के शशधरकरनिकरानुकारिणः**) चंद्रमाके किरणसमूहके अनुकरण करनेवाले चंद्रमाके समान शीतल और सुखद कौन है। उत्तर—(**सज्जना एव**) सज्जनपुरुष ॥१२॥

को नरकः परवशता
किं सौख्यं सर्वसंगविरतिर्या।
किं सत्यं भूतहितं
किं प्रेयः प्राणिनामसवः ॥ १३ ॥

३० प्रश्न—(**को नरकः**) नरक क्या है। उत्तर—(**परवशता**) परतन्त्र रहना ही नरकनिवास है। ३१ प्रश्न—(**किं सौख्यं**) सुख क्या है। उत्तर—(**सर्वसंगविरतिर्या**) समस्तपरिग्रह छोडकर आत्मामें लीन होना सुख है। ३२ प्रश्न—(**किं सत्यं**) सत्य क्या है। उत्तर—(**भूतहितं**) जीवोंका हित करना ही सत्यता है। ३३ प्रश्न-(**किं प्रेयः प्राणिनाम्**) प्राणियोंके प्रिय क्या है। उत्तर-(**असवः**) प्राण ही सबसे प्रिय है॥ १३ ॥

किं दानमनाकाङ्क्षं
किं मित्रं यन्निवर्त्तयति पापात्।
कोऽलङ्कारः शीलं
किं वाचां मण्डनं सत्यम् ॥ १४ ॥

३४ प्रश्न-(**किं दानं**) दान क्या है। उत्तर-(**अनाकांक्षं**) जो किसीप्रकारकी आकांक्षासे न किया जावे वही दान है। ३५ प्रश्न-(**किं मित्रं**) मित्र कौन है। उत्तर-(**यन्निवर्त्तयति पापात्**) जो पापसे रक्षाकरे वही मित्र है। ३६ प्रश्न-(**कोऽलंकारः**) अलंकार-(भूषण) कौन है। उत्तर-(**शीलं**) शील-(ब्रह्मचर्य) ही मनुष्यका भूषण है। ३७ प्रश्न-(**किं वाचां मण्डनं**) वाणीका भूषण क्या है। उत्तर-(**सत्यम्**) सत्य ही वाणीका भूषण है॥ १४॥

किमनर्थफलं मानस-
मसङ्गतं का सुखावहा मैत्री।
सर्वव्यसनविनाशे
को दक्षः सर्वथा त्यागः॥ १५॥

३८ प्रश्न-(**किमनर्थफलं**) अनर्थका फल क्या है। उत्तर-(**मानसमसंगतं**) मनकी असंगता होना ही अनर्थका फल है। ३९ प्रश्न-(**का सुखावहा**) सुखदेनेवाली क्या वस्तु है। उत्तर-(**मैत्री**) सर्व जीवोंसे मित्रता ही सुखदेनेवाली है। ४० प्रश्न-(**सर्वव्यसन विनाशे को दक्षः**) समस्त व्यसनोंके (दुःखोंके) नाश करनेमें चतुर कौन है। उत्तर-(**सर्वथा त्यागः**) परिग्रह आदिका सर्वथा त्याग करना ही सब व्यसनोंको नाश करनेवाला है॥ १५॥

कोऽन्धो यो कार्यरतः
को बधिरो यः शृणोति न हितानि।

को मूको यः काले

प्रियाणि वक्तुं न जानाति ॥ १६ ॥

४१ प्रश्न-(**कोऽन्धः**) अन्धा कौन है । उत्तर-(**योऽकार्यरतः**) जो निन्द्यकाम करनेमें तत्पर हों । ४२ प्रश्न-(**को बधिरः**) बहिरा कौन है । उत्तर-(**यःशृणोति न हितानि**) जो अपने हितकारी बचनोंको नहीं सुनता है । ४३ प्रश्न-(**को मूकः**) गूंगा कौन है । उत्तर-(**यः काले प्रियाणि वक्तुं न जानाति**) जो समयपर मिष्ट वचन कहना नही जानता है ॥ १६ ॥

किं मरणं मूर्खत्वं

किं चानर्घ्यं यदवसरे दत्तम् ।

आमरणात्किं शल्यं

प्रच्छन्नं यत्कृतमकार्यम् ॥ १७ ॥

४४ प्रश्न-(**किं मरणं**) मरण क्या है । उत्तर (**मूर्खत्व**) मूर्खता । ४५ प्रश्न-(**किंचानर्घ्यं**) अमूल्य क्या है । उत्तर-(**यदवसरे दत्तम्**) समयपर दिया हुवा दान । ४६ प्रश्न-(**आमरणात्किं शल्यं**) मरणपर्यंत सूईके समान हृदयमें चुभनेवाला क्या है । उत्तर-(**प्रच्छन्नं यत्कृतमकार्यम्**) जो कुकार्य गुप्तरीतिसे किया गया है ॥ १७ ॥

कुत्र विधेयो यत्नो

विद्याभ्यासे सदौषधे दाने ।

अवधीरणा क्व कार्या
खलपरयोषित्परधनेषु ॥ १८ ॥

४७ प्रश्न—(कुत्र विधेयो यत्नो) किस विषयमें यत्न करना चाहिये । उत्तर—(विद्याभ्यासे सदौषधे दाने) विद्याके अभ्यासमें और उत्तम (शुद्ध) औषधियोंके दानमें । ४८ प्रश्न—(अवधीरणा क्व कार्या) अवहेलना (निन्दा) किसमें करनी चाहिये । उत्तर—(खलपरयोषितपरधनेषु) दुष्ट पुरुष. परस्त्री. और परधनमें ॥ १८ ॥

काहर्निशमनुचिन्त्या
संसारासारता न च प्रमदा ।
का प्रेयसी विधेया
करुणादाक्षिण्यमपि मैत्री ॥ १९ ॥

४९ प्रश्न (काहर्निशमनुचिन्त्या) रात दिन क्या चिन्तन करना चाहिये । उत्तर—(संसारासारता न च प्रमदा) संसारकी असारता चिन्तवन करना चाहिये न कि स्त्रीका स्वरूप । ५० प्रश्न—(का प्रेयसी विधेया) किसको प्रिय बनाना चाहिये । उत्तर—(करुणादाक्षिण्यमपि मैत्री) दया चतुरता और मित्रताको ॥ १९ ॥

कण्ठगतैरप्यसुभिः
कस्यात्मा नो समर्प्यते जातु ।
मूर्खस्य विषादस्य च
गर्वस्य तथा कृतघ्नस्य ॥ २० ॥

५१ प्रश्न—(**कण्ठगतैरप्यसुभिः कस्यात्मानो समर्प्यते जातु**) कंठगतप्राण होनेपर भी किसके अधीन अपनेको नहीं करना चाहिये । उत्तर—(**मूर्खस्य विषादस्य च गर्वस्य तथा कृतघ्नस्य**) मूर्ख पुरुष, विषादयुक्त, अभिमानी और कृतघ्नी पुरुषके ॥ २० ॥

कः पूज्यः सद्वृत्तः
कमधनमाचक्षते चलितवृत्तम् ।
केन जितं जगदेतत्
सत्यतितिक्षावता पुंसा ॥ २१ ॥

५२ प्रश्न—(**कः पूज्यः**) पूज्य कौन है । उत्तर—(**सद्वृत्तः**) श्रेष्ठचारित्र (सम्यक्‌चरित्र) वान् पुरुष । ५३ प्रश्न—(**कमधनमाचक्षते**) धनरहित किसे कहते है । उत्तर (**चलित वृत्तम्**) जो चारित्र (प्रतिज्ञा) से चलायमान है वही निर्धन है । ५४ प्रश्न—(**केन जितं जगदेतत्**) जगतको किसने जीता है । उत्तर—(**सत्यतितिक्षावता पुंसा**) सत्य और शान्तपरिणामवाले पुरुषोंने ॥ २१ ॥

कस्मै नमः सुरैरपि
सुतरां क्रियते दयाप्रधानाय ।
कस्मादुद्विजितव्यं
संसारारण्यतः सुधिया ॥ २२ ॥

५५ प्रश्न (**कस्मै नमः सुरैरपि सुतरां क्रियते**) देवता नमस्कार किसको करते हैं । उत्तर—(**दयाप्रधानाय**) जो दया-धर्मके पालन करनेमें श्रेष्ठ है । ५६ प्रश्न—(**कस्मादुद्विजितव्यं**) भय

किससे करना चाहिये । उत्तर—(**संसारारण्यतः सुधिया**) बुद्धिमान पुरुषको संसाररूपी महा अटवीसे ॥ २२ ॥

कस्य वशे प्राणिगणः
सत्यप्रियभाषिणो विनीतस्य ।
क्व स्थातव्यं न्याय्ये
पथि दृष्टादृष्टलाभाय ॥ २३ ॥

५७ प्रश्न—(**कस्य वशे प्राणिगणः**) प्राणीगण किसके वशमें रहते है । उत्तर—(**सत्यप्रियभाषिणो विनीतस्य**) सत्य तथा प्रिय बोलनेवाले और विनयवान्‌के । ५८ प्रश्न—(**क्व स्थातव्यं**) कहां ठहरना उचित है । उत्तर—(**न्याय्ये पथि दृष्टादृष्टलाभाय**) दृष्ट (धनादिक) अदृष्ट (पुण्यादिक) के लाभके लिये न्यायमार्गमें ॥ २३ ॥

विद्युद्विलसितचपलं
किं दुर्जनसंगतं युवतयश्च ।
कुलशैलनिष्प्रकम्पाः
के कलिकालेऽपि सत्पुरुषाः ॥ २४ ॥

५९-प्रश्न—(**विद्युद्विलसितचपलं किं**) बिजलीकी चमकके समान चंचल क्या है । उत्तर—(**दुर्जनसंगतं युवतयश्च**) दुर्जन पुरुषोंकी संगति और स्त्रियोंका विलास । ६० प्रश्न—(**कुलशैलनिष्प्रकम्पाः के कलिकालेऽपि**) इस कलिकालमें भी कुलाचल पर्वतोंके समान अचल कौन हैं । उत्तर—(**सत्पुरुषाः**) सज्जन पुरुष ॥ २४ ॥

किं शौच्यं कार्पण्यं
सति विभवे किं प्रशस्यमौदार्यम् ।
तनुतरवित्तस्य तथा
प्रभविष्णोर्यत्सहिष्णुत्वम् ॥ २५ ॥

६१ प्रश्न-(किं शौच्यं) खेद करने योग्य क्या है । उत्तर-(कार्पण्यं) कृपणता कंजूसी । ६२ प्रश्न-(सति विभवे किं प्रशस्यम्) विभूतिके होते हुए प्रशंसा करनेयोग्य क्या है । उत्तर-(औदार्यम्) उदारता । ६३ प्रश्न-(तनुतरवित्तस्य किं प्रशस्यम्) और जो अत्यंत धनहीन है उसका क्या प्रशंसनीय है । उत्तर-(तथा) वही उदारता । ६४ प्रश्न-(प्रभविष्णोः किं प्रशस्यं) बलवान् पुरुषोंका क्या प्रशंसनीय है । उत्तर-(यत्सहिष्णुत्वं) सहनशीलता-क्षमा ॥२५॥

चिंतामणिरिव दुर्लभ-
मिह किं ननु कथयामि चतुर्भद्रम् ।
किं तद्वदन्ति भूयो
विधूततमसो विशेषेण ॥ २६ ॥

६५ प्रश्न-(चिंतामणिरिव दुर्लभमिह किम्) संसारमें चिन्तामणिके समान दुर्लभ क्या है । उत्तर-(ननु कथयामि चतुर्भद्रम्) मैं निश्चयसे कहता हूं कि चार भद्र ही अतिशय दुर्लभ है । ६६ प्रश्न-(किं तद्वदन्ति भूयो विधूततमसो विशेषेण) जिनका अज्ञान अंधकार नष्ट हो गया है ऐसे महापुरुष उन चार भद्रोंका स्वरूप विशेष रूपमे किसप्रकार कहते हैं ॥ २६ ॥

दानं प्रियवाक्सहितं
ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
त्यागसहितं च वित्तं
दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम् ॥ २७ ॥

उत्तर-(दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम्। त्याग सहितं च वित्तं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम्) मीठे वचनोंसहित दान, गर्वरहित ज्ञान क्षमासहितशूरता और दानसहित धन ये चार भद्र (कल्याण) अतिशय दुर्लभ है ॥ २७॥

उपसंहार ।

इति कण्ठगता विमला
प्रश्नोत्तररत्नमालिका येषां ।
ते मुक्ताभरणा अपि
विभान्ति विद्वत्समाजेषु ॥ २८ ॥

अर्थात जिन पुरुषोंके कंठमें यह निर्मल प्रश्नोत्तररूपी रत्नोंकी माला रहती है वे मुक्ताभरण (आभरणरहित) होनेपर भी अथवा मोतीयोंके आभरण धारण किये रहनेपर भी विद्वानोंकी सभामें शोभाको प्राप्त होते है ॥ २८ ॥

विवेकात्यक्तराज्येन
राज्ञेयं रत्नमालिका ।

रचितामोघवर्षेण
सुधियां सदलंकृतिः ॥ २९ ॥

विवेकसे छोड़ा है राज्य जिसने ऐसे भूतपूर्व राजा अमोघवर्ष साधुने सज्जनोंके लिये उत्तम भूषणसमान यह रत्नमाला रची है ॥ २९ ॥

श्रीमद्राजर्षिरमोघवर्षकृता

प्रश्नोत्तररत्नमालिका ।

समाप्ता ।

ॐ

अपरा प्रश्नोत्तररत्नमालिका।

आर्या।

किमिहाराध्यं भगवन्
रत्नत्रयतेजसा प्रतपमानम्
शुद्धं निजात्मतत्त्वं
जिनरूपं सिद्धचक्रं च ॥ १ ॥

१ प्रश्न (**किमिहाराध्यं भगवन्**) हे भगवन संसारमें आराधन करने योग्य कौन है। उत्तर (**रत्नत्रयतेजसा प्रतपमान शुद्ध निजात्मतत्त्वं जिनरूपं सिद्धचक्रं च**) रत्नत्रयके तेजसे देदीप्यमान अपना शुद्धात्मतत्त्व, जिनेन्द्रका स्वरूप और सिद्धोंका समूह ॥ १ ॥

को देवो निखिलज्ञो
निर्दोषः किं श्रुतं तदुद्दिष्टम्।
को गुरुरविषयवृत्ति-
र्निर्ग्रन्थः स्वस्वरूपस्थः ॥ २ ॥

२ प्रश्न-(**को देवः**) देव कौन है। उत्तर-(**निखिलज्ञो निर्दोषः**) जो अठारह प्रकारके दोषोंसे रहित और सम्पूर्ण पदार्थोंका जाननेवाला है। ३ प्रश्न-(**किं श्रुतम्**) शास्त्र कौन है। उत्तर-(**तदुद्दिष्टम्**) जो उक्त निर्दोष सर्वज्ञदेवका कहा हुआ है। ४ प्रश्न-(**को गुरुः**)

गुरु कौन है । उत्तर-(**अविषयवृत्तिर्निर्ग्रन्थः स्वस्वरूपस्थः**) जिसकी प्रवृत्ति विषयोंमें नहीं है तथा जो परिग्रहरहित और अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर रहता है ॥ २ ॥

किं दुर्लभं नृजन्म
प्राप्येदं भवति किं च कर्त्तव्यम् ।
आत्महितमहितसंग-
त्यागो रागश्च गुरुवचने ॥ ३ ॥

५ प्रश्न -(**किं दुर्लभम्**) दुर्लभ क्या है । उत्तर (**नृजन्म**) मनुष्यजन्म । ६ प्रश्न (**प्राप्येदं भवति किं च कर्त्तव्यम्**) इस मनुष्य जन्मको पाकर क्या करना चाहिये । उत्तर-- **आत्महितमहितसङ्गत्यागो रागश्च गुरुवचने** (आत्माका हित, अहितरूप परिग्रहका त्याग और गुरुवचनोंमें प्रेम करना चाहिये ॥ ३ ॥

का मुक्तिरखिलकर्म-
क्षतिरस्याः प्रापकश्च को मार्गः ।
दृष्टिर्ज्ञानं वृत्तं
कियत्सुखं तत्र चानन्तम् ॥ ४ ॥

७ प्रश्न (**का मुक्तिः**) मोक्ष क्या है । उत्तर-(**अखिलकर्मक्षतिः**) समस्त कर्मोंका नाश होना । ८ प्रश्न (**अस्याः प्रापकश्च को मार्गः**) उसके (मोक्षके) प्राप्त करनेका मार्ग कौन है । उत्तर (**दृष्टिर्ज्ञानं वृत्तम्**) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी

एकता । ९. (कियत्सुखं तत्र च) और उस मोक्षमें सुख कितना है । उत्तर - (अनन्तता) अनन्त ॥ ४ ॥

किं हिंसाया मूलं
कोपः कात्मान्यवञ्चिका माया ।
कोऽत्रगुरुष्वपि पूजा-
तिक्रमहेतुः खलो मानः ॥ ५ ॥

१० प्रश्न (किं हिंसाया मूलम्) हिंसाका मूल (कारण) क्या है (उत्तर कोपः) क्रोध । ११ प्रश्न (कात्मान्यवाञ्चिका) आपको और दूसरोंको ठगनेवाली कौन है । उत्तर (माया) माया अर्थात् कपट छल । १२ प्रश्न (कोऽत्र गुरुष्वपि पूजातिक्रमहेतुः) गुरुजनोंके सत्कारका उल्लंघन करनेवाला कौन है । उत्तर--(खलो मानः) दुष्ट-मान अर्थात् अहंकार । ५ ॥

किमनर्थस्य निदानं
लोभः किं मण्डनं च शुचि शीलम् ।
को महिमा विद्वत्ता
विवेकिता का व्रताचरणम् ॥ ६ ॥

१३ प्रश्न (किमनर्थस्य निदानम्) अनर्थका कारण क्या है उत्तर (लोभः) लोभ लालच । १४ प्रश्न (किं मण्डनं च) और मण्डन अर्थात् भूषण क्या है । (उत्तर शुचिशीलम्) पवित्र ब्रह्मचर्य । १५ प्रश्न (को महिमा) महिमा क्या है । उत्तर (विद्वत्ता) विद्वत्ता

अथात् पंडिताई। १६ प्रश्न-(**विवेकिता का**) विचारशीलता क्या है। उत्तर-(**व्रताचरणं**) व्रतोंका आचरण करना, पालन करना ॥६॥

मनसापि किं न चिन्त्यं
परदाराः परधनं परापकृतिः।
कीदृग्वचो न वाच्यं
परुषं पीडाकरं कटुकम् ॥ ७ ॥

१७ प्रश्न-(**मनसापि किं न चिन्त्यम्**) मनमे भी किसका चिन्तवन नहीं करना चाहिये। उत्तर (**परदाराः परधन पराप कृति**) दूसरेकी स्त्रीका, दूसरेके धनका और दूसरेके अपकारका। १८ प्रश्न (**कीदृग्वचो न वाच्यम्**) कैसा वचन नहीं बोलना चाहिये। उत्तर (**परुषं पीडाकरं कटुकम्**) जो कठोर पीडा करनेवाला और कडुवा हो ॥ ७ ॥

किं हातव्यं सततं
पैशून्यं व्यसनिता च मात्सर्यम्।
किमकरणीयं यत्पर-
लोकविरुद्धं मनोऽनिष्टम ॥ ८ ॥

१९ प्रश्न (**किं हातव्यं सततम्**) सदा त्याग करने योग्य क्या है। उत्तर-(**पैशून्यं व्यसनिता च मात्सर्यम्**) चुगली करना, सप्तव्यसन और दूसरेकी बढती न सहना। २० प्रश्न (**किमकरणीयम्**) न करने योग्य क्या है। उत्तर (**यत्परलोकविरुद्धं मनोऽनिष्टम्**) जो परलोकसे विरुद्ध और मनको अनिष्ट हो ॥ ८ ॥

शम्पेव चञ्चला का
सम्पत्सत्काव्यमिव किमनवद्यम् ।
जीवितमधर्मरहितं
कलङ्कमुक्तं यशोयुक्तम् ॥ ९ ॥

२१ प्रश्न (**शम्पेव चञ्चला का**) बिजलीके समान चंचल क्या है। उत्तर (**सम्पत्**) लक्ष्मी-धन। २२ प्रश्न (**सत्काव्यमिव किमनवद्यम्** उत्तम काव्यके समान प्रशंसित क्या है। उत्तर- **जीवितमधर्मरहितं कलङ्कमुक्तं यशोयुक्तम्**) ऐसा जीवन कि जो पापरहित निष्कलंक और यशयुक्त हो ॥ ९ ॥

किं दिनकृत्यं जिनपति-
पूजासामयिकगुरूपास्तिः ।
त्रिविधशुचिपात्रदानं
शास्त्राध्ययनं च सानन्दम् ॥ १० ॥

प्रश्न **किं दिनकृत्यम्** (प्रतिदिन करने योग्य कृत्य क्या है, उत्तर **जिनपतिपूजासामयिकगुरूपास्तिः त्रिविधशुचिपात्रदानं शास्त्राध्ययनं च सानन्दम्** (जिनेन्द्रदेवकी पूजा, सामायिक, गुरुकी उपासना तीनप्रकारके पवित्र पात्रोंको दान देना और प्रसन्नताके साथ शास्त्रस्वाध्याय करना ॥ १० ॥

इत्यपरा प्रश्नोत्तरमालिका समाप्ता ।

❀ द्रव्यसंग्रह ।

मूलगाथा, संस्कृत छाया, हिन्दी मराठी अन्वयार्थ और पास होनेकी कुंजी सहित दूसरी बार निर्णयसागरमें बहुत शुद्धतासे मोटे कागजपर छपाया गया है। पहली बार प्रत्येक गाथाकी संस्कृत छाया नहीं थी, वह अबकी बार लगा दी गई है। चतुर विद्यार्थी इसे विना गुरुके भी पढ सकता है, और परीक्षा देकर पास हो सकता है। मूल्य पाहिले आठ आना था, अब छह आना कर दिया गया है।

तत्त्वार्थसूत्रकी बालबोधिनी भाषाटीका ।

तत्त्वार्थसूत्र हम लोगोंका परम पूज्य ग्रन्थ है। इसे प्रत्येक जैनी पढना पढाना अपना परम धर्म समझते हैं। इसके एक बारके पाठ मात्रसे एक उपवासका फल होता है। यह ग्रन्थ जैसा उपयोगी है और जैनधर्मके पदार्थोंका अटूट समुद्र जिस प्रकार इसमें भरकर गागरमें सागरकी कहावत सिद्ध की गई है, उसके कहनेकी जरूरत नहीं है। इसकी प्रशंसा प्रगट करनेके लिये इस ग्रन्थपर जो अनेक टीकायें बनाई गई है, वेही बस है। परन्तु खेद है कि, अभी तक इसकी कोई ऐसी टीका छपाकर प्रकाशित नहीं हुई, जो पढनेवाले विद्यार्थियोंकी समझमें आ सके। अभी तक, जो टीकायें छपी हैं वे विशेष ज्ञातियोंके समझने योग्य है, बालकोंके लिये जिस क्रमसे होनी चाहिये उस क्रमसे नहीं है। इस अभावकी पूर्तिके लिये हमने यह भाषाटीका तैयार की है यह टीका भाईयोंसे बांचनेके लिये भी बडे कामकी है। सधारण भाई भी इसके सूत्रोंका अर्थ बांचकर समझ सकते है। रत्नकरंडके समान इसमें भी पद पदका अर्थ किया गया है और भावार्थ व विशेष बातें तथा टीकायें लिखी गई है। इसको एक बार पढ लेनेके फिर सर्वार्थसिद्धि आदि बडी टीकाओंके पढनेमें गति हो जावेगी। यह टीका विद्या-

र्थियोंके बडे ही कामकी है। इसे विना गुरुके पढकर भी विद्यार्थी बडी सुगमताके परीक्षा दे सकता है। जहां तक बना है, प्रत्येक पदार्थके लक्षण व स्वरूप इसमें संक्षेपतासे लिखे गये हैं। मूल्य मात्र १२ आने रक्खा गया है। पाठशालाओंके प्रबंधकर्त्ताओंको नमूनेके लिये इसकी एक एक प्रति जरूर मंगानी चाहिये थोडीसी प्रतियें रह गई है।

❀ भक्तामरस्तोत्र।

अन्वय हिन्दी अर्थ, भावार्थ और कविवर भाई नाथूराम प्रेमीकृत नवीन भाषानुवाद सहित।

जैनीके बालकसे लेकर बूढेतक सब ही भक्तामरस्तोत्रका पाठ करते है। इसका पाठ करना आनंददायक है। खेद है कि, अर्थ न समझनेसे हमारे बहुतसे जैनी भाई इस स्तोत्रकी अर्थगंभिरता और भक्तिरसके आस्वादसे वंचित रहते है उनके लिये हमने यह नवीन टीका तयार करवाई है। इसमें रत्नकरंडके समान पहिले प्रत्येक श्लोकका अन्वयानुगत पदार्थ लिखकर फिर प्रत्येकका भावार्थ लिखा है। पश्चात् हरिगीतिका और नरेन्द्र छन्दमें उसकी सुन्दर कविता बनाई गई है। जिसमें मूलका कोई भी भाव नहीं छोडा है।

टिप्पणीमें अनेक प्रतियोंसे इकट्ठे करके पाठान्तर और कठिन शब्दोंके अर्थ दिये है। इस तरह यह पुस्तक सर्वांग सुन्दर तैयार हुई है। अभीतक ऐसी कोई भी टीका नहीं छपी थी। पाठशालाओंके विद्यार्थियोंके लिये यह बडे कामकी चीज है। भमिकामें श्रीमानतुंगसूरिका १०-१२ पजका जीवनचरित्र है। बातकी बातमें इसकी १००० कापी छह महीनेमें बिक गई। दूसरीबार संशोधित और परिवर्द्धित करके छपाया है। मूल्य सिर्फ।)

श्रीवीतरागाय नमः ।

बारस अणुवेक्खा ।

संस्कृतछाया और भाषाटीकासहित ।

प्रकाशक—

श्रीजैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय ।

श्रीवीतरागाय नमः ।

सुलभ ग्रन्थमालाका प्रथम पुष्प ।
स्वर्गीय पंडित
चुन्नीलालजीके स्मरणार्थ ।

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचिता

बारस अणुवेक्खा ।

[द्वादशानुप्रेक्षा ।]

जिसे

पण्डित मनोहरलाल गुप्त और नाथूराम प्रेमीने
संस्कृतछाया और भाषाटीकासे विभूषित की

और

श्रीजैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय बम्बईने
निर्णयसागर प्रेस कोलभाट लाईन नं. २३ में बा०
रा० घाणेकरके प्रबन्धसे छपाकर प्रकाशित की ।

श्रीवीरनि० संवत् २४३७ । दिसम्बर सन् १९१० ।

प्रथमावृत्ति] [मूल्य सवा आना ।

PUBLISHED BY

Nathuram Premi,

Proprietor Jain Granth Ratnakar Karyalaya

Hirabag, Near Kavasji Patel Tank,

BOMBAY.

प्रस्तावना ।

पाठक महाशय! आज आपको हम एक ऐसा ग्रन्थरत्न भेंट करते हैं, जो कालकी कुटिलगतिसे बिलकुल अप्रसिद्ध और लुप्तप्राय हो गया था। इसके रचयिता सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक श्रीकुन्दकुन्दाचार्य हैं। कुन्दकुन्दस्वामीके बनायेहुए जो ८४ पाहुड़ (प्राभृतग्रन्थ) कहे जाते हैं और जिनमेंसे नाटकसमयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, रयणसार, षटपाहुड़आदि प्रसिद्ध हैं, उनमें इस बारसअणुवेक्खा ग्रन्थका नाम नहीं है। इससे यह भी अनुमान होता है कि. उक्त आचार्य महाराजके बनायेहुए पाहुड़ ग्रन्थोंके सिवाय और भी कई ग्रन्थ होंगे।

इस ग्रन्थका उद्धार हमने एक ऐसे हस्तलिखित गुटकेपरसे किया है, जो अतिशय जीर्ण शीर्ण और प्राचीन है। यह गुटका बहुत ही कम होगा, तो लगभग चारसौ पांचसौ वर्षका लिखा हुआ होगा। इसपर संवत् १६३६ की लिखीहुई तो उसके एक स्वामीकी प्रशस्ति लिखी हुई है, जिसने कि किसी दूसरेसे लेकर उसपर अपना स्वामित्व स्थापन किया था। प्रायः प्रत्येक पत्रके चारों किनारे विशेष करके नीचेका किनारा झड़जानेसे अनेक अक्षर बिलकुल ही चले गये हैं। यदि यह ग्रन्थ कुछ दिनों और इसी दशामें पड़ा रहता और जैसा कि हम समझते हैं, अन्यत्र कहीं इसकी प्रति नहीं होगी, तो आश्चर्य नहीं कि, संसारसे अन्य अनेक ग्रन्थोंके समान इसका भी नामशेष हो जाता।

भगवान् कुन्दकुन्दस्वामी वि० संवत् ४९. में नन्दिसंघके पांचवें

पट्टपर बैठे थे ऐसा नन्दिसंघकी पट्टावलीमें लिखाहुआ है। इनके वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ, पद्मनन्दि ये चार नाम भी प्रसिद्ध हैं। आपके बनाये हुए ग्रन्थोंसे जैनसाहित्य दैदीप्यमान हो रहा है। आध्यात्मिक ग्रन्थोंका रचयिता आपके समान और कोई दूसरा नहीं हुआ है। आपके बनाये हुए सम्पूर्ण ग्रन्थ प्राकृत भाषामें हैं। ऐसे अगाध पांडित्यको पाकर भी आपका प्राकृत जैसी सरल भाषामें ग्रन्थरचना करना यह प्रगट कर रहा है कि, आपको संस्कृतके प्रसिद्ध ग्रन्थकर्त्ता बननेकी अपेक्षा लोगोंको मोक्षमार्गमें लगाना बहुत प्यारा था। पाठक सोच सकते हैं कि, उस समय जब कि सारे देशमें प्राकृत भाषा बोली जाती थी, आपके प्राकृत ग्रन्थोंने कितने जीवोंको उपकार किया होगा—कितने जीव मोक्षमार्गके सम्मुख किये होंगे।

भगवान् कुन्दकुन्दका सामान्य चरित्र भाषाके अनेक ग्रन्थोंमें लिखा हुआ है और जैनमित्र आदि पत्रोंमें भी प्रकाशित हो चुका है, इसलिये उसे इस छोटीसी पुस्तककी प्रस्तावनामें लिखना उचित न समझके हम इतना ही लिखकर संतोष करते हैं कि लगभग उन्नीससौ वर्ष पहले जैनसाहित्यके आकाशमें एक ऐसा चन्द्रमा उदित हुआ था जिसकी चन्द्रिकासे सारा दुःखसंतप्त संसार आजतक धवलित और शान्तिसुधासंसिक्त हो रहा है और जिसके लिये कविवर वृन्दावनजीने कहा है—

" हुए न हैं न होंहिंगे मुनींद्र कुंदकुंदसे। "

इस ग्रन्थमें सब मिलाकर ९१ गाथाएं हैं, जिनमेंसे लगभग १८ गाथाएं क्षेपक मालूम पड़ती हैं। ऐसी गाथाओंके विषयमें

हमने टिप्पणीमें उनके क्षेपक होनेका कारण अपनी समझके अनुसार लिख दिया है। दूसरे ग्रन्थकर्त्ताओंने इस ग्रन्थकी जो गाथाएं उद्धृत की हैं, अथवा दूसरे ग्रन्थोंमें इसकी जो गाथाएं प्रक्षिप्त होगई हैं, उनका उल्लेख भी कई जगह कर दिया गया है।

इस ग्रन्थकी रचनाका और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी रचनाका ढँग प्रायः एक सा जान पड़ता है और इन दोनोंकी कई एक गाथाएं भी ऐसी हैं, जो थोड़े बहुत शब्दोंके फेरफारसे प्रायः एकसी मिलती हैं। इससे लोग शंका कर सकते है कि, यह ग्रन्थ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी छाया लेकर बनाया गया होगा। क्योंकि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी भूमिकामें पूज्यवर पं० पन्नालालजी बाकलीवालने अनुमान किया है कि, स्वामिकार्तिकेय दो हजार वर्ष पहले होगये हैं। और इससे उनका अस्तित्व कुन्दकुन्दस्वामीसे भी पहले सिद्ध होता है। परन्तु हमारी समझमें उक्त अनुमान ठीक नहीं है। विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दस्वामीसे स्वामिकार्तिकेय बहुत ही पीछे हुए है। क्योंकि बम्बईके भंडारमें जो एक 'आचार्यों और उनकी कृतिकी सूची' किसी विद्वानकी संग्रहकी हुई है, उसमें स्वामिकार्तिकेयको सेनसंघका आचार्य लिखा है। और सेनसंघकी पट्टावलीमें कुमारसेन नामके एक आचार्य वि० संवत् ८८८ में हुए भी है, जो श्रीविनयसेन आचार्यके शिष्य थे। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाके अन्तमें ग्रन्थकर्त्ताने अपना नाम 'सामिकुमार' अर्थात् 'स्वामिकुमार' लिखा है, जो कि 'स्वामिकुमारसेन' का संक्षिप्त

१—जिणवयणभावणट्ठं सामिकुमारेण परमसद्धाए।
रइया अणुवेक्खाओ चंचलमणरुंभणट्ठं च ॥ ४८७ ॥

नाम है। महादेवके पुत्र षडाननका एक नाम कुमार है और एक नाम कार्तिकेय भी है। जान पड़ता है कि इसी कारण स्वामिकुमारका स्वामिकार्तिकेय नाम भी पर्यायवाची होनेके कारण प्रचलित होगया है। और भी कई ग्रन्थकर्त्ताओंने इस तरह पर्यायवाची शब्द देकर अपना परिचय दिया है। जैसे कि 'पद्मनन्दिस्वामीने' अपना नाम एक जगह 'पंकजनन्दि' और दर्शनसारके कर्त्ता 'देवसेन'ने 'सुरसेन' लिखा है। 'स्वामिकुमारसेन' इस नाममें 'स्वामि' और 'सेन' ये दो पदवियां हैं। **"तत्त्वार्थसूत्रव्याख्याता स्वामीति परिपठ्यते"** नीतिसारके इस वाक्यके अनुसार जो तत्त्वार्थसूत्रका व्याख्यान करनेवाला होता है, उसे स्वामी कहते हैं। और 'सेन' यह 'सेनसंघ'का सूचक पद है।

कुमारसेन आचार्य जो विनयसेनके शिष्य थे, पीछेसे सन्यास-भंग हो जानेके कारण संघबाह्य कर दिये गये थे, और पीछे उन्होंने काष्ठासंघ चलाया था, ऐसा श्रीदेवसेनसूरिकृत दर्शनसारमें लिखा है। इस लिये या तो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा सन्यास भंग होनेके पहले ही ये बना चुके होंगे। क्योंकि काष्ठासंघकी जो दो चार भिन्न बातें है, वे इस ग्रन्थमें नहीं मालूम पड़ती हैं। या सेनसंघमें और कोई आचार्य भी इसी नामके हुए होंगे, जिन्होंने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा बनाई है। जो हो, परन्तु यह निश्चय है कि कुन्दकुन्दस्वामीसे पहले स्वामिकुमार नहीं हुए हैं। क्योंकि एक तो सेनसंघकी पट्टावलीमें कुन्दकुन्दस्वामीके समयसे कई सौ वर्ष

१—षाण्मातुरः शक्तिधरः कुमारः क्रौञ्चदारणः। [अमरकोष]

२—कार्त्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः। [अमर०]

३—श्रीहेमचन्द्राचार्यने कार्त्तिकेयका एक नाम 'स्वामी' भी लिखा है।

पीछेतक इस नामके किसी आचार्यका पता नहीं लगता है, दूसरे 'स्वामिकुमारसेन' के नाममें यदि 'स्वामी' पद 'तत्त्वार्थसूत्रव्याख्याता' होनेके कारण है, और 'तत्त्वार्थसूत्र'से श्रीउमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रका अभिप्राय है, तो तत्त्वार्थसूत्रकी रचना ही कुन्दकुन्दके समयमें नहीं हुई थी। क्योंकि उमास्वाति कुन्दकुन्दके शिष्योंमें थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि, यह ग्रन्थ केवल एक ही प्रतिसे सो भी जीर्ण खंडित तथा मूलमात्रपरसे तयार किया गया है, इसलिये इसका सम्पादन जैसा होना चाहिये, वैसा अच्छा नहीं हो सका है। तो भी इसका शुद्धपाठ लिखनेमें, संस्कृतछाया बनानेमें और अर्थ लिखनेमें जितनी हम लोगोंकी शक्ति थी, उतना परिश्रम करनेमें कुछ भी कसर नहीं रक्खी है। इतनेपर भी यदि कुछ प्रमाद हुआ हो, तो उसके लिये हम पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं।

पुस्तक जीर्ण होनेके कारण जो अक्षर उड़ गये हैं, अथवा जो पढ़े नहीं जाते हैं, उनके बदले हमने पूर्वापर अक्षरोंका सम्बन्ध मिलाकर कई स्थानोंमें अपनी ओरसे अक्षर कल्पित करके लिख दिये हैं। परन्तु पाठक ऐसे अक्षरोंको हमारे कल्पना किये हुए समझें इसलिये उन्हें कोष्टकके भीतर लिख दिये हैं। जिन शब्दोंका अभिप्राय समझमें नहीं आया है, अथवा जिनकी संस्कृतछाया ठीक २ नहीं मालूम हुई है, उनके आगे प्रश्नांक (?) लगा दिया है। यदि कहीं इस अलभ्य ग्रन्थकी दूसरी प्रति प्राप्त हो जायगी, तो अगामी संस्करणमें ये सब त्रुटियां अलग कर दी जावेंगी।

इति शुभम्।

बम्बई।
मार्गशीर्षकृष्णा १४
श्रीवीर नि० २४३७।

सरस्वतीसेवक—
मनोहरलाल गुप्त।
नाथूराम प्रेमी।

सुलभ ग्रन्थमालाका

विज्ञापन ।

अनुभवसे विदित हुआ है कि, पुस्तकोंकी कीमत जितनी कम होती है, उतना ही उनका अधिक प्रचार होता है। इस लिये श्रीजैनग्रन्थरत्नाकरकी ओरसे सुलभ जैनग्रन्थमाला-नामकी एक सीरीज प्रकाशित करनेका विचार किया गया है। इस ग्रन्थमालाकेद्वारा जितनी पुस्तकें प्रकाशित होंगीं, वे लागतके दामोंपर अथवा उसमें भी यथासंभव घाटा खाकर बेची जावेंगी। लागनके दामोंमें पुस्तककी बनवाई, प्रूफ संशोधन कराई, छपाई, बायडिंग बगैरह सब खर्च शामिल समझे जावेंगे। रकमका व्याज नहीं लिया जायगा। घाटेकी रकम कार्यालयके धर्मादा खातेसे अथवा दूसरे धर्मात्माओंसे पूरी कराई जायगी।

सुलभ ग्रन्थमालाकी यह सबसे पहली पुस्तक है। यह मुरादाबादनिवासी स्वर्गीय पूज्यवर **पंडित चुन्नीलालजी**-के स्मरणार्थ प्रकाशित की जाती है। इसकी १००० प्रतियोंका कुलखर्च लगभग ९० रुपया पड़ा है। इसलिये मूल्य सवा आना रक्खा जाता है। ग्रन्थमालाकी दूसरी पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित की जायगी।

निवेदक—

श्रीनाथूरामप्रेमी।

श्रीवीतरागाय नमः

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचिता

बारस अणुवेक्खा।

[द्वादशानुप्रेक्षा।]

णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे।
दस दस दो दो य जिणे दस दो अणुपेहणं वोच्छे॥१

नत्वा सर्वसिद्धान् ध्यानोत्तमक्षपितदीर्घसंसारान्।
दश दश द्वौ द्वौ च जिनान् दश द्वौ अनुप्रेक्षणानि वक्ष्ये॥१॥

अर्थ—अपने परमशुक्ल ध्यानमें अनादि अनंत संसारको क्षय करनेवाले सम्पूर्ण सिद्धोंको तथा चौवीस तीर्थंकरोंको नमस्कार करके मैं बारह भावनाओंका स्वरूप कहता हूं।

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसार लोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोहिं च चिंतेज्जो॥२॥

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यसंसारं लोकमशुचित्वं।
आस्रवसंवरनिर्जरधर्मं बोधिं च चिन्तनीयम्॥२॥

अर्थ—अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ इन बारह भावनाओंका चिन्तवन करना चाहिये।

अथ अनित्यभावना।

वरभवणजाणवाहणसयणासण देवमणुवरायाणं।
मादुपिदुसजणभिच्चसंबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा ॥ ३ ॥

वरभवनयानवाहनशयनाऽऽसनं देवमनुजराज्ञाम्।
मातृपितृस्वजनभृत्यसम्बन्धिनश्च पितृव्योऽनित्याः ॥ ३ ॥

अर्थ—देवताओंके मनुष्योंके और राजाओंके सुन्दर महल, यान, वाहन, सेज, आसन, माता, पिता, कुटुम्बीजन, सेवक, सम्बन्धी (रिश्तेदार) और काका आदि सब अनित्य हैं अर्थात् ये कोई सदा रहनेवाले नहीं हैं। अवधि बीतनेपर सब अलग हो जावेंगे।

सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोवणं वलं तेजं।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ॥४॥

समग्रेन्द्रियरूपं आरोग्यं यौवनं बलं तेजः।
सौभाग्यं लावण्यं सुरधनुरिव शाश्वतं न भवेत् ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस तरहसे आकाशमें प्रगट होनेवाला इन्द्रधनुष् थोड़ी ही देर दिखलाई देकर फिर नहीं रहता है, उसी प्रकारसे पांचों इन्द्रियोंका स्वरूप, आरोग्य (निरोगता) जोवन, बल, तेज, सौभाग्य, और सौन्दर्य (सुन्दरता) सदा शाश्वत नहीं रहता है। अर्थात् ये सब बातें निरन्तर एकसी नहीं रहती हैं—क्षणभंगुर हैं।

जलबुब्बुदसक्कधणूखणरुचिघणसोहमिव थिरं ण

हवे। अहमिंदट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदिपज्जाया ॥ ५॥

जलबुद्बुदशक्रधनुःक्षणरुचिघनशोभेव स्थिरं न भवेत्।
अहमिन्द्रस्थानानि बलदेवप्रभृतिपर्यायाः ॥ ५ ॥

अर्थ—अहमिन्द्रोंकी पदवियां और बलदेव नारायण चक्रवर्ती आदिकी पर्यायें पानीके बुलबुलेके समान, इन्द्र-धनुषकी शोभाके समान, बिजलीकी चमकके समान और बादलोंकी रंगविरंगी शोभाके समान स्थिर नहीं हैं। अर्थात् थोड़े ही समयमें नष्ट हो जानेवाली हैं।

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ॥ ६॥

जीवनिबद्धं देहं क्षीरोदकमिव विनश्यति शीघ्रम्।
भोगोपभोगकारणद्रव्यं नित्यं कथं भवति ॥ ६ ॥

अर्थ—जब जीवसे अत्यंत संबंध रखनेवाला शरीर ही दूधमें मिले हुए पानीकी तरह शीघ्र नष्ट हो जाता है, तब भोग और उपभोगके कारण दूसरे पदार्थ किस तरह नित्य हो सकते हैं। अभिप्राय यह है कि, पानीमें दूधकी तरह जीव और शरीर इस तरह मिलकर एकमेक हो रहे हैं कि, जुदे नहीं मालूम पड़ते हैं। परंतु इतनी सघनतासे मिले हुए भी ये दोनों पदार्थ जब मृत्यु होनेपर अलग २ हो जाते हैं, तब संसारके भोग और उपभोगके पदार्थ जो शरीरसे प्रत्यक्ष ही जुदे तथा दूर हैं सदाकाल कैसे रह सकते हैं?

परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवरायविविहेहिं ।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतये णिच्चं ॥७॥

परमार्थेन तु आत्मा देवासुरमनुजराजविविधैः ।
व्यतिरिक्तः स आत्मा शाश्वत इति चिन्तयेत् नित्यं ॥ ७ ॥

अर्थ—शुद्ध निश्चयनयसे (यथार्थमें) आत्माका स्वरूप सदैव इस तरह चिन्तवन करना चाहिये कि, यह देव, असुर, मनुष्य, और राजा आदिके विकल्पोंसे रहित है । अर्थात् इसमें देवादिक भेद नहीं हैं—ज्ञानस्वरूप मात्र है और सदा स्थिर रहनेवाला है ।

अथ अशरणभावना ।

मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि॥८॥

मणिमन्त्रौषधरक्षाः हयगजरथाश्च सकलविद्याः ।
जीवानां नहि शरणं त्रिषु लोकेषु मरणसमये ॥ ८ ॥

अर्थ—मरते समय प्राणियोंको तीनों लोकोंमें मणि, मंत्र, औषधि, रक्षक, घोड़ा, हाथी, रथ और जितनी विद्याएँ हैं, वे कोई भी शरण नहीं हैं । अर्थात् ये सब उन्हें मरनेसे नहीं बचा सकते हैं ।

सग्गो हवे हि दुग्गं भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं ।
अइरावणो गइंदो इंदस्स ण विज्जदे सरणं ॥ ९॥

स्वर्गो भवेत् हि दुर्गं भृत्या देवाश्च प्रहरणं वज्रं ।
ऐरावणो गजेन्द्रः इन्द्रस्य न विद्यते शरणं ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस इन्द्रके स्वर्ग तो किला है, देव नौकर चाकर हैं, वज्र हथियार है, और ऐरावत हाथी है, उसको भी कोई शरण नहीं है। अर्थात् रक्षा करनेकी ऐसी श्रेष्ठ सामग्रियोंके होते हुए भी उसे कोई नहीं बचा सकता है। फिर हे दीन पुरुषो! तुम्हें कौन बचावेगा?

णवणिहि चउदहरयणं हयमत्तगइंदचाउरंगबलं।
चक्केसस्स ण सरणं पेच्छंतो कद्दिये काले॥ १०॥

नवनिधि. चतुर्दशरत्नं हयमत्तगजेन्द्रचतुरङ्गबलम्।
चक्रेशस्य न शरणं पश्यत कर्दिते कालेन॥ १०॥

अर्थ—हे भव्यजनो! देखो, इसी तरह कालके आ दबानेपर नौ निधियां, चौदह रत्न, घोड़ा-मतवाले हाथी, और चतुरंगिनी सेना आदि रक्षा करनेवाली सामग्री चक्रवर्तीको भी शरण नहीं होती है। अर्थात् जब मौत आती है, तब चक्रवर्तीको भी जाना पड़ता है। उसका अपार वैभव उसे नहीं बचा सकता है।

जाइजरमरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो॥११॥

जातिजरामरणरोगभयतः रक्षति आत्मनः आत्मा।
तस्मादात्मा शरणं बन्धोदयसत्त्वकर्मव्यतिरिक्तः॥ ११॥

अर्थ—जन्म, जरा, मरण, रोग और भय आदिसे आत्मा ही अपनी रक्षा करता है; इसलिये वास्तवमें (निश्चयनयसे) जो कर्मोंकी बंध, उदय और सत्ता अवस्थासे जुदा है, वह आत्मा ही इस संसारमें शरण है। अर्थात्

संसारमें अपने आत्माके सिवाय अपना और कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। यह स्वयं ही कर्मोंको खिपाकर जन्म जरा मरणादिके कष्टोंसे वच सकता है।

अरुहा सिद्धा आइरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चेट्ठदि जम्हा तम्हा आदा हु मे सरणं॥१२॥

अर्हन्तः सिद्धाः आचार्या उपाध्यायाः साधवः पञ्चपरमेष्ठिनः।
ते पि हि चेष्टन्ते यस्मात् तस्मात् आत्मा हि मे शरणम्॥ १२॥

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांचों परमेष्ठी इस आत्माके ही परिणाम हैं। अर्थात् अरहंतादि अवस्थाएँ आत्माहीकी हैं। आत्मा ही तपश्च-रण आदि करके इन पदोंको पाता है। इसलिये आत्मा ही मुझको शरण है।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव।
चउरो चेट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणम्॥१३॥

सम्यक्त्वं सद्ज्ञानं सच्चारित्रं च सत्तपश्चैव।
चत्वारि चेष्टन्ते आत्मनि तस्मात् आत्मा हि मे शरणम्॥१३॥

अर्थ—इसी तरहसे आत्मामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और उत्तम तप ये चार अवस्थाएँ भी होती हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शनादि आत्माहीके परिणाम हैं, इसलिये मुझे आत्मा ही शरण है।

अथ एकत्वभावना।

एको करेदि कम्मं एको हिंडदि य दीहसंसारे।

- एवं चिंतेहि एयत्तं

एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१४॥

एकः करोति कर्म एकः हिण्डति च दीर्घसंसारे ।
एकः जायते म्रियते च तस्य फलं भुङ्क्ते एकः ॥ १४ ॥

अर्थ—यह आत्मा अकेला ही शुभाशुभ कर्म बाँधता है, अकेला ही अनादि संसारमें भ्रमण करता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही अपने कर्मोंका फल भोगता है। इसका कोई दूसरा साथी नहीं है।

एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण ।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को॥१५॥

एकः करोति पापं विषयनिमित्तेन तीव्रलोभेन ।
निरयतिर्यक्षु जीवो तस्य फलं भुङ्क्ते एकः ॥ १५ ॥

अर्थ—यह जीव पांचइन्द्रियके विषयोंके वश तीव्र-लोभसे अकेला ही पाप करता है और नरक तथा तिर्यंच गतिमें अकेला ही उनका फल भोगता है। अर्थात् उसके दुःखोंका बटवारा कोई भी नहीं करता है।

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण ।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१६॥

एकः करोति पुण्यं धर्मनिमित्तेन पात्रदानेन ।
मानवदेवेषु जीवो तस्य फलं भुङ्क्ते एकः ॥ १६ ॥

अर्थ—और यह जीव धर्मके कारणरूप पात्रदानसे

अकेला ही पुण्य करता है और मनुष्य तथा देवगतिमें अकेला ही उसका फल भोगता है।

उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू।
सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेयो॥१७॥

उत्तमपात्रं भणितं सम्यक्त्वगुणेन संयुतः साधुः।
सम्यग्दृष्टिः श्रावको मध्यमपात्रो हि विज्ञेयः॥ १७॥

अर्थ—जो सम्यक्त्वगुणसहित मुनि हैं, उन्हें उत्तम पात्र कहा है और जो सम्यग्दृष्टी श्रावक हैं, उन्हें मध्यम पात्र समझना चाहिये।

णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति।
सम्मत्तरयणरहियो अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो॥१८॥

निर्दिष्टः जिनसमये अविरतसम्यक्त्व जघन्यपात्र इति।
सम्यक्त्वरत्नरहितः अपात्रमिति संपरीक्ष्यः॥ १८॥

अर्थ—जिनभगवानके मतमें व्रतरहित सम्यग्दृष्टीको जघन्यपात्र कहा है और सम्यक्त्वरूपी रत्नसे रहित जीवको अपात्र माना है। इस तरह पात्र अपात्रोंकी परीक्षा करनी चाहिये।

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति॥१९

१, १७-१८-और १९ वा गाथाएँ क्षेपक मालूम पड़ती है। इनमेंसे पहली दो तो मालूम नहीं किस ग्रन्थकी है, परंतु तीसरी "दंसणभट्ठा" आदि गाथा दर्शनपाहुडकी है, जो कि इन्हीं ग्रन्थकर्त्ताका बनाया हुआ है।

दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टा दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् ।
सिद्ध्यन्ति चरितभ्रष्टा दर्शनभ्रष्टा न सिद्ध्यन्ति ॥ १९ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं, वे ही यथार्थमें भ्रष्ट हैं। क्योंकि दर्शनभ्रष्ट पुरुषोंको मोक्ष नहीं होता है। जो चारित्रसे भ्रष्ट हैं, वे तो सीझ जाते हैं, परन्तु जो दर्शनसे भ्रष्ट हैं, वे कभी नहीं सीझते हैं। अभिप्राय यह है कि जो सम्यग्दृष्टी पुरुष चारित्रसे रहित हैं, वे तो अपने सम्यक्त्वके प्रभावसे कभी न कभी उत्तम चारित्र धारण करके मुक्त हो जावेंगे। परन्तु जो सम्यक्त्वसे रहित हैं अर्थात् जिन्हें न कभी सम्यक्त्व हुआ और न होगा वे चाहे कैसा ही चारित्र पालें; परन्तु कभी सिद्ध नहीं होंगे—संसारमें रुलते ही रहेंगे।

अनुष्टुप्श्लोकः ।

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो ।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ सव्वदा ॥ २० ॥

एकोऽहं निर्ममः शुद्धः ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शुद्धैकत्वमुपादेयं एवं चिन्तयेत सर्वदा ॥ २० ॥

अर्थ—मैं अकेला हूं, ममतारहित हूं, शुद्ध हूं और ज्ञान-दर्शनस्वरूप हूं, इस लिये शुद्ध एकपना ही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है, ऐसा निरन्तर चिन्तवन करना चाहिये।

अथ अन्यत्वभावना ।

मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो ।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति ॥ २१ ॥

मातृपितृसहोदरपुत्रकलत्रादिबन्धुसन्दोहः ।
जीवस्य न सम्बन्धो निजकार्यवशेन वर्तन्ते ॥ २१ ॥

अर्थ—माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, आदि बन्धुजनोंका समूह अपने कार्यके वश (मतलबसे) सम्बन्ध रखता है, परन्तु यथार्थमें जीवका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् ये सब जीवसे जुदे हैं।

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति ममणाहगोत्ति मण्णंतो। अप्पाणं ण हु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं॥२२॥

अन्यः अन्यं शोचति मदीयोस्ति ममनाथकः इति मन्यमानः।
आत्मानं न हि शोचति संसारमहार्णवे पतितम् ॥ २२ ॥

अर्थ—ये जीव इस संसाररूपी महासमुद्रमें पड़े हुए अपने आत्मकी चिन्ता तो नहीं करते हैं, किन्तु यह मेरा है और यह मेरे स्वामीका है, इस प्रकार मानते हुए एक दूसरेकी चिन्ता करते हैं।

**अण्णं इमं सरीरादिगंपि जं होइ बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं ॥ २३ ॥**

अन्यदिदं शरीरादिकं अपि यत् भवति बाह्यं द्रव्यम् ।
ज्ञानं दर्शनमात्मा एवं चिन्तय अन्यत्त्वम् ॥ २३ ॥

अर्थ—शरीरादिक जो ये बाहिरी द्रव्य हैं, सो भी सब अपनेसे जुदे हैं और मेरा आत्मा ज्ञानदर्शनस्वरूप है, इस प्रकार अन्यत्व भावनाका तुमको चिन्तवन करना चाहिये।

अथ संसारभावना ।

पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे ।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं २४

पंचविधे संसारे जातिजरामरणरोगभयप्रचुरे ।
जिनमार्गमपश्यन् जीवः परिभ्रमति चिरकालम् ॥ २४ ॥

अर्थ—यह जीव जिनमार्गकी ओर ध्यान नहीं देता है, इसलिये जन्म, बुढ़ापा, मरण, रोग और भयसे भरे हुए पांच प्रकारके संसारमें अनादि कालसे भटक रहा है ।

सव्वेपि पोग्गला खलु एगे मुत्तुज्झिया हु जीवेण ।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे ॥ २५ ॥

सर्वेऽपि पुद्गलाः खलु एकेन मुक्त्वा उज्झिताः हि जीवेन ।
असकृदनंतकृत्वः पुद्गलपरिवर्तसंसारे ॥ २५ ॥

अर्थ—इस पुद्गलपरिवर्तनरूप संसारमें एक ही जीव सम्पूर्ण पुद्गलवर्गणाओंको अनेकवार–अनन्तवार भोगता है, और छोड़ देता है । **भावार्थ**—कोई जीव जब अनंतानंत पुद्गलोंको अनंतवार ग्रहण करके छोड़ता है, तब उसका एक द्रव्यपरावर्तन होता है । इस जीवने ऐसे २ अनेक द्रव्यपरावर्तन किये हैं ।

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तण्णत्थि जण्ण उप्पण्णं ।

१ सव्वेपि इत्यादि ५ गाथाएं पूज्यपादस्वामीने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थमें उद्धृत की हैं और इन्हीकी आनुपूर्वी छाया गोमट्टसार संस्कृतटीकाकी भव्यमार्गणामें केशववर्णीने उद्धृत की है ।

उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥ २६ ॥

सर्वस्मिन् लोकक्षेत्रे क्रमशः तन्नास्ति यत्र न उत्पन्नम्।
अवगाहनेन बहुशः परिभ्रमितः क्षेत्रसंसारे ॥ २६ ॥

अर्थ—क्षेत्रपरावर्तनरूप संसारमें अनेकवार भ्रमण करता हुआ जीव तीनों लोकोंके सम्पूर्ण क्षेत्रमें ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहांपर क्रमसे अपनी अवगाहना वा परिमाणको लेकर उत्पन्न न हुआ हो। भावार्थ—लोककाशके जितने प्रदेश हैं, उन सब प्रदेशोंमें क्रमसे उत्पन्न होनेको तथा छोटेसे छोटे शरीरके प्रदेशोंसे लेकर बड़ेसे बड़े शरीरतकके प्रदेशोंको क्रमसे पूरा करनेको क्षेत्रपरावर्तन कहते हैं।

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु। जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे ॥ २७ ॥

अवसर्पिण्युत्सर्पिणीसमयावलिकासु निरवशेषासु।
जातः मृतः च बहुशः परिभ्रमन् कालसंसारे ॥ २७ ॥

अर्थ—कालपरिवर्तनरूप संसारमें भ्रमण करता हुआ जीव उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके सम्पूर्ण समयों और आवलियोंमें अनेक वार जन्म धारण करता है और मरता है। भावार्थ—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके जितने समय होते हैं, उन सारे समयोंमें क्रमसे जन्म लेने और मरनेको कालपरावर्तन कहते हैं।

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लवा (गा) दु

गेवेज्जा। मिच्छत्तसंसिदेण दु वहुसो वि भवट्ठिदी-
ब्भमिदा ॥ २८ ॥

छा० | निरयायुर्जघन्यादिषु यावत् तु उपरितना तु ग्रैवेयिकाः ।
मिथ्यात्वसंश्रितेन तु बहुशः अपि भवस्थितिः भ्रमिता ॥ २८ ॥

अर्थ—इस मिथ्यात्वसंयुक्त जीवने नरककी छोटीसे छोटी आयुसे लेकर ऊपरके ग्रैवेयिक विमान तककी आयु क्रमसे अनेक वार पाकर भ्रमण किया है। भावार्थ—नरककी कमसे कम आयुसे लेकर ग्रैवेयिक विमानकी अधिकसे अधिक आयु तकके जितने भेद हैं, उन सबका क्रमसे भोगना भवपरावर्तन कहलाता है।

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि ।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे ॥२९॥

छा० | सर्वाणि प्रकृतिस्थिती अनुभागप्रदेशबन्धस्थानानि ।
जीवः मिथ्यात्ववशात् भ्रमितः पुनः भावसंसारे ॥ २९ ॥

अर्थ—इस जीवने मिथ्यात्वके वशमें पड़कर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंधके कारणभूत जितने प्रकारके परिणाम वा भाव हैं, उन सबका अनुभव करते हुए भावपरावर्तनरूप संसारमें अनेक वार भ्रमण किया है। भावार्थ—कर्मबंधोंके करनेवाले जितने प्रकारके भाव होते हैं, उन सबको क्रमसे अनुभव करनेको भावपरावर्तन कहते हैं।

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए ।

परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥३०॥

पुत्रकलत्रनिमित्तं अर्थं अर्जयति पापबुद्ध्या ।
परिहरति दया दानं सः जीवः भ्रमति संसारे ॥ ३० ॥

अर्थ—जो जीव स्त्रीपुत्रोंके लिये नानाप्रकारकी पापबुद्धियोंसे धन कमाता है, और दया करना वा दान देना छोड़ देता है, वह संसारमें भटकता है।

मम पुत्तं मम भज्जा मम धणधण्णोत्ति तिव्वकंखाए ।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ॥ ३१

मम पुत्रो मम भार्या मम धनधान्यमिति तीव्रकांक्षया ।
त्यक्त्वा धर्मबुद्धिं पश्चात् परिपतति दीर्घसंसारे ॥ ३१ ॥

अर्थ—"यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, और यह मेरा धन धान्य है।" इस प्रकारकी गाढ़ी लालसासे जीव धर्मबुद्धिको छोड़ देता है और इसी कारण फिर सब ओरसे अनादि संसारमें पड़ता है।

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जेणभासियं धम्मं ।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे ॥३२॥

मिथ्यात्वोदयेन जीवः निंदन् जैनभाषितं धर्मम् ।
कुधर्मकुलिङ्गकुतीर्थं मन्यमानः भ्रमति संसारे ॥ ३२ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीव जिनभगवानके कहे हुए धर्मकी निंदा करता है और बुरे धर्मों, पाखंडी गुरुओं और मिथ्याशास्त्रोंको पूज्य मानता हुआ संसारमें भटकता फिरता है।

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरपाणं ।
परदव्वपरकलत्तं गहिउण य भमदि संसारे ॥३३॥

हत्वा जीवराशिं मधुमांसं सेवित्वा सुरापानम् ।
परद्रव्यपरकलत्रं गृहीत्वा च भ्रमति संसारे ॥ ३३ ॥

अर्थ—यह प्राणी जीवोंके समूहको मार करके, शहद (मधु) और मांसका सेवन करके, शराब पीके, पराया धन और पराई स्त्रीको छीन करके संसारमें भटकता है ।

जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो । मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडदि संसारे ॥ ३४ ॥

यत्नेन करोति पापं विषयनिमित्तं च अहर्निशं जीवः ।
मोहान्धकारसहितः तेन तु परिपतति संसारे ॥ ३४ ॥

अर्थ—यह जीव मोहरूपी अंधकारसे अंधा होकर रातदिन विषयोंके निमित्तसे जो पाप होते हैं, उन्हें यत्नपूर्वक करता रहता है और इसीसे संसारमें पतन करता है।

[1]**णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव ।**
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुवे सदसहस्सा ३५

नित्येतरधातुसप्त च तरुदश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव ।
सुरनिरयतिर्यक्चत्वारः चतुर्दश मनुजे शतसहस्राः ॥ ३५ ॥

अर्थ—नित्यनिगोद, इतर निगोद, और धातु अर्थात्

---

१ गोम्मटसारके जीवकांडकी ८९ नम्बरकी गाथा भी यही है । यहा क्षेपक मालूम पड़ती है ।

पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, और वायुकायकी सात सात लाख (४२ लाख), वनस्पतिकायकी दश लाख, विकलेन्द्रियकी(द्वीन्द्रिय तेइन्द्री, चौइन्द्रीकी) छह लाख, देव, नारकी और तिर्यंचोंकी चार चार लाख, और मनुष्योंकी चौदह लाख, इस तरह सब मिलाकर चौरासी लाख योनियां होती हैं।

संजोगविप्पजोगं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे[1] भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च ॥ ३६॥

संयोगविप्रयोगं लाभालाभं सुखं च दुःखं च।
संसारे भूतानां भवति हि मानं तथावमानं च ॥ ३६ ॥

अर्थ—संसारमें जितने प्राणी हैं, उन सबको मिलना, बिछुरना, नफा, टोटा, सुख, दुख, और मान तथा अपमान (तिरस्कार) निरन्तर हुआ ही करते हैं।

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकांतारे।
जीवस्स ण संसारो णिच्चयणयकम्मणिम्मुक्को ॥३७॥

कर्मनिमित्तं जीवः हिंडति संसारघोरकांतारे।
जीवस्य न संसारः निश्चयनयकर्मनिर्मुक्तः ॥ ३७ ॥

अर्थ—यद्यपि यह जीव कर्मके निमित्तसे संसाररूपी बड़े भारी वनमें भटकता रहता है परन्तु निश्चयनयसे (यथार्थमें) यह कर्मसे रहित है, और इसीलिये इसका भ्रमणरूप संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

[1] "**संसारे अभूदमाणं च**" ऐसा शंकित पाठ हमको मिला था, उसे हमने इस तरह लिखना ठीक समझा है।

संसारमदिक्कंतो जीवोवादेयमिदि विचिंतिज्जो ।
संसारदुहक्कंतो जीवो सो हेयमिदि विचिंतिज्जो ॥३८

संसारमतिक्रान्तः जीव उपादेयमिति विचिन्तनीयम् ।
संसारदुःखाक्रान्तः जीवः स हेयमिति विचिन्तनीयम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो जीव संसारसे पार हो गया है, वह तो उपादेय अर्थात् ध्यान करने योग्य है, ऐसा विचार करना चाहिये और जो संसाररूपी दुःखोंसे घिरा हुआ है, वह हेय अर्थात् ध्यानयोग्य नहीं है, ऐसा चिन्तवन करना चाहिये। भावार्थ—परमात्मा ही ध्यान करनेके योग्य है, वहिरात्मा नहीं है।

अथ लोकभावना ।

जीवादिपयट्ठाणं समवाओ सो णिरुच्चये लोगो ।
तिविहो हवेइ लोगो अहमज्झिमउड्ढभेयेण ॥ ३९॥

जीवादिपदार्थानां समवायः स निरुच्यते लोकः ।
त्रिविधः भवेत् लोकः अधोमध्यमोर्ध्वभेदेन ॥ ३९ ॥

अर्थ—जीवादि छह पदार्थोंका जो समूह है, उसे लोक कहते हैं और वह अधोलोक, मध्य लोक, और ऊर्ध्वलोकके भेदोंसे तीन प्रकारका है।

णिरया हवंति हेट्ठा मज्झे दीवंबुरासयोसंखा ।
सग्गो तिसट्ठि भेओ एत्तो उड्ढं हवे मोक्खो ॥४०॥

निरया भवंति अधस्तनाः मध्ये द्वीपाम्बुराशयः असंख्याः ।
स्वर्गः त्रिषष्ठिभेदः एतस्मात् ऊर्ध्वं भवेत् मोक्षः ॥ ४० ॥

अर्थ—नरक अधो लोकमें हैं, असंख्यात द्वीप तथा समुद्र मध्यलोकमें हैं, और त्रेसठ प्रकारके स्वर्ग तथा मोक्ष ऊर्ध्वलोकमें हैं।

ईगितीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे।
ति त्तिय एक्केकेंदियणामा उडुआदितेसट्ठी ॥ ४१ ॥

एकत्रिंशत् सप्त चत्वारि द्वौ एकैकं षट्कं चतुःकल्पे।
त्रित्रिकमेकैकेन्द्रकनामानि ऋत्वादित्रिषष्टिः ॥ ४१ ॥

अर्थ—स्वर्गलोकमें ऋतु, चंद्र, विमल, वल्गु, वीर आदि ६३ विमान इन्द्रक संज्ञाके धारण करनेवाले हैं। उनका क्रम इस प्रकार है,—सौधर्म ईशान स्वर्गके ३१, सानत्कुमार माहेन्द्रके ७, ब्रह्म ब्रह्मोत्तरके ४, लांतव कापिष्टके २, शुक्र महाशुक्रका १, शतार सहस्रारका १, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चारकल्पोंके ६, अधो मध्य और ऊर्ध्व ग्रैवेयिकके तीन तीनके हिसाबसे ९, अनुदिशका १, और अनुत्तरका १ सब मिलकर ६३।

असुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं। सुद्धेण लहइ सिद्धिं एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥ ४२ ॥

अशुभेन निरयतिर्यञ्चं शुभोपयोगेन दिविज-नरसौख्यम्।
शुद्धेन लभते सिद्धिं एवं लोकः विचिन्तनीयः ॥ ४२ ॥

---

१ त्रैलोक्यसारकी ४६३ वीं गाथा भी यही है। इससे यहां क्षेपक जान पड़ता है।

अर्थ—यह जीव अशुभ विचारोंसे नरक तथा तिर्यंच-गति पाता है, शुभविचारोंसे देवों तथा मनुष्योंके सुख भोगता है और शुद्ध विचारोंसे मोक्ष प्राप्त करता है, इस प्रकार लोक भावनाका चिन्तवन करना चाहिये।

अथ अशुचिभावना।

अट्ठीहिं पडिबद्धं मंसविलित्तं तएण ओच्छण्णं।
किमिसंकुलेहिं भरिदम, चोक्खं देहं सयाकालं ४३

अस्थिभिः प्रतिबद्धं मांसविलिप्तं त्वचया अवच्छन्नम्।
क्रिमिसंकुलैः भरितं अप्रशस्तं देहं सदाकालम्॥ ४३॥

अर्थ—हड्डियोंमे जकड़ी हुई है, मांससे लिपी हुई है, चमड़ेसे ढकी हुई है, और छोटे २ कीड़ोंके समूहसे भरी हुई है, इस तरहसे यह देह सदा ही मलीन है।

दुग्गंधं बीभत्थं कलिमल(?)भरिदं अचेयणो मुत्तं।
सडणपडणं सहावं देहं इदि चिंतये णिच्चं॥ ४४॥

दुर्गंधं बीभत्सं कलिमलभृतं अचेतनो मूर्तम्।
स्खलनपतनं स्वभावं देहं इति चिन्तयेत् नित्यम्॥ ४४॥

अर्थ—यह देह दुर्गंधमय है, डरावनी है, मलमूत्रसे भरी हुई है, जड़ है, मूर्तीक (रूप रस गंध स्पर्शवाली) है, और क्षीण होनेवाली तथा विनाशीक स्वभाववाली है; इस तरह निरन्तर इसका विचार करते रहना चाहिये।

रसरुहिरमंसमेदट्ठीमज्जसंकुलं मुत्तपूयकिमिबहुलं।
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणम्॥४५॥

रसरुधिरमांसमेदास्थिमज्जासंकुलं मूत्रपूयक्रिमिबहुलम्।
दुर्गन्धं अशुचि चर्ममयं अनित्यं अचेतनं पतनम्॥ ४५॥

अर्थ—यह देह रस, रक्त, मांस, मेदा और मज्जा (चर्बी) से भरी हुई है, मूत्र, पीब और कीड़ोंकी इसमें अधिकता है, दुर्गन्धमय है, अपवित्र है, चमड़ेसे ढकी हुई है, स्थिर नहीं है, अचेतन है और अन्तमें नष्ट हो जानेवाली है।

देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा॥४६॥

देहात् व्यतिरिक्तः कर्मविरहितः अनन्तसुखनिलयः।
प्रशस्तः भवेत् आत्मा इति नित्यं भावनां कुर्यात्॥ ४६॥

अर्थ—वास्तवमें आत्मा देहसे जुदा है, कर्मोंसे रहित है, अनन्त सुखोंका घर है, और इसलिये शुद्ध है; इसप्रकार निरन्तर ही भावना करते रहना चाहिये।

अथ आस्रवभावना।

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति।

---

१ यह गाथा हमको क्षेपक मालूम पड़ती है। क्योंकि इसमें कही हुई सब बातें ऊपरकी दो गाथाओंमें आ चुकी हैं। इसके सिवाय इसमें विशेष्यका निर्देश भी कहीं नहीं किया है। ऊपरकी गाथाओंसे मिलते जुलते आशयवाली देखकर इसे किसी लेखक वा पाठकने प्रक्षिप्त कर दी होगी, ऐसा अनुमान होता है।

पणपणचउतियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ४७।

मिथ्यात्वं अविरमणं कषाययोगाश्च आस्रवा भवन्ति ।
पञ्चपञ्चचतुःत्रिकभेदाः सम्यक् प्रकीर्तिताः समये ॥ ४७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह), कषाय, और योग (मन वचन कायकी प्रवृत्ति)रूप परिणाम आस्रव अर्थात् कर्मोंके आनेके द्वार हैं, और उनके क्रमसे पांच, पांच, चार, और तीन भेद जिनशासनमें भले प्रकार कहे हैं। भावार्थ–आत्माके मिथ्यात्वादिरूप परिणामोंका नाम आस्रव है ।

एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच ।
अविरमणं हिंसादी पंचविहो सो हवइ णियमेण ४८

एकान्तविनयविपरीतसंशयं अज्ञानं इति भवेत् पञ्च ।
अविरमणं हिंसादि पञ्चविधं तत् भवति नियमेन ॥ ४८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वके एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान ये पांच भेद हैं, तथा अविरतिके हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच भेद होते हैं । इनसे कम बढ़ नहीं होते हैं।

कोहो माणो माया लोहोवि य चउविहं कसायं खु । मणवचिकायेण पुणो जोगो तिवियप्पमिदि जाणे ॥ ४९ ॥

क्रोधः मानः माया लोभः अपि च चतुर्विधं कषायं खलु ।
मनोवचःकायेन पुनः योगः त्रिविकल्प इति जानीहि ॥४९॥

अर्थ—ऐसा जानना चाहिये कि, क्रोध, मान, माया, और लोभ, ये चार कषायके भेद हैं और मन, वचन तथा काय ये तीन योगके भेद हैं।

असुहेदरभेदेण दु एक्केकं वण्णिदं हवे दुविहं।
आहारादी सण्णा असुहमणं इदि विजाणेहि ५०

अशुभेतरभेदेन तु एकैकं वर्णितं भवेत् द्विविधम्।
आहारादिसंज्ञा अशुभमनः इति विजानीहि ॥ ५० ॥

अर्थ—मन वचन और काय ये अशुभ और शुभके भेदसे दो दो प्रकारके हैं। इनमेंसे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार प्रकारकी संज्ञाओं (वांछाओं) को अशुभमन जानना चाहिये। भावार्थ—जिस मनमें आहार आदिकी अत्यन्त लोलुपता हो, उसे अशुभमन कहते हैं।

किण्हादितिण्णि लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्धि-परिणामो। ईसाविसादभावो असुहमणंत्ति य जिणा वेंति॥ ५१ ॥

कृष्णादितिस्रः लेश्याः करणजसौख्येषु गृद्धिपरिणामः।
ईर्षाविषादभावः अशुभमन इति च जिना ब्रुवन्ति ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिसमें कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्या हों, इन्द्रियसम्बन्धी सुखोंमें जिसके लोलुपतारूप परिणाम हों, और ईर्षा (डाह) तथा विषाद (खेद) रूप जिसके भाव रहते हों, उसे भी श्रीजिनेन्द्रदेव अशुभ मन कहते हैं।

रागो दोसो मोहो हास्सादी-णोकसायपरिणामो ।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणोत्ति य जिणा वेंति ॥ ५२ ॥

रागः द्वेषः मोहः हास्यादि-नोकषायपरिणामः ।
स्थूलः वा सूक्ष्मः वा अशुभमन इति च जिनाः ब्रुवन्ति ॥५२॥

अर्थ—राग, द्वेष, मोह, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेदरूप परिणाम भी चाहे वे तीव्र हों, चाहे मन्द हों, **अशुभमन** है, ऐसा जिनदेव कहते हैं ।

भत्तिच्छिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि । बंधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ॥ ५३ ॥

भक्तस्त्रीराजचोरकथाः वचनं विजानीहि अशुभमिति ।
वन्धनछेदनमारणक्रिया सा अशुभकाय इति ॥ ५३ ॥

अर्थ—भोजनकथा, स्त्रीकथा. राजकथा, और चोरकथा करनेको **अशुभवचन** जानना चाहिये । और बाँधने, छेदने और मारनेकी क्रियाओंको **अशुभकाय** कहते हैं ।

मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं ।
वदसमिदिसीलसंजमपरिणामं सुहमणं जाणे५४॥

मुक्त्वा अशुभभावं पूर्वोक्तं निरवशेषतः द्रव्यम् ।
व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामं शुभमनः जानीहि ॥ ५४ ॥

अर्थ—पहले कहे हुए रागद्वेषादि परिणामोंको और सम्पूर्ण धनधान्यादि परिग्रहोंको छोड़कर जो व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम होते है, उन्हें शुभमन जानना चाहिये।

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं।
जिणदेवादिसु पूजा सुहकायंत्ति य हवे चेट्ठा ५५

संसारछेदकारणवचनं शुभवचनमिति जिनोद्दिष्टम्।
जिनदेवादिषु पूजा शुभकायमिति च भवेत् चेष्टा॥ ५५॥

अर्थ—जन्ममरणरूप संसारके नष्ट करनेवाले वचनोंको जिनभगवानने शुभवचन कहा है और जिनदेव, जिनगुरु, तथा जिनशास्त्रोंकी पूजारूप कायकी चेष्टाको शुभकाय कहते हैं।

जम्मसमुद्दे बहुदो(स-वीचिये)दुक्खजलचराकिण्णे
जीवस्स परिब्भमणं कम्मासवकारणं होदि॥५६॥

जन्मसमुद्रे बहुदोषवीचिके दुःखजलचराकीर्णे।
जीवस्य परिभ्रमणं कर्मास्रवकारणं भवति॥ ५६॥

अर्थ—जिसमें क्षुधा तृषादि दोषरूपी तरंगे उठती हैं और जो दुःखरूपी अनेक मच्छकच्छादि जलचरोंसे भरा हुआ है, ऐसे संसारसमुद्रमें कर्मोंके आस्रवके कारण ही जीव गोते खाता है। संसारमें भटकता फिरता है।

कम्मासवेण जीवो बूडदि संसारसागरे घोरे।
जण्णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया ५७॥

कर्मास्रवेण जीवः व्रुडति संसारसागरे घोरे ।
या ज्ञानवशा क्रिया मोक्षनिमित्तं परम्परया ॥ ५७ ॥

अर्थ—जीव इस संसाररूपी महासमुद्रमें अज्ञानके वश कर्मोंका आस्रव करके डूबता है। क्योंकि जो क्रिया ज्ञानपूर्वक होती है, वही परम्परासे मोक्षका कारण होती है। (अज्ञानवश की हुई क्रिया नहीं)।

आसवहेदू जीवो जम्मसमुद्दे णिमज्जदे खिप्पं।
आसवकिरिया तम्हा मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो ५८

आस्रवहेतोः जीवः जन्मसमुद्रे निमज्जति क्षिप्रम् ।
आस्रवक्रिया तस्मात मोक्षनिमित्तं न चिन्तनीया ॥ ५८ ॥

अर्थ—जीव आस्रवके कारण संसारसमुद्रमें शीघ्र ही गोते खाता है। इसलिये जिन क्रियाओंसे कर्मोंका आगमन होता है, वे मोक्षको ले जानेवाली नहीं हैं। ऐसा चिन्तवन करना चाहिये।

पारंपज्जाएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं।
संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण ५९॥

पारम्पर्येण तु आस्रवक्रियया नास्ति निर्वाणम् ।
संसारगमनकारणमिति निन्द्यं आस्रवो जानीहि ॥ ५९ ॥

अर्थ—कर्मोंका आस्रव करनेवाली क्रियासे परम्परासे भी निर्वाण नहीं हो सकता है। इसलिये संसारमें भटकानेवाले आस्रवको बुरा समझना चाहिये।

पुव्वुत्तासवभेयो णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स।
उहयासवणिम्मुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं ॥ ६० ॥

पूर्वोक्तास्रवभेदः निश्चयनयेन नास्ति जीवस्य ।
उभयास्रवनिर्मुक्तं आत्मानं चिन्तयेत् नित्यम् ॥ ६० ॥

अर्थ—पहले जो मिथ्यात्व अव्रत आदि आस्रवके भेद कह आये हैं, वे निश्चयनयसे जीवके नहीं होते हैं। इसलिये निरन्तर ही आत्माको द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकारके आस्रवोंसे रहित चिंतवन करना चाहिये।

अथ संवरभावना ।

चलमलिणमगाढं च वज्जिय सम्मत्तदिढकवाडेण।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं

चलमलिनमगाढं च वर्जयित्वा सम्यक्त्वदृढकपाटेन ।
मिथ्यात्वास्रवद्वारनिरोधः भवति इति जिनैः निर्दिष्टम्॥६१॥

अर्थ—जो चल, मलिन और अगाढ़ इन तीन दोषोंसे रहित है ऐसे सम्यक्त्वरूपी सघन किवाड़ोंसे मिथ्यात्वरूप आस्रवका द्वार बन्द होता है, ऐसा जिनभगवानने कहा है। **भावार्थ**—आत्माके सम्यक्त्वरूप परिणामोंसे मिथ्यात्वका आस्रव रुककर मिथ्यात्व-संवर होता है।

१ आत्माकी रागादि भावरूप प्रवृत्तिको भावास्रव कहते हैं। और उस प्रवृत्तिसे कार्माण वर्गणारूप पुद्गलस्कंधोंके आगमनको द्रव्यास्रव कहते हैं। २ देव गुरु शास्त्रोंमें अपनी बुद्धि रखनेको **चल** दोष कहते हैं, जैसे यह देव मेरा है, यह मन्दिर मेरा है, यह दूसरेका देव है, यह दूसरेका मन्दिर है। इसप्रकारके परिणामोंसे सम्यग्दर्शनमें **चल** दोष आता है। ३ सम्यक्त्वरूप परिणामोंमें सम्यक्त्वरूप मोहकी प्रकृतिके उदयसे जो मलीनता होती है, उसे **मल** दोष कहते हैं। यह सोनेमें कुछ एक मैलेपनके समान होता है। ४ श्रद्धानमें शिथिलता होनेको **अगाढ़** कहते हैं। जैसे सब तीर्थंकरोंके अनंतशक्तिके धारक होनेपर भी शान्तिनाथको शान्तिके करनेवाले और पार्श्वनाथको रक्षाके करनेवाले मानना।

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा।
कोहादिआसवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहिं(?)

पंचमहाव्रतमनसा अविरमणनिरोधनं भवेत् नियमात्।
क्रोधादिआस्रवाणां द्वाराणि कषायरहितपरिणामैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—अहिंसादि पांच महाव्रतरूप परिणामोंसे नियमपूर्वक हिंसादि पांचों अव्रतोंका आगमन रुक जाता है और क्रोधादि कषायरहित परिणामोंसे क्रोधादि आस्रवोंके द्वार बन्द हो जाते हैं। भावार्थ—पांच महाव्रतोंसे पांच पापोंका संवर होता है और कषायोंके रोकनेसे कषाय-संवर होता है।

सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि॥६३॥

शुभयोगेषु प्रवृत्तिः संवरणं करोति अशुभयोगस्य।
शुभयोगस्य निरोधः शुद्धोपयोगेन सम्भवति ॥ ६३ ॥

अर्थ—मन वचन कायकी शुभ प्रवृत्तियोंसे अशुभयोगका संवर होता है और केवल आत्माके ध्यानरूप शुद्धोपयोगसे शुभयोगका संवर होता है।

सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स।
तम्हा संवरहेदू झाणोत्ति विचिंतये णिच्चं ॥ ६४ ॥

शुद्धोपयोगेन पुनः धर्मं शुक्लं च भवति जीवस्य।
तस्मात् संवरहेतुः ध्यानमिति विचिन्तयेत् नित्यम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—इसके पश्चात् शुद्धोपयोगसे जीवके धर्मध्यान

और शुक्लध्यान होते हैं। इसलिये संवरका कारण ध्यान है, ऐसा निरन्तर विचारते रहना चाहिये। भावार्थ—उत्तम क्षमादिरूप दश धर्मोंके चिन्तवन करनेको धर्मध्यान कहते हैं और बाह्य परद्रव्योंके मिलापसे रहित केवल शुद्धात्माके ध्यानको शुक्लध्यान कहते हैं। इन दोनों ध्यानोंसे ही संवर होता है।

जीवस्स ण संवरणं परमट्ठणएण सुद्धभावादो।
संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चिंतये णिच्चं ॥ ६५ ॥

जीवस्य न संवरणं परमार्थनयेन शुद्धभावात्।
संवरभावविमुक्तं आत्मानं चिन्तयेत् नित्यम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—परन्तु शुद्ध निश्चयनयमे (वास्तवमें) जीवके संवर ही नहीं है। इसलिये संवरके विकल्पसे रहित आत्माका निरन्तर शुद्धभावसे चिन्तवन करना चाहिये। भावार्थ—आस्रव संवर आदि अवस्थायें कर्मके सम्बन्धसे होती हैं, परन्तु वास्तवमें आत्मा कर्मजंजालसे रहित शुद्धस्वरूप है।

अथ निर्जराभावना।

बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि हि जि(णवरोप)त्तम्।
जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे॥६६॥

बन्धप्रदेशगलनं निर्ज्जरणं इति हि जिनवरोपात्तम्।
येन भवेत्संवरणं तेन तु निर्ज्जरणमिति जानीहि ॥ ६६ ॥

अर्थ—कर्मबन्धके पुद्गलवर्गणारूप प्रदेशोंका जिनका कि आत्माके साथ सम्बन्ध हो जाता है, झड़ जाना ही

निर्जरा है ऐसा जिनदेवने कहा है। और जिन परिणामोंसे संवर होता है, उनसे निर्जरा भी होती है। भावार्थ—ऊपर कहे हुए जिन सम्यक्त्व महाव्रतादि परिणामोंसे संवर होता है, उनसे निर्जरा भी होती है। 'भी' कहनेका अभिप्राय यह है कि, निर्जराका मुख्य कारण तप है।

सा[1] पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चादुगदीणं पढमा वयजुत्ताणं हवे बिदिया॥६७॥

सा पुनः द्विविधा ज्ञेया स्वकालपक्का तपसा क्रियमाणा।
चातुर्गतीनां प्रथमा व्रतयुक्तानां भवेत् द्वितीया॥ ६७॥

अर्थ—ऊपर कही हुई निर्जरा दो प्रकारकी है, एक वह जो अपना काल पूर्ण करके पकती है अर्थात् जिसमें कार्माणवर्गणा अपनी स्थितिको पूरी करके झड़ जाती हैं, और दूसरी वह जो तप करनेसे होती है अर्थात् जिसमें कार्माणवर्गणा अपनी बंधकी स्थिति तपके द्वारा बीचमें ही पूरी करके—पक करके खिर जाती हैं। इनमेंसे पहली स्वकालपक्व वा सविपाक निर्जरा चारों गतिवाले जीवोंके होती है और दूसरी तपकृता वा अविपाकनिर्जरा केवल व्रतधारी श्रावक तथा मुनियोंके होती है।

अथ धर्मभावना।

एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं॥ ६८॥

---

१ स्वामिकार्तिकयानुप्रेक्षामें भी यह गाथा आई है। वहां या तो यह क्षेपक होगी या कार्तिकेयस्वामीने उसे इसीपरसे उद्धृतकरके संग्रह कर ली होगी।

एकादशदशभेदं धर्मं सम्यक्त्वपूर्वकं भणितम् ।
सागारानगाराणां उत्तमसुखसम्प्रयुक्तैः ॥ ६८ ॥

अर्थ—उत्तम सुख अर्थात् आत्मीक सुखमें लीन हुए जिनदेवने कहा है कि, श्रावकों और मुनियोंका धर्म जो कि सम्यक्त्वसहित होता है, क्रमसे ग्यारह प्रकारका और दश प्रकारका है । अर्थात् श्रावकोंका धर्म ग्यारह प्रकारका है और मुनियोंका दश प्रकारका है ।

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य ।
बम्हारंभपरिग्गहअणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥६९॥

दर्शनव्रतसामायिकप्रोषधसचित्तरात्रिभक्ते च ।
ब्रह्मारंभपरिग्रहअनुमतमुद्दिष्टं देशविरतैते ॥ ६९ ॥

अर्थ—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभक्तत्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह भेद देशव्रत अथवा श्रावकधर्मके हैं । ये भेद श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमाके नामसे प्रसिद्ध हैं ।

उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव ।
तवतागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि ॥७०॥

उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचं च संयमः चैव ।
तपस्त्यागं आकिञ्चन्यं ब्रह्म इति दशविधं भवति ॥ ७० ॥

---

१ गोमटसारके जीवकांडकी ४७७ नम्बरकी गाथा और वसुनंदिश्रावकाचारकी चौथी गाथा भी यही है । यहांपर क्षेपक मालूम पड़ती है ।

अर्थ—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, और ब्रह्मचर्य्य ये दश भेद मुनिधर्मके हैं।

कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।
ण कुणदि किंचिवि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति

क्रोधोत्पत्तेः पुनः बहिरङ्गं यदि भवेत् साक्षात्।
न करोति किञ्चिदपि क्रोधं तस्य क्षमा भवति धर्मः इति७१

अर्थ—क्रोधके उत्पन्न होनेके साक्षात् बाहिरी कारण मिलनेपर भी जो थोड़ा भी क्रोध नहीं करता है, उसके **उत्तमक्षमा** धर्म होता है।

कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।
जो णवि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स७२

कुलरूपजातिबुद्धिषु तपश्रुतशीलेषु गर्वं किञ्चित्।
यः नैव करोति समनाः मार्दवधर्मं भवेत् तस्य ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो मनस्वी पुरुष कुल[1], रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र, और शीलादिके विषयमें थोड़ासा भी घमंड नहीं करता है, उसीके **मार्दव** धर्म होता है।

मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदयेण चरदि जो

---

१ कुल और जातिमें इतना अन्तर है कि, कुल पिताके सम्बन्धसे होता है, और जाति माताके सम्बन्धसे होती है। किसी सूर्यवंशी राजाका एक पुत्र शूद्रा रानीके गर्भसे उत्पन्न हुआ हो, तो उसका कुल सूर्यवंश कहलायगा और जाति शूद्र कहलायगी।

समणो । अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण ॥ ७३ ॥

मुक्त्वा कुटिलभावं निर्मलहृदयेन चरति यः समनाः ।
आर्जवधर्मः तृतीयः तस्य तु संभवति नियमेन ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो मनस्वी (शुभविचारवाला) प्राणी कुटिलभाव वा मायाचारी परिणामोंको छोड़कर शुद्ध हृदयसे चारित्रका पालन करता है, उसके नियमसे तीसरा आर्जव नामका धर्म होता है । भावार्थ—छल कपटको छोड़कर मन वचन कायकी सरल प्रवृत्तिको आर्जव धर्म कहते हैं ।

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
जो वददि भिक्खु तुइयो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ७४

परसंतापककारणवचनं मुक्त्वा स्वपरहितवचनम् ।
यः वदति भिक्षुः तुर्यः तस्य तु धर्मः भवेत् सत्यम् ॥७४॥

अर्थ—जो मुनि दूसरेको क्लेश पहुंचानेवाले वचनोंको छोड़कर अपने और दूसरेके हित करनेवाले वचन कहता है, उसके चौथा सत्यधर्म होता है । जिस वचनके कहनेसे अपना और पराया हित होता है, तथा दूसरेको कष्ट नहीं पहुंचता है, उसे सत्य धर्म कहते हैं ।

कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो ।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सौचं ७५

कांक्षाभावनिवृत्तिं कृत्वा वैराग्यभावनायुक्तः ।
यः वर्तते परममुनिः तस्य तु धर्मः भवेत् शौचम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—जो परममुनि इच्छाओंको रोककर और वैराग्यरूप विचारोंसे युक्त होकर आचरण करता है, उसके शौचधर्म होता है। भावार्थ—लोभकषायका त्याग करके उदासीनरूप परिणाम रखनेको शौचधर्म कहते हैं।

वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ७६

व्रतसमितिपालनेन दण्डत्यागेन इन्द्रियजयेन।
परिणममानस्य पुनः संयमधर्मः भवेत् नियमात् ॥ ७६ ॥

अर्थ—व्रतों और समितियोंके पालनरूप, दंडत्याग अर्थात् मन वचन कायकी प्रवृत्तिके रोकनेरूप, और पांचों इन्द्रियोंके जीतनेरूप परिणाम जिस जीवके होते हैं, उसके संयमधर्म नियमसे होता है। सामान्यरूपसे पांचों इन्द्रियों और मनके रोकनेसे संयमधर्म होता है। व्रत समिति गुप्ति इसीके भेद हैं।

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसिज्झीए।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ७७

विषयकषायविनिग्रहभावं कृत्वा ध्यानसिद्ध्यै।
यः भावयति आत्मानं तस्य तपः भवति नियमेन ॥ ७७ ॥

अर्थ—पांचों इन्द्रियोंके विषयोंको तथा चारों कषायोंको रोककर शुभ ध्यानकी प्राप्तिके लिये जो अपनी

---

१ इसी आशयकी गाथा गोमट्टसारके जीवकांडमें भी कही है;—
वदसमिदिकसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं।
धारणपालण णिग्गह चाग जओ संजमो भणिओ॥४६५॥

आत्माका विचार करता है, उसके नियमसे तप होता है।

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवेच्चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ७८॥

निर्वेगत्रिकं भावयेत् मोहं त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु।
यः तस्य भवेत् त्यागः इति भणितं जिनवरेन्द्रैः॥ ७८॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवानने कहा है कि, जो जीव सारे परद्रव्योंसे मोह छोड़कर संसार, देह, और भोगोंसे उदासीनरूप परिणाम रखता है, उसके त्यागधर्म होता है।

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्सकिंचण्हं॥७९॥

भूत्वा च निस्सङ्गः निजभावं निग्रहीत्वा सुखदुःखदम्।
निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते अनगारः तस्याकिञ्चन्यम्॥ ७९॥

अर्थ—जो मुनि सब प्रकारके परिग्रहोंसे रहित होकर और सुख दुःखके देनेवाले कर्मजनित निजभावोंको रोककर निर्द्वन्द्वतासे अर्थात् निश्चिन्ततासे आचरण करता है, उसके आकिंचन्य धर्म होता है। भावार्थ—अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहके छोड़नेको आकिंचन्य कहते हैं।

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावम्।
सो बम्हचेरभावं सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि॥८०॥

सर्वाङ्गं पश्यन् स्त्रीणां तासु मुञ्चति दुर्भावम्।
स ब्रह्मचर्य्यभावं सुकृतीः खलु दुर्द्धरं धरति॥ ८०॥

अर्थ—जो पुण्यात्मा स्त्रियोंके सारे सुन्दर अंगोंको

देखकर उनमें रागरूप बुरे परिणाम करना छोड़ देता है, वही दुर्द्धर ब्रह्मचर्यधर्मको धारण करता है।

सावयधम्मं चत्ता जदिधम्मे जो हु वट्टए जीवो।
सो ण य वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतये णिच्चं८१

श्रावकधर्मं त्यक्त्वा यतिधर्मे यः हि वर्त्तते जीवः।
स न च वर्ज्जति मोक्षं धर्म्ममिति चिन्तयेत् नित्यम् ॥८१॥

अर्थ—जो जीव श्रावकधर्मको छोड़कर मुनियोंके धर्मका आचरण करता है, वह मोक्षको नहीं छोड़ता है। अर्थात् मोक्षको पा लेता है; इस प्रकार धर्मभावनाका सदा ही चिन्तवन करते रहना चाहिये। **भावार्थ**—यद्यपि परंपरामे श्रावकधर्म भी मोक्षका कारण है, परन्तु वास्तवमें मुनिधर्मसे ही साक्षात् मोक्ष होता है, इसलिये इसे ही धारण करनेका उपदेश दिया है।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतये णिच्चं ॥ ८२ ॥

निश्चयनयेन जीवः सागारानागारधर्मतः भिन्नः।
मध्यस्थभावनया शुद्धात्मानं चिन्तयेत् नित्यम् ॥ ८२ ॥

---

१ पहले कही हुई ६८ नम्बरकी गाथाका और इसका सम्बन्ध मिलानेसे ऐसा मालूम होता है, कि ६८ वी गाथाके पश्चात्‌की गाथा यही है, बीचमें जो गाथायें हैं, वे प्रतिमा और दशधर्मोंके प्रकरणको देखकर किसीने क्षेपकके तौरपर शामिल कर दी है। और प्रतिमाओंके तो केवल नाममात्र गिना दिये है, परन्तु धर्मोंका स्वरूप पूरा कह दिया गया है; इससे भी ये गाथायें क्षेपक मालूम होती हैं। ग्रन्थकर्त्ता तो दशधर्मोंके समान ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप भी जुदा २ कहते।

अर्थ—जीव निश्चयनयसे श्रावक और मुनिधर्मसे बिलकुल जुदा है, इसलिये रागद्वेषरहित परिणामोंसे शुद्धस्वरूप आत्माका ही सदा ध्यान करना चाहिये।

अथ बोधिदुर्लभभावना।

उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोही अच्चंतं दुलहं होदि॥ ८३॥

उत्पद्यते सद्‌ज्ञानं येन उपायेन तस्योपायस्य।
चिन्ता भवेत् बोधिः अत्यन्तं दुर्लभं भवति॥ ८३॥

अर्थ—जिस उपायसे सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति हो, उस उपायकी चिन्ता करनेको अत्यन्त दुर्लभ बोधिभावना कहते हैं। क्योंकि बोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञानका पाना बहुत ही कठिन है।

कम्मुदयजपज्जाया हेयं खाओवसमियणाणं खु।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छयदो होदि सण्णाणं॥८४॥

कर्मोदयजपर्याया हेयं क्षायोपशमिकज्ञानं खलु।
स्वकद्रव्यमुपादेयं निश्चयतः भवति सद्‌ज्ञानम्॥ ८४॥

अर्थ—अशुद्ध निश्चयनयसे क्षायोपशमिकज्ञान कर्मोंके उदयसे जो कि परद्रव्य हैं उत्पन्न होता है, इसलिये हेय अर्थात् त्यागने योग्य है और सम्यग्ज्ञान (बोधि) स्वकद्रव्य है अर्थात् आत्माका निजस्वभाव है, इसलिये उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है।

मूलुत्तरपयडीओ मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा।

परदव्वं सगदव्वं अप्पा इदि णिच्छयणएण॥८५॥

मूलोत्तरप्रकृतयः मिथ्यात्वादयः असंख्यलोकपरिमाणाः ।
परद्रव्यं स्वकद्रव्यं आत्मा इति निश्चयनयेन ॥ ८५ ॥

अर्थ—अशुद्ध निश्चयनयसे कर्मोंकी जो मिथ्यात्व आदि मूलप्रकृतियाँ वा उत्तर प्रकृतियाँ गिनतीमें असंख्यात लोकके बराबर हैं, वे परद्रव्य हैं अर्थात् आत्मासे जुदी हैं और आत्मा निज द्रव्य है ।

एवं जायदि णाणं हेयमुवादेय णिच्छये णत्थि ।
चिंतेज्जइ मुणि बोहिं संसारविरमणट्ठे य ॥ ८६ ॥

एवं जायते ज्ञानं हेयोपादेयं निश्चयेन नास्ति ।
चिन्तयेत् मुनिः बोधिं संसारविरमणार्थं च ॥ ८६ ॥

अर्थ—इस प्रकार अशुद्ध निश्चयनयसे ज्ञान हेय उपादेयरूप होता है, परन्तु पीछे उसमें (ज्ञानमें) शुद्ध निश्चयनयसे हेय और उपादेयरूप विकल्प भी नहीं रहता है । मुनिको संसारसे विरक्त होनेके लिये सम्यक्ज्ञानका (बोधि भावनाका) इसी रूपमें चिन्तवन करना चाहिये ।

बारसअणुवेक्खाओ पच्चक्खाणं तहेव पडिक्कमणं ।
आलोयणं समाही तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं॥८७॥

द्वादशानुप्रेक्षाः प्रत्याख्यानं तथैव प्रतिक्रमणम् ।
आलोचनं समाधिः तस्मात् भावयेत् अनुप्रेक्षाम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—ये बारह भावना ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना, और समाधि (ध्यान) स्वरूप हैं, इसलिये निरन्तर इन्हींका चिंतवन करना चाहिये ।

रत्तिदिवं पडिकमणं पच्चक्खाणं समाहिं सामइयं।
आलोयणं पकुव्वदि जदि विज्जदि अप्पणो सत्ती८८

रात्रिंदिवं प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं समाधिं सामयिकम् ।
आलोचनां प्रकुर्यात् यदि विद्यते आत्मनः शक्तिः ॥ ८८ ॥

अर्थ—यदि अपनी शक्ति हो, तो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक, और आलोचना रातदिन, करते रहो ।

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारअणुवेक्खं । परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥ ८९ ॥

मोक्षगता ये पुरुषा अनादिकालेन द्वादशानुप्रेक्षाम् ।
परिभाव्य सम्यक् प्रणमामि पुनः पुनः तेभ्यः ॥ ८९ ॥

अर्थ—जो पुरुष इन बारह भावनाओंका चिंतवन करके अनादि कालसे आजतक मोक्षको गये हैं, उनको मैं मनवचनकायपूर्वक बारंबार नमस्कार करता हूं ।

किं पलवियेण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सेझंति य जे (भ)विया तज्जाणह तस्स माहप्पं९०

किं प्रलपितेन बहुना ये सिद्धा नरवरा गते काले ।
सेत्स्यन्ति च ये भविकाः तद् जानीहि तस्याः माहात्म्यम्९०

अर्थ—इस विषयमें अधिक कहनेकी जरूरत नहीं है । इतना ही बहुत है कि भूतकालमें जितने श्रेष्ठपुरुष सिद्ध हुए

हैं और जो आगे होंगे वे सब इन्हीं भावनाओंका चिंतवन करके ही हुए हैं। इसे भावनाओंका ही माहात्म्य समझना चाहिये।

इदि णिच्चयववहारं जं भणियं "कुंदकुंदमुणिणाहें"।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ९१॥

इति निश्चयव्यवहारं यत् भणितं कुन्दकुन्दमुनिनाथैः।
यः भावयति शुद्धमनाः स प्राप्नोति परमनिर्वाणम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—इस प्रकार निश्चय और व्यवहार नयसे यह वारह भावनाओंका स्वरूप जो मुनियोंके स्वामी श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने कहा है, उसे जो पुरुष शुद्धचित्तसे चिंतवन करेगा, वह मोक्षको प्राप्त करेगा।
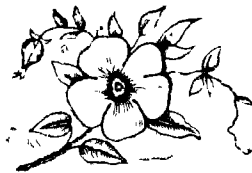
भूधरदासजीकृत बारह भावना।

दोहा।

राजा राणा छत्रपति, हाथिनके असवार।
मरना सबको एकदिन, अपनी अपनी बार॥ १॥
दलबल देई देवता, मातपिता परिवार।
मरती बिरियां जीवको, कोई न राखनहार॥ २॥
दामविना निरधन दुखी, तृष्णावश धनवान।
कहूं न सुख संसारमें, सब जग देख्यौ छान॥ ३॥
आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय।
यौं कबहू या जीवकौं, साथी सगा न कोय॥ ४॥
जहां देह अपनी नहीं, तहां न अपना कोय।
घर संपति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय॥ ५॥
दिपै चाम चादर मढ़ी, हाड़ पींजरा देह।
भीतर या सम जगतमें, और नहीं घिनगेह॥ ६॥

सोरठा।

मोहनींदके जोर, जगवासी घूमैं सदा।
कर्म चोर चहुँओर, सरवस लूटैं सुधि नहीं॥ ७॥
सतगुरु देय जगाय, मोहनींद जब उपशमै।
तब कछु बनै उपाय, कर्मचोर आवत रुकै॥ ८॥

दोहा।

ज्ञान दीप तप तेलभर, घर शोधैं भ्रम छोर।
या विधि विन निकसैं नहीं, पैठे पूरव चोर॥ ९॥
पंचमहाव्रत संचरन, समिति पंचपरकार।
प्रबल पंच इन्द्रियविजय, धार निर्जरा सार॥ १०॥
चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुषसंठान।
तामें जीव अनादितैं, भरमत हैं विन ज्ञान॥ ११॥
जाँचे सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंतारैन।
विन जाँचे विन चिंतये, धर्म सकल सुखदैन॥ १२॥
धन कन कंचन राजसुख, सबहि सुलभकर जान।
दुर्लभ है संसारमें, एक जथारथ ज्ञान॥ १३॥